विषय-सूची

खंड १—निबन्ध

खंड २—कहानी

खंड ३—एकांकी

हिन्दी गद्य संग्रह

(सम्पूर्ण पुस्तक पाठ्यक्रम में नियत है)

खंड १—निबन्ध

पाठ १

मध्यकालीन भारत में शिक्षा

[स्व० डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा]

[महामहोपाध्याय रायबहादुर डा० गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा (जन्म १८६३ ई०) यद्यपि गुजराती थे किन्तु आपने आजीवन हिन्दी की सेवा की। हिन्दी में मौलिक ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखने वालों में आप अग्रणी थे। आपका राजस्थान का इतिहास अत्यन्त प्रामाणिक समझा जाता है। अजमेर के पुरातत्व संग्रहालय (म्यूजियम) में आप बहुत दिनों तक क्यूरेटर रहे। आपका "प्राचीन लिपिमाला" शीर्षक भारतीय लिपियों का इतिहास १८९३ ई० में प्रकाशित हुआ था। इस विषय का यह अकेला प्रामाणिक ग्रंथ है। इस पर साहित्य सम्मेलन की ओर से आपको मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला था। प्रस्तुत लेख आपका "मध्यकालीन भारतीय संस्कृति" शीर्षक पुस्तक से लिया गया है। यह ग्रंथ हिन्दुस्तानी ऐकेडेमी प्रयाग के तत्वावधान में दिये गए आपके व्याख्यानों का संकलन है। इसमें आपने ६०० से १२०० ई० तक की भारतीय संस्कृति के भिन्न भिन्न पहलुओं पर खोजपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया है।]

हमारे समय के प्रारम्भ में शिक्षा का सर्व साधारण में बहुत प्रचार था। गुप्त राजाओं ने शिक्षा के प्रचार के लिए बहुत प्रयत्न किया। उस समय भारतवर्ष संसार के सब देशों में सबसे अधिक शिक्षित था। चीन, जापान और सुदूर पूर्वी देशों से पढ़ने के लिए विद्यार्थी भारत में आया करते थे। बौद्ध आचार्य तथा हिन्दू तपस्वी

और संन्यासी शिक्षा देने में विशेष भाग लेते थे। उनका प्रत्येक आराम या मठ एक एक शिक्षणालय बना हुआ था। प्रत्येक बड़े शहर में कई संघाराम होते थे। हुएन्त्संग लिखता है कि कन्नौज में ही कई हजार विद्यार्थी संघारामों में पढ़ते थे। मथुरा में २००० विद्यार्थी अध्ययन करते थे।

चीनी यात्रियों के वर्णन से पता लगता है कि भारत में ५००० मठ या विद्यालय थे, जिनमें २१२१३० विद्यार्थी पढ़ते थे। हुएन्त्संग ने भिन्न भिन्न बौद्ध सम्प्रदायों के मठों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या भी दी है। विद्वान् ब्राह्मणों के घर और जैन यतियों के उपाश्रय भी छोटी छोटी पाठशालाओं का काम देते थे। राजाओं की तरफ से भी विद्यालय स्थापित थे। इस तरह प्रायः जगह जगह संपूर्ण भारत में छोटे बड़े शिक्षणालय विद्यमान थे जिनसे शिक्षा का प्रचार बहुत होता था।

नालंद विश्वविद्यालय

केवल छोटे छोटे शिक्षणालय ही नहीं, किन्तु आजकल के विश्वविद्यालय की समता करने वाले बड़े बड़े विश्वविद्यालय भी होते थे। ऐसे विश्वविद्यालय में नालंद, तक्षशिला, विक्रमशिला, धनकट (दक्षिण में) आदि के नाम मुख्य हैं। हुएन्त्संग ने नालंद विश्वविद्यालय का विस्तृत वर्णन किया है, जिसका सारांश हम यहाँ उद्धृत करते हैं। जिससे तत्कालीन शिक्षणालयों के विषय में कुछ ज्ञान हो जाय।

प्रारम्भ में नालंद विश्वविद्यालय मगध के राजा शक्रादित्य ने बनाया था, उसके पीछे के राजाओं ने भी उसे बहुत सहायता दी। नालंद विश्वविद्यालय के अधिकार में २०० से अधिक गांव थे, जो अनेक राजाओं ने दान दिये थे। इन्हीं गांवों की आय से उसका व्यय चलता था। यहाँ १०००० विद्यार्थी और १५०० अध्यापक रहते

थे। सुदूर देशों से भी विद्यार्थी यहाँ पढ़ने के लिए आते थे। चारों ओर ऊँचे ऊँचे विहार और मठ बने हुए थे। बीच बीच में सभागृह और विद्यालय थे। उनके चारों ओर बौद्ध शिक्षकों और प्रचारकों के निवास के लिए चौमंजली इमारतें थीं। रंग बिरंगे दरवाज़ों, कड़ियां, छतों और खम्भों की सुन्दरता देखकर लोग मोहित हो जाते थे। वहाँ कई बड़े-बड़े पुस्तकालय और छः बड़े-बड़े विद्यालय थे। विद्यार्थियों से किसी प्रकार का शुल्क नहीं लिया जाता था, किन्तु उल्टे उन्हें अनेक आवश्यक वस्तु-भोजन, वस्त्र, औषधि और निवास-स्थान आदि मुफ़्त दी जाती थीं। उच्च श्रेणी के विद्यार्थियों को एक अच्छा कमरा और छोटी श्रेणी के विद्यार्थियों को साधारण कमरा दिया जाता था।

इस विश्वविद्यालय में संपूर्ण बौद्ध-साहित्य के अतिरिक्त वेद, गणित, ज्योतिष, तर्कशास्त्र (हेतुविद्या), व्याकरण, वैद्यक आदि अनेक विषयों की शिक्षा दी जाती थीं। वहाँ ग्रह, नक्षत्र आदि देखने का भी बड़ा भारी स्थान था। वहाँ की जलघड़ी मगधवासियों को समय का परिचय देती थी। उसमें प्रविष्ट होने के लिए एक परीक्षा भी देनी पड़ती थी। यह परीक्षा बहुत कठिन होती थी, जिस में बहुत से विद्यार्थी असफल होते थे। फिर भी १००० विद्यार्थियों का होना आश्चर्य की बात है। इसमें पढ़े हुए विद्यार्थी बहुत प्रामाणिक विद्वान् माने जाते थे। हर्ष ने अपनी परिषद् के उत्सव में नालंद से १००० विद्वान् बुलाए थे। मुसलमानों के समय में इस महत्वपूर्ण और उपयोगी विश्वविद्यालय का नाश हुआ।

तक्षशिला विश्वविद्यालय

भारत में तक्षशिला का विश्वविद्यालय सबसे प्राचीन था। पतंजलि, चाणक्य और जीवक यहीं के विद्यार्थी तथा अध्यापक थे। यह विश्वविद्यालय भी बहुत बड़ा था। इसमें शिक्षा प्रारम्भ करने

की आयु सोलह वर्ष की थी। प्रायः राजाओं तथा संपन्न पुरुषों के पुत्र इसमें पढ़ते थे। 'महासुत-सोमजातक' में एक आचार्य से पढ़ने वाले १००० से अधिक राजकुमारों का उल्लेख है। ग़रीब विद्यार्थी दिन में काम करते और रात को पढ़ते थे। कुछ विद्यार्थियों को विश्वविद्यालयों की ओर से भी काम दिया जाता था। कुछ विद्यार्थी पढ़ने के बाद फीस चुकाने की प्रतिज्ञा करते थे। विद्यार्थियों के जीवन और आचार पर विशेष ध्यान दिया जाता था। भिन्न-भिन्न जातकों से पता लगता है कि यहाँ अनेक विषय पढ़ाये जाते थे, जिनमें से कुछ ये हैं:—वेद, अठारह विद्याएँ (नहीं कहा जा सकता कि ये कौनसी थीं,) व्याकरण, शिल्प, धनुर्विद्या, हस्तविद्या, मन्त्र विद्या और चिकित्साशास्त्र। चिकित्सा पर विशेष ध्यान दिया जाता था। यहाँ की शिक्षा समाप्त कर चुकने पर विद्यार्थी शिल्प, व्यवसाय आदि का क्रियात्मक अनुशीलन तथा देश देशान्तर के रीति रिवाजों का अध्ययन करने के लिए भ्रमण किया करते थे। इसके कई उदाहरण भी जातकों में मिलते हैं। यह विश्वविद्यालय भी मुसलमानों के समय में नष्ट हुआ।

शिक्षा का क्रम

इत्सिंग ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ में प्राचीन शिक्षाक्रम का संक्षिप्त विवरण किया है। साधारणतः उत्कृष्ट विद्वान् होने के लिए सबसे पहले व्याकरण का विशेष अध्ययन करना पड़ता था। इत्सिंग ने व्याकरण के कई ग्रंथों का वर्णन किया है। पहले नवीन बालकों को छः वर्ष की आयु में वर्णबोध की सिद्ध रचना (सिद्धिरस्तु) पढ़ाई जाती थी। इसमें छः मास लग जाते थे। इसके बाद पाणिनि की अष्टाध्यायी रटाई जाती थी, जिसे विद्यार्थी आठ मास में कंठस्थ कर लेते थे। तदनंतर धातुपाठ, जो अनुमान १००० श्लोकों का है, पढ़ा कर दस वर्ष की अवस्था में नामों और धातुओं के रूप, उणादि सूत्र

आदि का अध्ययन कराया जाता था जो तीन वर्ष में समाप्त हो जाता था। तत्पश्चात् जयादित्य और वामन की 'काशिका वृत्ति' की अच्छी तरह शिक्षा दी जाती थी। इत्सिंग लिखता है कि भारत में अध्ययन करने के लिए आने वाले को इस व्याकरण ग्रन्थ का पहले पहल अध्ययन आवश्यक है, ऐसा न करने पर सारा परिश्रम निष्फल होगा। ये सब ग्रन्थ कंठस्थ होने चाहिए। इस वृत्ति का अध्ययन कर चुकने के पश्चात् विद्यार्थी गद्य और पद्य की रचना प्रारंभ करते थे और हेतु-विद्या तथा अभिधर्म्म कोष में लग जाते थे। 'न्याय-द्वारतारक शास्त्र' (नागर्जुन की बनाई हुई हेतु-विद्या की भूमिका) के अध्ययन से वे ठीक तौर पर अनुमान कर सकते थे और 'जातक माला' के अध्ययन से उनकी ग्रहण-शक्ति बढ़ती थी। इतना पढ़ चुकने पर विद्यार्थियों को विवाद करने की भी शिक्षा दी जाती थी, परन्तु कभी व्याकरण का अध्ययन समाप्त नहीं होता। इसके बाद महाभाष्य पढ़ाया जाता था। प्रौढ़ विद्यार्थी इसे तीन वर्ष में सीख लेता था। इसके अनंतर भर्तृहरि की 'महाभाष्य की टीका' और 'वाक्यप्रदीप' पढ़ाई जाकर उन्हें 'पेइन' (सम्भवतः संस्कृत की वेडा-वृत्ति) की शिक्षा दी जाती थी। मूल ग्रंथ भर्तृहरि ने ३००० श्लोकों में लिखा, जिसकी टीका धर्मपाल ने १४००० श्लोकों में की थी। इसके पढ़ लेने पर विद्यार्थी व्याकरण का पारंगत विद्वान् हो जाता था। हुएन्त्संग ने भी शिक्षाक्रम दिया है। व्याकरण का पंडित होने के बाद मंत्रविज्ञान, हेतुविद्या और ज्योतिष का अध्ययन कराया जाता है। इसके बाद वैद्यक की शिक्षा दी जाती है। तत्पश्चात् न्याय पढ़ाया जाता है और सबसे अंत में आध्यात्म-विद्या। यह क्रम केवल उत्कट विद्वान् बनने के लिए था। साधारण विद्यार्थी इस क्रम से अध्ययन नहीं करते थे अपना अभीष्ट विषय पढ़कर अपना सांसारिक कार्य करते थे। धर्मों की शिक्षा भी विशेष रूप से दी जाती

थी। यह आश्चर्य की बात है कि बौद्ध विश्वविद्यालय में बौद्ध धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त हिंदू धर्म के साहित्य की भी पूर्ण शिक्षा दी जाती थी।

शिक्षण-विधि भी बहुत उत्तम थी। हुएन्त्संग लिखता है कि प्रत्येक विषय के प्रकांड विद्वान् अध्यापक विद्यार्थियों के दिमाग़ में ज़बरदस्ती कोई बात प्रवेश न कर उनके मानसिक विकास की तरफ़ अधिक ध्यान देते थे। वे सुस्त विद्यार्थियों को अच्छी तरह पढ़ाते थे और मंदबुद्धि विद्यार्थियों की तीक्ष्ण बुद्धि कर देते थे।

विद्वानों में परस्पर शास्त्रार्थ की प्रथा बहुत प्रचलित थी। इससे साधारण जनता को भी बहुत लाभ पहुँचता था। वह बहुत से सिद्धान्तों से परिचित हो जाती थी।

यह शिक्षाक्रम प्रायः हमारे संपूर्ण काल तक प्रचलित रहा। थोड़ा बहुत परिवर्तन अवश्य होता रहा, परन्तु इसके मूल सिद्धान्तों में कोई परिवर्तन हुआ हो, यह मालूम नहीं होता। बड़े बड़े विश्वविद्यालयों के शिक्षाक्रम का प्रभाव सारे देश पर निश्चित रूप से पड़ता था। यहाँ यह न भूलना चाहिए कि भिन्न भिन्न दार्शनिक और धार्मिक सम्प्रदायों में यह शिक्षाक्रम उक्त रूप में नहीं था। उनकी पाठशालाओं में साधारण ज्ञान के बाद उन्हीं के धार्मिक या दार्शनिक ग्रन्थों का अध्ययन विशेष रूप से कराया जाता था, जैसा कि आजकल काशी आदि में पाया जाता है।

पाठ २

समाज और साहित्य

[स्व० डा० श्यामसुन्दरदास]

[हिन्दी की प्रसिद्ध साहित्यिक संस्था नागरी प्रचारिणी सभा के प्रधान संस्थापक रायबहादुर डा० श्यामसुन्दरदास का स्थान बीसवीं शताब्दी के हिन्दी लेखकों में असाधारण है। हिन्दी के प्रति अनुराग आपको विद्यार्थी जीवन से ही था। आजीविका के लिए आपने शिक्षा का क्षेत्र चुना था और अंत में अनेक वर्षों तक आप हिन्दू विश्वविद्यालय काशी में हिन्दी विभाग के प्रधान अध्यापक और अध्यक्ष रहे। आपकी असाधारण संगठन शक्ति के फलस्वरूप ही नागरी प्रचारिणी सभा अनेक महत्वपूर्ण कार्य कर सकी, जैसे हिन्दी हस्तलिखित पोथियों की खोज, हिन्दी के सबसे बड़े कोष 'हिन्दी शब्द सागर' का प्रकाशन, हिन्दी के अत्यन्त प्रामाणिक व्याकरण की रचना, पृथ्वीराजरासो, सूरसागर आदि अनेक महत्वपूर्ण प्राचीन ग्रंथों का संपादन, त्रैमासिक खोज सम्बंधी पत्रिका का प्रकाशन तथा हिंदी के प्रथम साहित्यिक इतिहास की रचना। इन कार्यों के लिए आप योग्य विद्वानों को चुनकर उनका सहयोग सभा को दिला सके यह आपकी ही असाधारण व्यवहार कुशलता का परिणाम था। सभा का 'आर्यभाषा पुस्तकालय' हिंदी का सबसे बड़ा पुस्तक-संग्रह है। इसका संस्थापन भी आपके ही उद्योग के फलस्वरूप हुआ।

यद्यपि कलकत्ता विश्वविद्यालय में एम० ए० तक हिंदी का प्रवेश हो चुका था किन्तु नियमित रूप से विश्वविद्यालय में हिंदी भाषा और साहित्य के पठन पाठन की पहले पहल व्यवस्था करने का श्रेय भी आप

हीं को है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आपने उच्चतम कक्षाओं के लिए अनेक पुस्तकें अंग्रेजी ग्रन्थों के आधार पर लिखी जिनमें साहित्यालोचन, रूपकरहस्य, भाषाविज्ञान तथा हिंदी भाषा और साहित्य विशेष महत्वपूर्ण हैं। आप आकर्षण तथा प्रभावशाली वक्ता भी थे। प्रस्तुत निबंध में आपने समाज और साहित्य के अन्योन्य संबंध पर प्रकाश डाला है।]

ईश्वर की सृष्टि विचित्रताओं से भरी हुई है। जितना ही इसे देखते जाइए, इसका अन्वेषण करते जाइए, इसकी छानबीन करते जाइए, उतनी ही नई शृंखलाएँ विचित्रता की मिलती जायँगी। कहाँ एक छोटा सा बीज और कहाँ उससे उत्पन्न एक विशाल वृक्ष। दोनों में कितना अन्तर और फिर दोनों का कितना घनिष्ठ सम्बन्ध। तनिक सोचिए तो सही, एक छोटे से बीज के गर्भ में क्या क्या भरा हुआ है। उस नाममात्र के पदार्थ में एक बड़े से बड़े वृक्ष को उत्पन्न करने की शक्ति है जो समय पाकर पत्र, पुष्प, फल से सम्पन्न हो वैसे ही अगणित बीज उत्पन्न करने में समर्थ होता है, जैसे बीज से उसकी स्वयं उत्पत्ति हुई थी! सब बातें विचित्र, आश्चर्यजनक और कौतूहल-वर्द्धक होने पर भी किसी शासक द्वारा निर्धारित नियमावली से बद्ध हैं। सब अपने अपने नियमानुसार उत्पन्न होते, बढ़ते, पुष्ट होते और अन्त में उस अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं जिसे हम मृत्यु कहते हैं, पर वहीं उनकी समाप्ति नहीं है, वहीं उनका अन्त नहीं है। वे सृष्टि के कार्य-साधन में निरन्तर तत्पर हैं। मरकर भी वे सृष्टि-निर्माण में योग देते हैं। यों ही वे जीते मरते चले जाते हैं। इन्हीं सब बातों की जाँच विकासवाद का विषय है। यह शास्त्र हमको इस बात की छानबीन में प्रवृत्त करता है और बतलाता है कि कैसे संसार की सब बातों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से अभिव्यक्ति हुई, कैसे क्रम क्रम से उनकी उन्नति हुई और किस प्रकार उनकी संकुलता बढ़ती गई। जैसे संसार की भूतात्मक अथवा जीवात्मक उत्पत्ति के

सम्बन्ध में विकासवाद के निश्चित नियम पूर्ण रूप से घटते हैं वैसे ही मनुष्य के सामाजिक जीवन के उन्नति-क्रम आदि को भी अपने आधीन रखते हैं। यदि हम सामाजिक जीवन के इतिहास पर ध्यान देते हैं तो हमें विदित होता है कि पहले मनुष्य असभ्य व जङ्गली अवस्था में थे। सृष्टि के आदि में सब आरंभिक जीव समान ही थे, पर सबने एकसी उन्नति न की। प्राकृतिक स्थिति के अनुकूल जिसकी जिस विषय की ओर विशेष प्रवृत्ति रही उस पर उसी की उत्तेजना का अधिक प्रभाव पड़ा। अन्त में प्रकृति देवी ने जैसा कार्य देखा वैसा ही फल भी दिया। जिसने जिस अवयव से कार्य लिया उसके उसी अवयव की पुष्टि और वृद्धि हुई। सारांश यह है कि आवश्यकतानुसार उनके रहन-सहन, भाव-विचार सब में परिवर्तन हो चला। जो सामाजिक जीवन पहले था वह अब न रहा। अब उसका रूप ही बदल गया। अब नये विधान आ उपस्थित हुए। नई आवश्यकताओं ने नई चीजों के बनाने के उपाय निकाले। जब किसी चीज की आवश्यकता आ उपस्थित होती है तब मस्तिष्क को उस कठिनता को हल करने के लिये कष्ट देना पड़ता है। इस प्रकार सामाजिक जीवन में परिवर्तन के साथ ही साथ मस्तिष्क शक्ति का विकास होने लगा। सामाजिक जीवन में परिवर्तन का दूसरा नाम असभ्यावस्था से सभ्यावस्था को प्राप्त होना है। अर्थात् ज्यों ज्यों सामाजिक जीवन का विकास, विस्तार और उसकी संकुलता होती गई त्यों त्यों सभ्यता देवी का साम्राज्य स्थापित होता गया। सभ्यावस्था सामाजिक जीवन में उस स्थिति का नाम है जब मनुष्य को अपने सुख और चैन के साथ साथ दूसरों के स्वत्वों और अधिकारों का भी ज्ञान हो जाता है। यह भाव जिस जाति में जितना ही अधिक पाया जाता है, उतनी ही अधिक वह जाति सभ्य समझी जाती है। इस अवस्था की प्राप्ति बिना मस्तिष्क के विकास के नहीं हो सकती, अथवा यह

कहना चाहिये कि सभ्यता की उन्नति और मस्तिष्क का विकास साथ ही साथ होते हैं। एक दूसरे का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। एक का दूसरे के विना आगे जाना या पीछे पड़ जाना असंभव है। मस्तिष्क के विकास में साहित्य का स्थान बड़े महत्त्व का है।

जैसे भौतिक शरीर की स्थिति और उन्नति बाह्य पंचभूतों के कार्यरूप प्रकाश, वायु, जलादि की उपयुक्तता पर निर्भर है, वैसे ही समाज के मस्तिष्क का बनना बिगड़ना साहित्य की अनुकूलता पर अवलंबित है, अर्थात् मस्तिष्क के विकास और वृद्धि का मुख्य साधन साहित्य है।

सामाजिक मस्तिष्क अपने पोषण के लिए जो भाव-सामग्री निकालकर समाज को सौंपता है उसके संचित भंडार का नाम साहित्य है। अतः किसी जाति के साहित्य को हम उस जाति की सामाजिक शक्ति या उसका सभ्यतानिर्देशक कह सकते हैं। वह उसका प्रतिरूप, प्रतिच्छाया या प्रतिबिंब कहला सकता है। जैसी उसकी सामाजिक अवस्था होगी वैसा ही उसका साहित्य होगा। किसी जाति के साहित्य को देखकर हम यह स्पष्ट बता सकते हैं कि उसकी सामाजिक अवस्था कैसी है, वह सभ्यता की सीढ़ी के किस डंडे तक चढ़ सकी है। साहित्य का मुख्य उद्देश्य विचारों के विधान तथा घटनाओं की स्मृति को संरक्षित रखना है। पहले पहल अद्भुत बातों के देखने से जो मनोविकार उत्पन्न होते हैं उन्हें वाणी द्वारा प्रदर्शित करने की स्फूर्ति होती है। धीरे धीरे युद्धों के वर्णन अद्भुत घटनाओं के उल्लेख और कर्मकांड के विधानों तथा नियमों के निर्धारण में वाणी का विशेष स्थायी रूप में उपयोग होने लगता है। इस प्रकार वह सामाजिक जीवन का एक प्रधान अंग हो जाती है। एक विचार को सुन या पढ़कर दूसरे विचार उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार विचारों की एक श्रृङ्खला हो जाती है जिससे साहित्य के विशेष अंगों की

सृष्टि होती है। मस्तिष्क को क्रियमाण रखने तथा उसके विकास और वृद्धि में सहायता पहुँचाने के लिए साहित्य रूपी भोजन की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार का यह भोजन होगा वैसी ही मस्तिष्क की स्थिति होगी। जैसे शरीर की स्थिति और वृद्धि के लिये अनुकूल आहार की अपेक्षा होती है, उसी प्रकार मस्तिष्क के विकास के लिए साहित्य का प्रयोजन होता है। मनुष्यों के विचारों में प्राकृतिक अवस्था का बहुत भारी प्रभाव पड़ता है। शीत-प्रधान देशों में अपने को जीवित रखने के लिये निरन्तर परिश्रम करने की आवश्यकता रहती है। ऐसे देशों में रहने वाले मनुष्यों का सारा समय अपनी रक्षा के उपायों को सोचने और उन्हीं का अवलंबन करने में बीत जाता है। अतएव क्रम क्रम से उन्हें सांसारिक बातों से अधिक ममता हो जाती है, और वे अपने जीवन का उद्देश्य सांसारिक वैभव प्राप्त करना ही मानने लगते हैं। जहाँ इसके प्रतिकूल अवस्था है वहाँ आलस्य का प्राबल्य होता है। जब प्रकृति ने खाने, पीने, पहनने, ओढ़ने का सब सामान प्रस्तुत कर दिया तब फिर उसकी चिंता ही कहाँ रह जाती है। भारत-भूमि को प्रकृति देवी का प्रिय और प्रकांड क्रीड़ाक्षेत्र समझना चाहिए। यहाँ सब ऋतुओं का आवागमन होता रहता है। जल की यहाँ प्रचुरता है। भूमि भी इतनी उर्वरा है कि सब कुछ खाद्य पदार्थ यहाँ उत्पन्न हो सकते हैं। फिर इनकी चिंता यहाँ के निवासी कैसे कर सकते हैं? इस अवस्था में या तो सांसारिक बातों से जीव जीवात्मा और परमात्मा की ओर लग जाता है अथवा विलासप्रियता में फँस कर इंद्रियों का शिकार बन बैठता है। यही मुख्य कारण है कि यहाँ का साहित्य धार्मिक विचारों या शृङ्गार रस के काव्यों से भरा हुआ है। अस्तु इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि सामाजिक स्थिति के विकास में साहित्य का प्रधान योग रहता है।

यदि संसार के इतिहास की ओर हम ध्यान देते हैं तो हमें यह भली भांति विदित होता है कि साहित्य ने मनुष्यों की सामाजिक स्थिति में कैसा परिवर्तन कर दिया है। पाश्चात्य देशों में एक समय धर्म-सम्बन्धी शक्ति पोप के हाथ में आ गई थी। माध्यमिक काल में इस शक्ति का बड़ा दुरुपयोग होने लगा, अतएव जब पुनरुत्थान ने वर्तमान काल का सूत्रपात किया, यूरोपीय मस्तिष्क स्वतन्त्रतादेवी की आराधना में रत हुआ, तब पहला काम जो उसने किया वह धर्म विरुद्ध विद्रोह खड़ा करना था। इसका परिणाम यह हुआ कि यूरोपीय कार्यक्षेत्र से धर्म का प्रभाव हटा और व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य की लालसा बढ़ी। यह कौन नहीं जानता कि फ्रांस की राज्य-क्रांति का सूत्रपात रूसो और वालटेयर के लेखों ने किया और इटली के पुनरुत्थान का बीज मैजिनी के लेखों ने बोया। भारतवर्ष में भी साहित्य का प्रभाव इसकी अवस्था पर कम नहीं पड़ा। यहाँ की प्राकृतिक अवस्था के कारण सांसारिक चिन्ता ने लोगों को अधिक न ग्रसा। उनका विशेष ध्यान धर्म की ओर रहा। जब तक उसमें अवस्था और अनीति की वृद्धि हुई। नए विचारों, नई संस्थाओं की सृष्टि हुई। बौद्ध धर्म और आर्यसमाज का प्राबल्य और प्रचार ऐसी ही स्थिति के बीच हुआ। इसलाम और हिन्दू धर्म जब परस्पर पड़ौसी हुए तब दोनों में से कूपमंडूकता का भाव निकालने के लिए कबीर, नानक आदि का प्रादुर्भाव हुआ। अतः यह स्पष्ट है कि मानव-जीवन की सामाजिक उन्नति में साहित्य का स्थान बड़े गौरव का है।

अब यह प्रश्न उठता है कि जिस साहित्य के प्रभाव से संसार में इतने उलट-फेर हुए हैं, जिसने यूरोप के गौरव को बढ़ाया, जो मनुष्य समाज का हितविधायक मित्र है, वह क्या हमें राष्ट्र-निर्माण में सहायता नहीं दे सकता? क्या हमारे देश की उन्नति करने में हमारा पथ-प्रदर्शक नहीं हो सकता? हो अवश्य सकता है यदि हम लोग

जीवन के व्यवहार में उसे अपने साथ साथ लेते चलें, उसे पीछे न छूटने दें। यदि हमारे जीवन का प्रवाह दूसरी ओर है तब हमारा उनका प्रकृति-संयोग ही नहीं हो सकता।

अब तक वह जो हमारा सहायक नहीं हो सका है इसके दो मुख्य कारण हैं। एक तो इस विस्तृत देश की स्थिति एकान्त रही है और दूसरे इनके प्राकृतिक विभव का वारापार नहीं है। इन्हीं कारणों से इसमें संघ-शक्ति का संचार जैसा चाहिये वैसा नहीं हो सका और यह अब तक आलसी तथा सुख लोलुप बना हुआ है। परन्तु अब इन अवस्थाओं में परिवर्तन हो चला है। इसके विस्तार की दुर्गमता और स्थिति की एकांतता को आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों ने एक प्रकार से निर्मल कर दिया है और प्राकृतिक वैभव का लाभालाभ बहुत कुछ तीव्र जीवन-संग्राम की सामर्थ्य पर निर्भर है। यह जीवन-संग्राम दो भिन्न सभ्यताओं के संघर्षण से और भी तीव्र और दुःख मय प्रतीत होने लगा है। इस अवस्था के अनुकूल ही जब साहित्य उत्पन्न होकर समाज के मस्तिष्क को प्रोत्साहित, प्रतिक्रियमाण करेगी तभी वास्तविक उन्नति के लक्षण देख पड़ेंगे और उसका कल्याण-कारी फल देश को आधुनिक काल का गौरव प्रदान करेगा।

अब विचारणीय बात है कि वह साहित्य किस प्रकार का होना चाहिये जिससे कथित उद्देश्य की सिद्धि हो सके। मेरे विचार के अनुसार इस समय हमें विशेष कर ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो मनोवेगों का परिष्कार करने वाला, संजीवनी शक्ति का संचार करने वाला, चरित्रों को सुन्दर सांचे में ढालने वाला तथा बुद्धि को तीव्रता प्रदान करने वाला हो। साथ ही इस बात की भी आवश्यकता है कि यह साहित्य परिमार्जित, सरस और ओजस्विनी भाषा में तैयार किया जाय। इसको लोग स्वीकार करेंगे कि ऐसे साहित्य का हमारी हिन्दी-भाषा में अभी तक बड़ा अभाव है। पर शुभ-लक्षण चारों

ओर देखने में आ रहे हैं। यह दृढ़ आशा होती है कि थोड़े ही दिनों में उसका उदय दिखाई पड़ेगा जिससे जन-समुदाय की आँखें खुलेंगी और भारतीय जीवन का प्रत्येक विभाग ज्ञान की ज्योति से जगमगा उठेगा?

मैं थोड़ी देर के लिए आपका ध्यान हिन्दी के गद्य और पद्य की ओर दिलाना चाहता हूँ। यद्यपि भाषा के दोनों अगों की पुष्टि का प्रयत्न हो रहा है पर दोनों की गति समान रूप से व्यस्थित नहीं दिखाई देती। गद्य का रूप अब एक प्रकार से स्थिर हो चुका है। उसमें जो कुछ व्यतिक्रम या व्याघात दिखाई पड़ जाता है वह अधिकांश अवस्थाओं में मतभेद के कारण नहीं बल्कि अनभिज्ञता के कारण होता है। ये व्याघात वा व्यतिक्रम प्रांतिक शब्दों के प्रयोग, व्याकरण के नियमों के उल्लंघन आदि के रूप में ही अधिकतर दिखाई पड़ते हैं। इनके लिये कोई मत-सम्बन्धी विवाद नहीं उठ सकता। इनके निवारण के लिये केवल समालोचकों की तत्परता और सहयोगिता की आवश्यकता है। इस कार्य में केवल व्यक्तिगत कारणों से समालोचकों को दो पक्षों में नहीं बाँटना चाहिए।

गद्य के विषय में इतना कह चुकने पर उसके आदर्श पर थोड़ा विचार कर लेना भी आवश्यक जान पड़ता है। इसमें कोई मतभेद नहीं कि जो हिन्दी गद्य के लिये ग्रहण की गई है वह दिल्ली और मेरठ प्रांत की है।

यद्यपि हमारे गद्य की भाषा मेरठ और दिल्ली के प्रांत की है पर साहित्य की भाषा हो जाने के कारण उसका विस्तार और प्रांतों में भी हो गया अतः वह उन प्रांतों के शब्दों का भी अभाव-पूर्ति के निमित्त, अपने में समावेश करेगी। यदि उसके जन्मस्थान में किसी वस्तु का भाव व्यंजित करने के लिए कोई शब्द नहीं है तो वह दूसरे प्रांत से, जहाँ उसका शिष्ट समाज या साहित्य में प्रवेश है, शब्द ले

सकती है। पर यह बात ध्यान रखने की है कि यह केवल अन्य स्थानों के शब्द-मात्र अपने में मिला सकती है, प्रत्यय आदि नहीं ग्रहण कर सकती।

अब पद्य की शैली पर भी कुछ ध्यान देना चाहिए। भाषा का उद्देश्य यह है कि एक का भाव दूसरा ग्रहण करके अपने अन्तःकरण में भावों की अनेकरूपता का विकास करे।

ये भाव साधारण भी होते हैं और जटिल भी। अतः जो लेख साधारण भावों को प्रकट करता है। साधारण ही कहलायेगा, चाहे उसमें सारे संस्कृत को ढूँढ ढूँढ शब्द रखे गये हों और चार चार अंगुल में समास बिछाए गए हों, पर जो लेख ऐसे जटिल भावों को प्रकट करेंगे, जो अपरिचित होने के कारण अन्तःकरण में जल्दी न धसेंगे वे उच्च कहलायेंगे, चाहे उनमें बोलचाल के साधारण शब्द ही क्यों न भरे हों। ऐसे ही लेख जो नये नये भावों का विकास करने में समर्थ हों, जो जीवन-क्रम को उलटने-पलटने की क्षमता रखते हों, सच्चा साहित्य कहला सकते हैं। अतः लेखकों को अब इस युग में बाण और दंडी होने की आकांक्षा उतनी न करनी चाहिये जितनी वाल्मीकि और व्यास होने की, वर्क, कारलाइल और रस्किन होने की।

कविता का प्रवाह आजकल दो मुख्य धाराओं में विभक्त हो गया है। खड़ी बोली कविता का आरम्भ थोड़े ही दिनों से हुआ है, अतः अभी उसमें उतनी शक्ति और सरसता नहीं आई है, पर आशा है कि उचित पथ के अवलम्बन द्वारा वह धीरे धीरे आ जायगी। खड़ी बोली में जो अधिकांश कवितायें और पुस्तकें लिखी जाती हैं। वे इस बात का ध्यान रख कर नहीं लिखी जातीं कि कविता की भाषा और गद्य की भाषा में भेद होता है। कविता की शब्दावली कुछ विशेष ढंग की होती है। उसके वाक्यों का रूप-रंग कुछ निराला-

है। किसी साधारण गद्य को नाना छंदों में ढाल देने से ही उसे काव्य का रूप नहीं प्राप्त हो जायगा। अतः कविता की जो सरस और मधुर शब्दावली ब्रजभाषा में चली आ रही है उसका बहुत कुछ अंश खड़ी बोली में रखना पड़ेगा। भाव-वैलक्षण्य के सम्बन्ध से जो बातें गद्य के प्रसंग में कही जा चुकी हैं वे कविता के विषय में भी ठीक घटती हैं। बिना भाव की कविता ही क्या ? खड़ी बोली की कविता के प्रचार के साथ काव्यक्षेत्र में जो अनधिकार प्रवेश की प्रवृत्ति अधिक हो रही है वह ठीक नहीं। कविता का अभ्यास आरम्भ करने के पहले अपनी भाषा के बहुत से नये पुराने काव्यों की शैली का मनन करना, रीति ग्रन्थों का देखना, रस अलंकार आदि से परिचित होना आवश्यक है।

पाठ ३

क्रोध

[स्व० श्री रामचन्द्र शुक्ल]

[स्व० श्री रामचन्द्र शुक्ल (१८८४-१९४०) को हिन्दी अनुराग बचपन से था। कुछ प्रतिकूल परिस्थितियों के फल स्वरूप उन्हें इन्टर-मीडियेट से ही पढ़ाई छोड़ देनी पड़ी थी और सरकारी नौकरी करनी पड़ी थी किन्तु यह वातावरण इनकी प्रकृति के अनुकूल नहीं था। सरकारी नौकरी से त्यागपत्र देकर ये मिर्जापुर के मिशन स्कूल में ड्रायंग मास्टर हो गये थे। और यहाँ ही से इनके साहित्यिक जीवन का प्रारंभ हुआ। इनकी योग्यता से प्रभावित होकर नागरी प्रचारिणी सभा के संस्थापक डा० श्यामसुंदर दास ने "हिन्दी शब्द सागर" के संपादन के लिए उन्हें काशी बुला लिया इनकी योग्यता से धीरे धीरे हिन्दी संसार प्रभावित होने लगा और अनुकूल साहित्यिक वातावरण पाकर इनकी प्रतिभा का भी विकास हुआ। कोष का कार्य समाप्त हो जाने पर ये हिन्दू विश्वविद्यालय काशी में हिन्दी विभाग में अध्यापक हो गए थे और अंतिम दिनों तक इसी पद पर आसीन रहे।

शुक्ल जी का प्रधान साहित्यिक कार्य समालोचना तथा गद्य के क्षेत्र में था। उनकी जायसी, तुलसीदास तथा सूरदास पर लिखी हुई आलो-चनाएँ आज भी प्रामाणिक मानी जाती हैं। आपका हिन्दी साहित्य का इतिहास इस विषय का प्रथम ग्रंथ था किन्तु अभी भी इससे अधिक प्रामाणिक पूर्ण इतिहास-ग्रंथ नहीं लिखा जासका है। अधिकांश हिन्दी साहित्य के इतिहासों का मूलाधार शुक्लजी का ही ग्रंथ है। उनके निबंध

"चिन्तामणि" नाम से दो भागों में प्रकाशित हुए हैं। शुक्लजी हिन्दी के श्रेष्ठतम निबंध लेखक थे। प्रस्तुत निबंध 'चिन्तामणि' से ही लिया गया है और उसमें एक मनोवेग का साहित्यिक, साथ ही वैज्ञानिक, अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।]

क्रोध दुःख के कारण के साक्षात्कार वा अनुमान से उत्पन्न होता है। साक्षात्कार के समय दुःख और उसके कारण के संबंध का परिज्ञान आवश्यक है। जैसे तीन-चार महीने के बच्चे को कोई हाथ उठाकर मार दे तो उसने हाथ उठाते तो देखा है पर अपनी पीड़ा और उस हाथ उठाने से क्या सम्बन्ध है यह वह नहीं जानता है। अतः वह केवल रोकर अपना दुःख मात्र प्रकट कर देता है। दुःख के कारण के साक्षात्कार के निश्चय के बिना क्रोध का उदय नहीं हो सकता। दुःख के सज्ञान हेतु पर प्रबल प्रभाव डालने में प्रवृत्त करने की मानसिक क्रिया होने के कारण क्रोध का आविर्भाव बहुत पहले देखा जाता है। शिशु अपनी माता की आकृति से अभ्यस्त हो ज्योंही यह जान जाता है कि दूध इसी से मिलता है, भूखा होने पर वह उसकी आहट पा रोने में कुछ क्रोध के चिन्ह दिखलाने लगता है।

सामाजिक जीवन के लिये क्रोध की बड़ी आवश्यकता है। यदि क्रोध न हो तो जीव बहुत से दुःखों की चिर-निवृत्ति के लिये यत्न ही न करे। कोई मनुष्य किसी दुष्ट के नित्य प्रहार सहता है। यदि उसमें क्रोध का विकास नहीं हुआ है तो वह केवल 'आह ऊह' करेगा जिसका उस दुष्ट पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उस दुष्ट के हृदय में दया आदि उत्पन्न करने में बड़ी देर लगेगी। प्रकृति किसी को इतना समय ऐसे छोटे छोटे कामों के लिये नहीं दे सकती। भय के द्वारा भी प्राणी अपनी रक्षा करता है पर समाज में इस प्रकार की दुःख-निवृत्ति चिरस्थायिनी नहीं होती। मेरे कहने का यह अभिप्राय नहीं कि क्रोध के समय क्रोधकर्ता के हृदय में भावी दुःख से

बचने वा बचाने की इच्छा रहती है बल्कि चेतन प्रकृति के भीतर क्रोध इसीलिये है।

ऊपर कहा जा चुका है कि क्रोध दुःख के कारण के परिज्ञान वा साक्षात्कार से होता है। अतः एक तो जहाँ इस ज्ञान में त्रुटि हुई वहाँ क्रोध धोखा देता है। दूसरी बात यह है कि क्रोध जिस ओर से दुःख आता है उसी ओर देखता है, अपने धारणकर्ता की ओर नहीं। जिससे दुःख पहुँचा है वा पहुँचेगा उसका नाश हो वा उसे दुःख पहुँचे यही क्रोध का लक्ष्य है, क्रोध करनेवाले का फिर क्या होगा इससे उसे कुछ सरोकार नहीं। इसी से एक तो मनोवेग ही एक दूसरे को परिमित किया करते हैं, दूसरे विचारशक्ति भी उन पर अंकुश रखती है। यदि क्रोध इतना उग्र हुआ कि हृदय में दुःख के कारण की अवरोध-शक्ति के रूप और परिमाण के निश्चय, दया, भय आदि और विकारों के संचार तथा उचित अनुचित के विचार के लिये जगह ही न रही तो बहुत हानि पहुँच जाती है। जैसे कोई सुने कि उसका शत्रु बीस आदमी लेकर उसे मारने आ रहा है और वह चट क्रोध से व्याकुल होकर बिना शत्रु की शक्ति का विचार वा भय किए उसे मारने के लिये अकेला दौड़े तो उसके मारे जाने में बहुत कम सन्देह है। अतः कारण के यथार्थ निश्चय के उपरान्त आवश्यक मात्रा में और उपयुक्त स्थिति में भी क्रोध वह काम दे सकता है जिसके लिये उसका विकास होता है।

कभी कभी लोग अपने कुटुंबियों वा स्नेहियों से झगड़कर उन्हें पीछे से दुःख पहुँचाने के लिये अपना सिर तक पटक देते हैं। यह सिर पटकना अपने को दुःख पहुँचाने के अभिप्राय से नहीं होता क्योंकि बिलकुल बेगानों के साथ कोई ऐसा नहीं करता। जब किसी को क्रोध में सिर पटकते देखे तब समझ लेना चाहिए कि उसका क्रोध ऐसे व्यक्ति के ऊपर है जिसे उसके सिर पटकने की परवा है

अर्थात् जिसे उसके सिर फूटने से यदि उस समय से नहीं तो आगे चलकर दुःख पहुँचेगा।

क्रोध का वेग इतना प्रबल होता है कि कभी मनुष्य यह विचार नहीं करता कि जिसने दुःख पहुँचाया है उसमें दुःख पहुँचाने की इच्छा थी या नहीं। इसी से कभी तो वह अचानक पैर कुचल जाने पर किसी को मार बैठता है और कभी ठोकर खाकर कंकड़-पत्थर तोड़ने लगता है। चाणक्य ब्राह्मण अपना विवाह करने जाता था। मार्ग में उसके पैर में कुश चुभे। वह चट मट्ठा और कुदाली लेकर पहुँचा और कुशों को उखाड़ उखाड़कर उनकी जड़ों में मट्ठा देने लगा। मैंने देखा कि एक ब्राह्मण देवता चूल्हा फूँकते फूँकते थक गए। जब आग नहीं जली तब उस पर कोप करके चूल्हे में पानी डाल किनारे हो गए। इस प्रकार का क्रोध असंस्कृत है। यात्रियों ने बहुत से ऐसे जंगलियों का हाल लिखा है जो रास्ते में पत्थर की ठोकर लगने पर बिना उसको चूर चूर किए आगे नहीं बढ़ते। इस प्रकार का क्रोध अपने दूसरे भाइयों के स्थान को दबाए हुए है। अधिक अभ्यास के कारण यदि कोई मनोवेग अधिक प्रबल पड़ गया तो वह अंतःकरण में अव्यवस्था उत्पन्न कर मनुष्य को फिर बचपन से मिलती-जुलती अवस्था में ले जाकर पटक देता है।

जिससे एक बार दुःख पहुँचा, पर उसके दोहराए जाने की संभावना कुछ भी नहीं ह उसको जो कष्ट पहुँचाया जाता है वह प्रतिकार कहलाता है। एक दूसरे से अपरिचित दो आदमी रेल पर चले जाते हैं। इनमें से एक को आगे ही के स्टेशन पर उतरना है। स्टेशन तक पहुँचते पहुँचते बात ही बात में एक दूसरे को तमाचा जड़ दिया और उतरने की तैयारी करने लगा। अब दूसरा मनुष्य भी यदि उतरते उतरते उसको तमाचा लगा दे तो यह उसका प्रतिकार वा बदला कहा जायगा क्योंकि उसे फिर उसी व्यक्ति से तमाचे खाने

की संभावना का कुछ भी निश्चय नहीं था। जहाँ और दुःख पहुँचने की कुछ भी संभावना होगी वहाँ शुद्ध प्रतिकार नहीं होगा। हमारा पड़ोसी कई दिनों से नित्य आकर हमें दो-चार टेढ़ी-सीधी सुना जाता है। यदि हम उसको एक दिन पकड़कर पीट दें तो हमारा यह कर्म्म शुद्ध प्रतिकार नहीं कहलाएगा क्योंकि नित्य गाली सुनने के दुःख से बचने के परिणाम की ओर भी हमारी दृष्टि रही। इन दोनों अवस्थाओं को ध्यानपूर्वक देखने से पता लगेगा कि दुःख से उद्विग्न होकर दुःख दाता को कष्ट पहुँचाने की प्रवृत्ति दोनों में है। पर एक में वह परिणाम आदि के विचार को बिलकुल छोड़े हुए है और दूसरे में कुछ लिए हुए। इनमें से पहले प्रकार का क्रोध निष्फल समझा जाता है। पर थोड़े धैर्य्य के साथ सोचने से जान पड़ेगा कि इस प्रकार के क्रोध से स्वार्थसाधन तो नहीं होता पर परोक्ष रूप में कुछ लोकहित-साधन अवश्य हो जाता है। दुःख पहुँचानेवाले से हमें फिर दुःख पहुँचने का डर न सही पर समाज को तो है। इससे उसे उचित दंड दे देने से पहले तो उसकी शिक्षा वा भलाई हो जाती है, फिर समाज के और लोगों का भी बचाव हो जाता है। क्रोधकर्त्ता की दृष्टि तो इन परिणामों की ओर नहीं रहती है पर सृष्टि-विधान में इस प्रकार के क्रोध की नियुक्ति इन्हीं परिणामों के लिये है।

क्रोध सब मनोविकारों से फुरतीला है इसी से अवसर पड़ने पर यह और दूसरे मनोविकारों का भी साथ देकर उनकी सहायता करता है। कभी वह दया के साथ कूदता है, कभी घृणा के। एक क्रूर कुमार्गी किसी अनाथ अबला पर अत्याचार कर रहा है। हमारे हृदय में उस अनाथ अबला के प्रति दया उमड़ रही है। पर दया की पहुँच तो आर्त ही तक है। यदि वह स्त्री भूखी होती तो हम उसे कुछ रुपया-पैसा देकर अपने दया के वेग को शांत कर लेते। पर यहाँ तो उस दुःख का हेतु मूर्त्तिमान् तथा अपने विरुद्ध प्रयत्नों को ज्ञानपूर्वक

व्यर्थ करने की शक्ति रखनेवाला है। ऐसी अवस्था में क्रोध ही उस अत्याचारी के दमन के लिये उत्तेजित करता है जिसके बिना हमारी दया ही व्यर्थ जाती है। क्रोध अपनी इस सहायता के बदले में दया की वाहवाही को नहीं बँटाता। काम क्रोध करता है पर नाम दया का ही होता है। लोग यही कहते हैं "उसने दया करके बचा लिया"; यह कोई नहीं कहता कि "क्रोध करके बचा लिया"। ऐसे अवसरों पर यदि क्रोध दया का साथ न दे तो दया अपने अनुकूल परिणाम उपस्थित ही नहीं कर सकती। एक अघोरी हमारे सामने मक्खियाँ मार मारकर खा रहा है और हमें घिन लग रही है। हम उससे नम्रतापूर्वक हटने के लिये कह रहे हैं और वह नहीं सुन रहा है। चट हमें क्रोध आ जाता है और हम उसे बलात् हटाने में प्रवृत्त हो जाते हैं।

क्रोध के निरोध का उपदेश अर्थपरायण और धर्मपरायण दोनों देते हैं। पर दोनों में जिसे अति से अधिक सावधान रहना चाहिए वही कुछ भी नहीं रहता। बाकी रुपया वसूल करने का ढंग बतानेवाला चाहे कड़े पड़ने की शिक्षा दे भी दे पर धज के साथ धर्म की ध्वजा लेकर चलनेवाला धोखे में भी क्रोध को पाप का बाप ही कहेगा। क्रोध रोकने का अभ्यास ठगों और स्वार्थियों को सिद्धों और साधकों से कम नहीं होता। जिससे कुछ स्वार्थ निकालना रहता है; जिसे बातों में फँसाकर ठगना रहता है उसकी कठोर से कठोर और अनुचित से अनुचित बातों पर न जाने कितने लोग जरा भी क्रोध नहीं करते। पर उनका यह अक्रोध न धर्म का लक्षण है न साधन।

वैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है। जिससे हमें दुःख पहुँचा है उस पर हमने जो क्रोध किया वह यदि हमारे हृदय में बहुत दिनों तक टिका रहा तो वह वैर कहलाता है। इस स्थायी रूप में टिक जाने के कारण क्रोध की क्षिप्रता और हड़बड़ी तो कम हो जाती है

पर वह और धैर्य्य, विचार और युक्ति के साथ लक्ष्य को पीड़ित करने की प्रेरणा बराबर बहुत काल तक किया करता है। क्रोध अपना बचाव करते हुए शत्रु को पीड़ित करने की युक्ति आदि सोचने का समय नहीं देता पर वैर इसके लिये बहुत समय देता है। वास्तव में क्रोध और वैर में केवल कालभेद है। दुःख पहुँचने के साथ ही दुःखदाता को पीड़ित करने की प्रेरणा क्रोध और कुछ काल बीत जाने पर वैर है। किसी ने हमें गाली दी। यदि हमने उसी समय उसे मार दिया तो हमने क्रोध किया। मान लीजिए कि वह गाली देकर भाग गया और दो महीने बाद हमें कहीं मिला। अब यदि उससे बिना फिर गाली सुने हमने उसे मिलने के साथ ही मार दिया तो यह हमारा वैर निकालना हुआ। इस विवरण से स्पष्ट है कि वैर उन्हीं प्राणियों में होता है जिनमें धारणा अर्थात् भावों के संचय की शक्ति होती है। पशु और बच्चे किसी से वैर नहीं मानते। वे क्रोध करते हैं और थोड़ी देर के बाद भूल जाते हैं। क्रोध का यह स्थायी रूप भी आपदाओं की पहिचान कराकर उनसे बहुत काल तक बचाए रखने के लिये दिया गया है।

———

पाठ ४

हमारी संस्कृति और साहित्य का सम्बन्ध

(डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी)

[स्व० श्री रामचन्द्र शुक्ल जैसे निष्पक्ष आलोचक तथा निबंधकार के स्थान की पूर्त्ति बहुत कुछ डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी (जन्म १९०७ ई०) की हिंदी सेवा से हो सकी है। १९३० में इंटर तथा आचार्य की परीक्षाएं पास करने के बाद ही आप शांतिनिकेतन में हिन्दी अध्यापक के पद पर नियुक्त हो गये थे। कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर के निकटतम सम्पर्क का तथा शान्ति निकेतन का उदार वातावरण का प्रभाव आपकी विचार-धारा पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है। इस समय आप हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्रधान अध्यापक हैं। आप सच्चे विद्यानुरागी विद्वान् हैं।

आपका कार्यक्षेत्र भी प्रधानतया आलोचना तथा निबंध हैं। आपके प्रमुख आलोचनात्मक ग्रन्थ निम्नलिखित हैं:—सूर साहित्य, हिंदी साहित्य की भूमिका, कबीर, नाथ संप्रदाय। आपका प्रसिद्ध उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में निराला ग्रन्थ है। आपके फुटकर निबंध 'विचार और वितर्क' तथा 'अशोक के फूल' नाम से प्रकाशित हुए हैं। प्रस्तुत लेख उन्हीं में से लिया गया है।]

हिन्दी में सभ्यता और संस्कृति शब्द नये हैं। इनका असली अर्थ समझने के लिए अंग्रेजी के 'सिविलिजेशन' और 'कल्चर' शब्द की जानकारी आवश्यक है। वस्तुतः सभ्यता और संस्कृति के धातुगत अर्थ इन शब्दों के व्यवहारिक अर्थ के स्पष्ट करने में विशेष

सहायक नहीं होंगे। अंग्रेजी में 'सिविलिजेशन' शब्द एक सामाजिक परिस्थिति का बोधक है। सिविलिजेशन से सामाजिक व्यवस्था के चार उपादानों का ज्ञान होता है—(१) आर्थिक व्यवस्था, (२) राजनैतिक संगठन, (३) नैतिक परम्परा और (४) ज्ञान एवं कला का अनुशीलन। अस्तव्यस्तता, सशंकता और अरक्षणीयता का जहाँ अन्त होता है, 'सिविलिजेशन' या सभ्यता वहीं से शुरू होती है। क्योंकि जब भय का भाव दब जाता है और मनुष्य की कुतूहल वृत्ति और रचनात्मक प्रकृति बंधनहीन होती है, तभी मनुष्य पशु सुलभ प्राकृतिकता से उपर उठकर समझौते और सहानुभूति के जीवन की ओर अग्रसर होता है। किसी जाति या समाज की पूर्णता इस बात से जानी जा सकती है कि उक्त समाज या जाति के व्यक्ति कहाँ तक अस्तव्यस्तता और सशंकता से मुक्त हो सके हैं।

सभ्यता का आन्तरिक प्रभाव संस्कृति है। सभ्यता समाज की बाह्य व्यवस्थाओं का नाम है, संस्कृति व्यक्ति के अन्तर के विकास का। सभ्यता की दृष्टि वर्तमान की सुविधा-असुविधाओं पर रहती है, संस्कृति की भविष्य या अतीत के आदर्श पर, सभ्यता नजदीक की ओर दृष्टि रखती है, संस्कृति दूर की ओर, सभ्यता का ध्यान व्यवस्था पर रहता है, संस्कृति का व्यवस्था के अतीत पर, सभ्यता के निकट कानून मनुष्य से बड़ी चीज है, लेकिन संस्कृति की दृष्टि में मनुष्य कानून के परे है, सभ्यता बाह्य होने के कारण चंचल है, संस्कृति आन्तरिक होने के कारण स्थायी है। सभ्यता समाज को सुरक्षित रखकर उसके व्यक्तियों को इस बात की सुविधा देती है कि वे अपना आन्तरिक विकास करें, इसीलिए देश की सभ्यता जितनी ही पूर्ण होगी, अर्थात् उसकी व्यवस्था जितनी ही सहज होगी, राजनैतिक संगठन जितना ही पूर्ण होगा, नैतिक परम्परा जितनी ही

विशुद्ध होगी और ज्ञानानुशीलन की भावना जितनी ही प्रबल होगी, उस देशवासी उसी परिमाण में सुसंस्कृत होंगे। इसीलिए सभ्यता और संस्कृति में बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। परन्तु ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसका यह अर्थ नहीं है कि सभ्यता और संस्कृति दो परस्पर विरोधी चीजें हैं। जिस प्रकार पुस्तक के दो पन्ने के दो पृष्ठ आपाततः एक दूसरे के विरोधी दिखते हुए भी वस्तुतः एक दूसरे के पूरक हैं, उसी प्रकार सभ्यता और संस्कृति भी एक दूसरे के पूरक हैं इन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि कभी-कभी एक के अर्थ में दूसरे का प्रयोग पंडित जन तक कर दिया करते हैं। कभी-कभी अपने देश की संस्कृति के नाम पर असत्य और अर्धसत्य सिद्धान्तों का समर्थन किया जाता है। और, और तो और, अपने देश की संस्कृति के नाम पर किसी देश की सभ्यता धर्म, दर्शन संस्कृति पर भद्दे आक्षेप भी किए जाते हैं, पर ये बातें संस्कृति के विरुद्ध हैं। कोई भी सुसंस्कृत आदमी—अगर वह सचमुच सुसंस्कृत है—किसी असत्य या अर्धसत्य सिद्धान्त का इसीलिए समर्थन नहीं कर सकता कि उसे उसके पूर्वजों ने मान लिया था। औरों की कुत्सा तो वह कर ही नहीं सकता। विजित जाति के व्यक्तियों में जातीय चेतना प्रबल होती है, तो प्रायः अपने देश की संस्कृति के नाम पर वे विजेता की संस्कृति का मजाक उड़ाया करते हैं। इटली में ऐसा ही हुआ था, भारतवर्ष में ऐसा हो रहा है। यह स्वाभाविक है। आधुनिक भारतीय साहित्य में ऐसी अनेक बातों का समर्थन भारतीय संस्कृति के नाम पर किया जा रहा है, जिसके लिए पर्याप्त चिन्तन की आवश्यकता होती है। भारतवर्ष का शीर्ष स्थानीय समालोचक बड़े-बड़े यूरोपियन दार्शनिकों की युक्ति का अवतरण करते हुए इतना कहकर सारा तर्क समेट लेता है कि भारतीय संस्कृति इन बातों को पसन्द नहीं करती। हिन्दी के दो विद्वानों में महीनों तक एक

मनोरंजक विवाद चलता रहा, जिसका केन्द्रीय विषय भारतीय संस्कृति का समर्थन माना था। दोनों ही पंडित दो विरोधी सिद्धान्तों को भारतीय संस्कृति के अनुकूल सिद्ध करना चाहते थे, और इस चाहने का अर्थ यह था कि जो कुछ वे कह रहे हैं, वही ठीक है। यदि इस बात का पक्का सबूत दिया जा सके कि कोई सिद्धान्त भारतीय संस्कृति के अनुकूल है, तो उसका श्रेष्ठ होना निर्विवाद मान लिया जाता है, पर यह क्या अच्छी बात है ? क्या भारतीय होने से ही कोई चीज़ ऊँची और अभारतीय होने से ही नीची हो जाती है ? क्या यह भारतीय श्रोता के राष्ट्रीय भावावेश को उत्तेजित करके ज्ञान की ओर से उसे उदासीन कर देना नहीं है ? देखा जाय।

२

भारतीय संस्कृति का अर्थ क्या है ? जैसे कि पहिले ही बताया जा चुका है सभ्यता शब्द की भ ति संस्कृति शब्द भी अंग्रेज़ी के 'कल्चर' शब्द के तौल पर नया गढ़ लिया गया है। स्वयं 'कल्चर' शब्द भी बहुत पुराना नहीं है। कहते हैं, अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध प्रबन्ध-लेखक बेकन ने इस शब्द को 'मानसिक खेती' के अर्थ में प्रथम बार प्रयोग किया था। जो हो, भारतीय संस्कृति शब्द हिन्दुस्थान में नया है और अन्य अनेक बातों की तरह इसका इस अर्थ में प्रयोग करना भी हमने विदेशियों से सीखा है। पुराना 'संस्कृति' शब्द इस नये अर्थ में पहले प्रयुक्त नहीं होता था। हमारे वर्तमान शासकों के जात-भाई जब पहले-पहले इस महादेश में आये, तो उन्हें यह देश असभ्य-सा लगा। सभी चीजें अस्त-व्यस्त-सी नजर आईं। जब धीरे-धीरे इनका परिचय अधिक घनिष्ठ हुआ, तो उन्होंने देखा कि यहाँ अदालत और फ़ौज तो हैं, पर भीतरी और बाहरी आशंकाओं से प्रजा की रक्षा नहीं हो रही है; विद्वान् और धार्मिक तो हैं; पर विद्या और धर्म साधारण जनता तक नहीं पहुँचे हैं। अत्यन्त निम्न

समाज में विद्या या ज्ञान बहुत कुछ पशुओं के 'इन्सटिङ्क्टिव' ज्ञान की तरह है और धर्म अन्ध-विश्वास के रूप में। आर्थिक व्यवस्था अत्यन्त विषन्न है। धनी और राजे-महाराजे तो हैं, पर बड़े-बड़े पैमाने पर उद्योग-धन्धों का एकदम अभाव है। गान-वाद्य-नृत्य आदि से ये एकदम अनभिज्ञ तो नहीं हैं, पर इस चीज की पहुँच बहुत थोड़े लोगों में ही है। इन बातों से उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि यह देश असभ्य तो नहीं है; पर सभ्य भी नहीं है। असल में यह अर्ध-सभ्य है। जिन लोगों ने इस बात को जरा सहानुभूति पूर्ण भाषा में लिखा, उन्होंने लिखा कि भारतवर्ष रहस्यमय है—'मिस्टिक' है ! संयोगवश इन विदेशियों ने हमारी दुर्बलता का लाभ उठा लिया। वे राजा हुए। दोष और गुण सब में होते हैं। उनमें भी हैं; पर एक बात में वे अतुलनीय निकले। उनकी ज्ञानपिपासा बड़ी उत्कट साबित हुई। उन्होंने राज्य-भार हाथ में लेते ही इस देश को समझने की कोशिश की। भारतीय इतिवृत्त के विद्यार्थी से यह तथ्य छिपा नहीं है कि उन्हें इस विषय में विषम बाधाओं का सामना करना पड़ा; कितनी बार उन्हें धोखा खाना पड़ा; पर वे निराश न हुए। वेद के नाम पर एक भलेमानस ने एक जाली पुस्तक दे दी ! अशोक की लिपि को एक काशीवासी ने पाण्डवों के गुप्त वनवास का विवरण-पत्र बनाकर पढ़ दिया ! यह ध्यान देने की बात है कि आज से डेढ़ सौ वर्ष पहले ब्रह्मी या खरोष्ट्र लिपि को पढ़ने वाला एक भी पंडित नहीं मिला था। सब कुछ विदेशियों ने ही आरम्भ किया था। ईंट-पत्थरों की स्तूपीभूत जीर्णता से अध्यवासियों ने भारतीय सभ्यता का उद्घाटन शुरू किया।

अथक परिश्रम के फल-स्वरूप जो कुछ ईंट-पत्थर आविष्कृत हुए, उनके बल पर देखा गया भारतीय सभ्यता का उज्ज्वल रूप ! चकित भाव से विदेशियों ने कहा—यह है भारतवर्ष ! वेदों को—

आर्य भाषाओं के सर्व प्रथम लिखित ग्रन्थों को जिसने देखा, उसी ने एक बार आश्चर्य-मुद्रा से पूर्व की ओर ताका, और अन्त में मैक्स-मूलर भट्ट ने संसार को एक नई बात से चौंका दिया। उन्होंने देखा कि सम्पूर्ण यूरोप, ईरान और भारतवर्ष में एक ही भाषा बोली जाती है। इसके बोलने वालों के पूर्वज निश्चय ही एक स्थान से सर्वत्र फैले होंगे! जाति का—मेरा मतलब 'रेस' से है—नाम संस्कृत भाषा के एक शब्द को लेकर दिया गया। वह शब्द है 'आर्य'। आर्य—संसार की सर्वश्रेष्ठ जाति!

भारतवर्ष में आत्म-चेतना जाग रही थी। मैक्समूलर भट्ट ने जिस शब्द का इतना जगद्व्यापी विज्ञापन किया था, वह हमारा था, उसके वाचक हम भी थे। हमारी आत्म-चेतना ने उसे और भी साफ अर्थ में लिया—आर्य शब्द के वाच्य केवल हमी हैं। बाद में आर्य समाज के सुसंगठित प्रचार ने इस शब्द को और भी व्यापक बना दिया। वेदों को मानने वाला आदमी आर्य समाज की परिभाषा में आर्य हुआ। मैक्समूलर की व्याख्या जाति-मूलक थी, आर्यसमाज की व्याख्या धर्ममूलक हुई। हमने अत्यन्त गर्व के साथ अनुभव किया कि हम आर्य हैं, हमारी सभ्यता आर्य-सभ्यता है, हमारी संस्कृति आर्य-संस्कृति है, हमारी नस नस में आर्य-रक्त प्रवा-हित हो रहा है। इस गर्वानुभूति के साथ-ही-साथ ज्ञात या अज्ञात भाव से हम सदा सोचते रहे—हम वही आर्य हैं, जो संसार की सर्व-श्रेष्ठ जाति है। हमारी चिन्ता सर्वश्रेष्ठ चिन्ता है। हमारी संस्कृति सर्वोत्तम संस्कृति है। जो कुछ इसके भीतर नहीं, वह ठीक नहीं, वह ग्राह्य नहीं!

३

ज्यों-ज्यों ज्ञान पिपासुओं का उद्योग अग्रसर होता गया त्यों त्यों पूर्वतर मतों का संशोधन भी होता गया। मैक्समूलर भट्ट की परम

विज्ञापित आर्यजाति अब उतनी आकर्षक नहीं रही। नृतत्त्वविशारदों ने शीघ्र ही पता लगाया कि आर्य-भाषा बोलने वाली सभी जातियाँ आर्य नहीं हैं। इधर भारतवर्ष की सभ्यता सम्पूर्णतः आर्य सभ्यता नहीं है। आर्य इस देश में इसी प्रकार नवागन्तुक थे, जिस प्रकार शक, हूण आदि अन्यान्य विदेशी जातियाँ समय समय पर आईं और अपने सारे आचार-विचार और विश्वासों के साथ यहीं की हो रहीं। भारतीय संस्कृति डेल्टा पर जमे हुए अनेक बालुकास्तरों की भाँति नाना साधनाओं और संस्कृतियों के योग से बनी है। आर्यों के आने के पहले इस देश में सभ्यतर द्रविड़ जाति बस रही थी। राजनैतिक रूप में विजित होने पर भी उनकी संस्कृति विजयी हुई। उपनिषदों का बहुधा विज्ञापित अध्यात्मवाद आर्य की अपेक्षा आर्येतर अधिक है। वर्तमान भारतवर्ष का धर्म-मत अधिकांश में आर्येतर है। सरलता और ओजस्विता के कारण आर्य-भाषा की जीत हुई; पर उसके सौन्दर्य और सरसता व्यंजक रूप के लिए आर्येतर जातियों का ऋणी होना ही पड़ेगा। भारतीय दर्शन अनेकांश में आर्येतर सिद्धान्तों से प्रभावित हुआ है।

परन्तु सबसे अधिक आर्येतर-संश्रव साहित्य और ललित-कलाओं के क्षेत्र में हुआ है। अजन्ता में चित्रित, साँची, भरहुत आदि में उत्कीर्ण चित्र और मूर्त्तियाँ आर्येतर सभ्यता की समृद्धि के परिचायक हैं। महाभारत और कालिदास के काव्यों की तुलना करने से जान पड़ेगा कि दोनों दो चीजें हैं। एक में तेज है, दृप्तता है और अभिव्यक्ति का वेग है, तो दूसरे में लालित्य है, माधुर्य है और व्यंजना की छटा है। महाभारत में आर्य उपादान अधिक है, कालिदास के काव्यों में आर्येतर। जिन लोगों ने भारतीय शिल्प शास्त्र का अनुशीलन किया है, वे जानते हैं कि भारतीय शिल्प में कितने आर्येतर उपादान हैं और काव्यों तथा नाटकों में उनका कैसा अद्भुत प्रभाव

पड़ा है। पता चला है कि साँची भरहुत आदि के चित्रकार यक्षों और नागों की पूजा करनेवाली एक सौन्दर्य प्रिय जाति थी, जो सम्भवतः उत्तर भारत से लेकर आसाम तक फैली हुई थी। बहुत-सी ऐसी बातें कालिदास आदि कवियों ने इन सौन्दर्य-प्रेमी जातियों से ग्रहण की, जिनका पता आर्यों को न था। कामदेव और अप्सराएँ उनकी देव देवियाँ हैं, सुन्दरियों के पदाघात से अशोक का पुष्पित होना उनके घर की चीज है, अलकापुरी उनका स्वर्ग है—इस प्रकार की अन्य अनेक बातें उनसे और उन्हीं की तरह अन्यान्य आर्येतर जातियों से महाकवि ने ली हैं।

भारतीय नाट्यशास्त्र, कहते हैं, आर्यों की विद्या नहीं है। शुरू में से एक कथा में बताया गया है कि ब्रह्मा ने नाट्यवेद नामक पाँचवें वेद की सृष्टि की थी। अगर आर्यों के वेदों से इसका कुछ भी सम्बन्ध होता तो पंडितों का अनुमान है, इस कथा की जरूरत न हुई होती। वास्तव में भारतीय नाटक पहले केवल अभिनय रूप में ही दिखाए जाते थे। उनमें भाषा का प्रयोग करना आर्य संशोधन या परिवर्द्धन है।

इस प्रकार मूल में भारतीय संस्कृति कई बलवती सभ्यताओं के योग से बनी। आर्य-द्राविड़ और यक्ष-नाग सभ्यता की त्रिवेणी से इस महाधारा का आरम्भ हुआ। बाद में अन्य अनेक सभ्य, अर्धसभ्य और अल्पसभ्य जातियों की संस्कृतियाँ, धर्म-मत आचार परम्परा और विश्वास इसमें घुसते गए। भारतीय ज्योतिष, जो हमारी संस्कृति के निर्माण का एक जबरदस्त अंग है, बहुत-कुछ यवनों (ग्रीकों) बर्बरों (बैबिलोनियनों), असुरों (असरियनों) के विश्वास से प्रभावित है। बाल-गोपाल की पूजा, विश्वास किया जाने लग है कि, जाटों गूजरों और अहीरों की पूर्वज किसी घुमक्कड़ जाति की देन है। मध्ययुग की भारतीय संस्कृति एक हद तक फारस

के सूफियों तथा अन्यान्य मुसलमानी पीरों के धर्म-मत से प्रभावित हुई थी। इस युग की चित्रकला संगीत विद्या और नृत्यकला तो निश्चित रूप से आर्येतर उपादानों से समृद्ध हुई है।

पर ये सारी बातें भारतवर्ष की प्रकृति को देखते हुए एक भयंकर विरोधाभास-सी नजर आएँगी। जिस सभ्यता के मूल में ही वर्जनशीलता है, उसने विदेशी बातों को इतना अधिक आत्मसात् किया है, यह बात विश्वास के योग्य नहीं जान पड़ती। सहस्र-सहस्र उपजातियाँ, सम्प्रदायों और टोलियों में बहुधा विभक्त इस देश से एक ही बात सत्य दीखती है—परम्परा से चिपटे रहना। जहाँ हजारों वर्ष से एक साथ वास करने वाली जाति के हाथ का छुआ पानी भी ग्रहणीय न समझा जाता हो वहाँ विदेशी संस्कृति की अदला-बदली एक असम्भव-सी धारणा है। यह कैसे मान लिया जाय कि गर्वीली आर्य-जाति के वंशधरों ने उन लोगों के धर्म-विश्वास और आचार परम्परा को भी अपनाया है, जिसे वे अपनी भाषा सुनने के योग्य नहीं समझते थे।

वस्तुतः यह अभी का दृश्यमान विरोध ही सारी भारतीय संस्कृति के निर्माण में सहायक हुआ । जैसा कि बताया गया है सभ्यता और संस्कृति एक ही वस्तु नहीं है। जहाँ हजारों छोटी-मोटी जातियों की सामाजिक व्यवस्था, नैतिक परम्परा, विचित्र आचार-विचार को प्रश्रय देने वाली सभ्यता है वहीं योग दृष्टि या समन्वयात्मिका संस्कृति भी सम्भव है। भारतीय संस्कृति ने भेद की समस्या को उस ढंग से नहीं सुलझाया है जिस ढंग से अमेरिका में सुलझाया गया है। अमेरिका-प्रवासी यूरोपियों ने वहाँ के आदिम अधिवासियों को बेदर्दी के साथ कुचल दिया। उनका अस्तित्व ही नहीं रहने दिया। जो सभ्यता सबको पीसकर एक कर देना चाहती है, उसके प्राण में बहुत्व हैं, उसके रक्त में भेद-भाव और घृणा है। भारतीय संस्कृति

के प्राण में एकत्व है, उसके रक्त में सहानुभूति है। यही कारण है कि आज इस देश में सहस्राधिक समाज एक दूसरे को बाधा न पहुँचाते हुए भी अपनी विशेषताओं के साथ जीवित हैं। भारतीय संस्कृति ने सदा-सर्वदा समन्वय के रूप में समस्या का समाधान किया है।

वैदिक युग से लेकर ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी तक निरन्तर समन्वय की चेष्टा ही भारतीय संस्कृति का इतिहास है। कर्म-प्रधान वैदिक धर्म के साथ जब वैराग्य-प्रधान अध्यात्मवादी आर्येतरों का संघर्ष हुआ, तो इस संस्कृति ने बड़ी शीघ्रता के साथ मानव जीवन को चार आश्रमों में बाँटकर समन्वय कर लिया। आर्यों का स्वर्ग और आर्येतरों का मोक्ष तथा पुनर्जन्म-सिद्धान्त इस संस्कृति में दूध-चीनी की तरह घुल गए। भयंकर विद्रोही बुद्धदेव एक दिन अवतार-वादियों के मन्दिर में आ जमे। कबीर, नानक, दादू, अकबर, राम मोहन आदि का प्रयत्न समन्वय का प्रयत्न था। हठात् उन्नीसवीं सदी में एक नई समस्या आ उपस्थित हुई। यह बात भारतीयों के निकट अपरिचित थी। इस समस्या को उन्होंने कभी देखा सुना न था। इस समस्या का नाम है 'नेशनलिटी'। इसको हिन्दी में नाम दिया गया है 'राष्ट्रीयता'।

४

पश्चिम की यांत्रिक राष्ट्रीयता जब पहले पहल इस राष्ट्रीयता-रहित देश में आई, तब यहाँ वालों ने उसे ठीक नहीं समझा। एक आदमी राजा हो सकता है, वह किसी वर्ग-विशेष के आदमियों के ऊपर कृपा, क्रोध आदि भी कर सकता है, नहीं भी कर सकता है। यह बात तो ये समझ सकते थे, किन्तु समूचे देश का देश राजा हो सकता है, यह बात कुछ अजीब सी लगी। पहले कुछ कौतूहल और भ्रांत, फिर संभ्रम और सन्देह की दृष्टि से उसे देखते गए, जब

अच्छी तरह से देखा, तो उसका रहस्य मालूम हुआ। व्यक्ति ने संघात के सामने अपने को पराजित अनुभव किया। भारतवर्ष ने पहली बार सम्मिलित भाव से एक ही मंच पर खड़े होने का प्रयत्न शुरू किया। इस राष्ट्रीयता-रहित देश को राष्ट्र वेश में सज्जित होना पड़ा। लेकिन समस्या का यह ऊपरी रूप था। ऐसा मालूम हुआ था कि अपने प्राचीन आचार-विचारों का अर्थ-हीन गट्ठर कंधे पर ढोते हुए भी हम राष्ट्र-निर्माण कर सकते हैं। इससे हमारी परम्परा-समागत रूढ़ियों के आहत होने का भय एक दम नहीं है, पर वास्तव में ऐसा हुआ नहीं। समस्या केवल राजनीति तक ही सीमित नहीं थी।

पिछली शताब्दी में कई ऐसे युगान्तरकारी आविष्कार पश्चिमी देश में हुए, जिनसे राष्ट्र नीति में आमूल परिवर्तन अनिवार्य हो गया। प्रेस ने ज्ञान को सुलभ कर दिया, वाष्प-यंत्रों ने दूरी कम कर दी और चिकित्सा-सम्बंधी आविष्कारों ने जीवन को ज्यादा सुरक्षित बना दिया। इसमें परस्पर एक दूसरे का बड़ा गहरा सम्बन्ध है। समाचारपत्र, जो बाद में प्रेस के साथ एकार्थक हो गये, जहाँ ज्ञान-संकलन करने लगे, वहीं मुस्तैदी के साथ राज-शक्ति अपनी धाँधली के साथ भी अपना कारवाँ हाँक सकती थी, पर वाष्पयानों ने शत्रु के आक्रमण की इतनी सम्भावना पैदा कर दी कि जनता की उपेक्षा उसके लिए घातक सिद्ध होती, इसीलिए अनिच्छा पूर्वक इसी राज-शक्ति ने जन-शक्ति को आत्म-समर्पण कर दिया। इसका आवश्य-म्भावी परिणाम वही था, जिसे राष्ट्रीयता कहा जाता है। इस राष्ट्री-यता ने जनता की सुरक्षा का प्रवन्ध करना शुरू किया। सुरक्षितता का अर्थ है सभ्यता की समृद्धि। वह सुरक्षा नाना रूपों में लोगों को मिलने लगी—चिकित्सा शास्त्र के द्वारा पुलिस और कोर्ट के द्वारा, म्यूनिसिपल व्यवस्थाओं के द्वारा, ज्ञान-प्रसार के वाहक प्रेसों द्वारा

और इसी प्रकार अन्यन्य विभागों के द्वारा। सुरक्षा के साथ ही व्यवसाय-वाणिज्य ने जोर पकड़ा और फलतः अर्थ का असम विकीरण शुरू हो गया। आर्थिक व्यवस्था जटिल होती गई और जीवन-संग्राम कठिन से कठिनतर होता गया। राष्ट्रीयता-हीन देशों में उपनिवेश बसे, धनी-देशों में संगठित लूटपाट जारी हुई।

उधर वैज्ञानिक आविष्कार सूद दर सूद की तरह बढ़ते गए। ग्रामोफोन, सिनेमा आदि में बड़ी आसानी से एकदेश की रीति-नीति आचार-व्यवहार को अन्यत्र वहन करना शुरू किया। कुछ पेट की लड़ाई से, कुछ केन्द्रच्युत मस्तिष्कों की उमंग से सम्मिलित परिवार प्रथा शिथिलतर होती गई। विवाह करना एक भार समझा जाने लगा और बहुत दिनों की सांसारिक रूढ़ि एकाएक जोर से हिल गई। स्त्री स्वतन्त्रता का आन्दोलन विकट रूप से पुरुष-स्वतन्त्रता का प्रतिद्वन्द्वी हो उठा। इन और इन्हीं की तरह अनेक विचार-गत उथल-पुथलों के बीच में वर्तमान सभ्यता का रथ-घर्घर भारतवर्ष के रूढ़िप्रिय कानों को सुनाई दिया। जिसने सुना, उसी ने कहा—यह भारतीय संस्कृति के विरुद्ध है, यह अग्राह्य है।

लेकिन यह रंग-ढंग भारतीय संस्कृति के विरुद्ध नहीं था—ग्रीक, रोमन या अन्य कोई प्राचीन संस्कृति भी इससे उसी प्रकार चौकन्नी हो सकती थी और कई जगह हो भी चुकी थी, लेकिन जिस प्रकार तत्तत् संस्कृति के सुसंस्कृत ग्रहण करने को बाध्य हुए थे, यहाँ वालों को भी उसी प्रकार बाध्य हुए बिना कोई उपाय नहीं है। अन्तर इतना ही है कि जो बात उन्हें दो सौ वर्ष में धीरे-धीरे ग्रहण करनी पड़ी थी, वही बात हमें बीस वर्षों में करनी पड़ रही है—तेजी से, हड़बड़ी में। स्वभावतः ही हमें कष्ट ज्यादा हो रहा है। यहाँ भी वही प्रेस वही वाष्प और बिजली के यन्त्र, वही सिनेमा और थियेटर, वही सब—कुछ बल्कि उनसे कई अंशों में सुधरे हुए और समृद्ध हैं,

फिर वही बातें जो उन देशों में घट चुकी हैं, यहाँ घटने से क्यों बाज आयँगी।

वैज्ञानिक युग के पहले भी भारतवासी यही चीज थे, जो आज हैं, पर परिस्थिति में परिवर्तन होने के कारण उनका मानसिक संस्कार भी बदलता जा रहा है। पुराने जमाने में परम्परा-प्राप्त रहन-सहन से अभ्यस्त होने के कारण परम्परा-समागत विश्वास और आचार के वहन में जो सुविधा प्राप्त थी अब वह शिथिल से शिथिलतर होती जा रही है। काम के उद्देश्य से अलग-अलग स्थानों में वास करने के कारण पारिवारिक आचार-परम्परा विशेष भाव से आहत हुई है। नई शिक्षा के परिचय से विश्वास भी ढीला होता जा रहा है। कमसे कम शहरों में बसी जनता उतने अर्थहीन आचार-विचार के जंजालों से नहीं दबी है, जितने उनके ग्रामीण पूर्वज थे। ग्राम भी पहले-जैसे नहीं रहे, क्योंकि गाँव के बहुतसे आदमियों का शहरों में आकर काम पाना उन्हें ग्रामीण परम्परा से विछिन्न कर देता है।

५

अपनी साहित्यिक और सांस्कृतिक जल्पनाओं में आजकल हम लोग पूर्व और पश्चिम शब्द का व्यवहार करने लगे हैं। यह एक मनोरंजक बात है कि भारत के प्राचीन मनीषी इन शब्दों का व्यवहार नहीं करते थे। पूर्व रहस्यमय है, आध्यात्मिक है, धर्म प्राण है; पश्चिम व्यवसायी है, 'मैटर-आफ-फैक्ट' हैं; आधिभौतिक है—इत्यादि बातें हम सुना करते हैं, प्रयोग भी किया करते हैं; लेकिन पूर्व और पश्चिम की विभाजित रेखा कहाँ है ? फ्राँस पश्चिम में है, जर्मनी पूर्व में; जर्मनी पश्चिम में है, रूस पूर्व में। अमेरिका पश्चिम में है या जापान ? कौन बतायेगा ? असल में पश्चिम का अर्थ कुछ-कुछ आधुनिक और व्यवसायी रूप में होने लगा है और पूर्व का प्राचीन और अस्त-व्यस्त अर्थ में। विशेष आर्थिक और धार्मिक परिस्थितियों

के कारण यूरोप में एक प्रकार की विचारगत क्रान्ति हुई है यह बात यूरोप के पूर्वस्थ प्राचीन देशों में नहीं हो सकती; पर सदा के लिए उसे उन देशों में आने से कौन रोक सकता है? जापान—सुदूर पूर्व—से बढ़कर व्यवसायी, 'मैटर-आफ-फैक्ट' और आधिभौतिक देश कौन है?

असल बात यह है कि मनुष्य का मन सर्वत्र एक है। राजनीतिक आर्थिक आदि कारणों से उस एक मन के प्रकाशन का बाह्य आवरण चाहे जितना ही भिन्न क्यों न हो, भीतर में वह एक है। नृतत्व-विशारदों के आधुनिक शोध इसके पक्के सबूत हैं। एकही प्रकार के मनोभाव पारिपार्श्विक अवस्थाओं के योग से नाना प्रकार के समाजिक और धार्मिक आचरणों में बदल गए हैं। यह मनोरंजक सत्य है कि मानव जाति की बहुधा विभक्त धार्मिक भावनाओं, सामाजिक रूढ़ियों, सौन्दर्य और शील की धारणाओं का मूल कारण सर्वत्र एक ही मनोभाव रहे हैं। ज्यों-ज्यों मनुष्य अपनी विशेष-विशेष टोलियों में आवद्ध होकर आगे बढ़ता गया, त्यों-त्यों नई-नई और भिन्न-भिन्न परिस्थिति के योग से उसके बाह्य आचार बदलते गए। इन्हीं प्राचीनता-प्राप्त आचारों ने धार्मिकता, राष्ट्रीयता जातीयता आदि का आकार ग्रहण किया। इन्हीं प्राचीनता-प्राप्त आचारों ने—इन्हें रूढ़ि कह सकते हैं—हमारे दैनिक आचार पूजा-पाठ, धर्म-कर्म विचार-व्यवहार पर अपनी छाप लगा दी है। इन ब्रह्म विशेषताओं ने अर्से से मनुष्य और मनुष्य के बीच एक दीवार खड़ी रखी है। हम लड़े हैं, झगड़े हैं, मरते-मारते रहते हैं, एक-दूसरे को लूटते-खसोटते रहे हैं और अभिमान के साथ अपने विशेष वर्ग और विशेष टोली का जय-निर्घोष करते रहे हैं।

समय ने पलटा खाया है। वैज्ञानिकों ने मानवीय प्रकृति और विश्व-प्रकृति का निर्लिप्त भाव से विश्लेषण किया है। देखा गया है

कि जगत में एकही शाश्वत मानव-मस्तिष्क काम कर रहा है। आज तक संसार गलतफहमी का शिकार बना रहा है। आज उसके पास इतने अधिक साधन हैं कि पुरानी गलतफहमी अगर उसी वेग से चलती रही, तो उसका परिणाम भयंकर होगा। शायद संसार में एक जाति को दूसरी जातियों के समझने की इतनी सख्त जरूरत कभी नहीं पैदा हुई थी। समझने का रास्ता अब भी वहुत साफ नहीं हुआ है। दो सेहियाँ अगर अपने शरीर के काँटों को खड़ा करके परस्पर को आलिंगन करना चाहें तो आलिंगन हो चुका! अगर दूसरी जातियों के समझने के लिये हमने अपने को अपने सारे बाह्याचारों के जंजाल में बन्द करके रखा, तो समझना असम्भव है।

अगर हमने गाल्सवर्दी या बर्नार्ड शा को समझने के लिये पूर्व और पश्चिम के कृत्रिम विभाजन को अपने मन से निकाल न दिया, तो हम केवल दो साहित्यिकों को ही समझने में ही गलती नहीं करेंगे, समूची जाति को गलत समझेंगे। कृत्रिम विभाजन कहने से मेरा मतलब यह है कि हम व्यर्थ के इस पचड़े में न पड़ जायँ कि कोई चीज उसमें कहाँ तक भारतीय या अभारतीय, आध्यात्मिक या अनाध्यात्मिक है। चीज अगर अच्छी है, तो वह भारतीय हो या न हो, स्वीकार है; आध्यात्मिक हो या नहीं, ग्राह्य है; लेकिन अंग्रेजी समाज और भारतीय समाज में कुछ अन्तर जरूर है। इन अन्तरों को—बाह्याचरण—सम्बन्धी अन्तरों को हमें नहीं भूलना चाहिए क्योंकि इनके भूल जाने से चीज को समझने में भूल हो सकती है। गाल्सवर्दी एक विशेष प्रकार के बाह्याचार में पले आदमी को लक्ष्य करके लिख रहे हैं, इसलिए उनको समझने के लिये उनका लक्ष्यीभूत आचरण याद रखना चाहिए।

पूछा जा सकता है कि अगर भारतीयता, आध्यात्मिकता या ऐसी ही कुछ चीज अच्छी चीज के निर्वाचन की कसौटी नहीं है,

तो वह फिर कौनसी चीज है जो अच्छी चीज के निर्वाचन की सहायक है। यह एक दूसरा विषय है। इसे छेड़ने से एक समूची समस्या को छेड़ना होगा। साधारणतः मनुष्य का मन ही अच्छी चीज के निर्णय की कसौटी है; लेकिन यह उत्तर भी अस्पष्ट है क्योंकि मनुष्य का मन कहना बात को साफ-साफ कहना नहीं हुआ। किसी का मन विहारी-सतसई को पसन्द करता है; किसी का दुलारे-दोहावली को। कौनसा प्रमाण है और कौनसा अप्रमाण। वास्तव में मन कहने से हम किसी एक आदमी के मन को नहीं समझना चाहते। संसार की प्रवृद्ध मनीषा ने औसत संस्कृत सहृदयों की आनन्दानुभूति को एक विशेष सीमा तक पहुँचाया है। मन से मतलव उसी स्टैण्डर्ड मन से है।

लेकिन फिलहाल हम उधर नहीं विचार करना चाहते। हमारा मूल वक्तव्य यही है कि हमें पूर्व या पश्चिम, या भारतीय-अभारतीय आदि कृत्रिम विभाजनों के अर्थ-हीन परिवेष्टनों से अपने को घेर नहीं रखना चाहिए अगर ज़रूरत हो, तो तथाकथित आध्यात्मिक आदि विशेषणों से विशिष्यमाण आचारों और मनोविकारों को अतिक्रमण करके भी विश्वजनीन सत्य को जानने की कोशिश करनी चाहिए। जिन महापुरुषों ने क्षुद्र-वृहत् परिवेष्टनों को तोड़कर भारतीय साहित्य और संस्कृति को समझने की कोशिश की है, उनसे अगर ग़लती भी हुई हो, तो उनका मज़ाक नहीं उड़ाना चाहिए। भारतीय संस्कृति—और कोई भी अन्य संस्कृति (अगर सस्कृति शब्द को विशेषण बिना कहा ही न जा सके!)—विश्वजनीन सत्य की विरोधी नहीं है।

———

पाठ ५

काव्य में प्राकृतिक दृश्य

(स्व० श्री रामचन्द्र शुक्ल)

भारतेन्दु हरिश्चंद्र के समय से हमारी भाषा नए मार्ग पर आखड़ी हुई; पर दृश्य-वर्णन में कोई संस्कार नहीं हुआ। वाल्मीकि, कालिदास आदि प्राचीन कवियों की प्रणाली का अध्ययन करके सुधार का यत्न नहीं किया गया। भारतेन्दु जी का जीवन एकदम नागरिक था। मानवी प्रकृति में ही उनकी उल्लीनता अधिक पाई जाती है, बाह्य प्रकृति के साथ उनके हृदय का वैसा सामंजस्य नहीं पाया जाता। 'सत्यहरिश्चन्द्र' में गंगा का और 'चंद्रावली' में यमुना का वर्णन अच्छा कहा जाता है। पर यह दोनों वर्णन भी पिछले खेवे के कवियों की परम्परा के अनुसार ही हैं। इतने पर भी एक साथ कई वस्तुओं और व्यापारों की सूक्ष्म सम्बन्धयोजना नहीं है, केवल वस्तुओं और व्यापारों के पृथक् पृथक् कथन के साथ उत्प्रेक्षा आदि का प्राचुर्य है। उनमें से एक नीचे दिया जाता है—

नव उज्ज्वल जलधार हार हीरक सी सोहति।
बिच बिच छहरति बूँद मध्य मुक्तामनि पोहति॥
लोल लहर लहि पवन एक पैं इक इमि आवत।
जिमि नरगन मन विविध मनोरथ करत मिटावत॥
कहूँ बँधे नव घाट उच्च गिरवर सम सोहत।
कहुँ छतरी कहुँ मढ़ी बढ़ी मन मोहत जोहत॥
धवल छाय चहुँ ओर फरहरत ध्वजा पताका।
घहरति घंटा-धुनि धमकत धौंसा करि साका॥

कहुँ सुंदरी नहात नीर कर जुगुल उछारत।
जुग अंबुज मिलि मुक्त-गुच्छ मनु सुच्छ निकारत॥
धोवति सुंदरि वदन करन अतिही छवि पावत।
वारिधि नाते ससि-कलंक मनु कमल मिटावत॥

मैं समझता हूँ अब यह दिखाने के लिए और अधिक प्रयास की आवश्यकता नहीं है कि वन, पर्वत, नदी, निर्झर आदि प्राकृतिक दृश्य हमारे राग या रति-भाव से स्वतन्त्र आलम्बन हैं। उनमें सहस्रों के लिए सहज आकर्षण वर्तमान है। इन दृश्यों के अंतर्गत जो वस्तुएँ और व्यापार होंगे उनमें जीवन के मूल-स्वरूप और मूल परिस्थिति का आभास पाकर हमारी वृत्तियाँ तल्लीन होती हैं। जो व्यापार केवल मनुष्य के अधिक समुन्नत बुद्धि के परिणाम होंगे, जो उसके आदिम जीवन के बहुत इधर होंगे उनमें प्राकृतिक या पुरातन व्यापारों की सी तल्लीन करने की शक्ति न होगी। जैसे 'सीतल गुलाब-जल भरि चहबच्चन में' बैठे हुए कवि जी की अपेक्षा तलैया के कीचड़ में बैठ कर जीभ निकाल निकाल कर हाँफते हुए कुत्ते का अधिक प्राकृतिक व्यापार कहा जायगा। इसी प्रकार शिशिर में दुशाला ओढ़े 'गुलगुली गिलमें गलीचा' बिछाकर बैठे स्वाँग से धूल में खपरैल पर बैठी बदन चाटती हुई बिल्ली में अधिक प्राकृतिक भाव है। पुतलीघर में एंजन चलाते हुए देसी साहब की अपेक्षा खेत में हल चलाते हुए किसान में अधिक स्वाभाविक आकर्षण है। विश्वास न हो तो भवभूति और कालिदास से पूछ लीजिए।

जबकि प्राकृतिक दृश्य हमारे भावों के आलबंन हैं, जब इस शंका के लिए कोई स्थान ही नहीं रहा कि प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में कौन सा रस है। जो जो पदार्थ हमारे किसी न किसी भाव के विषय हो सकते हैं, उन सबका वर्णन रस के अंतर्गत है क्योंकि भाव का ग्रहण भी रस के समान ही होता है। यदि रति-भाव के

रस-दशा तक पहुँचने की योग्यता "दांपत्यरति" में ही मानिए तो पूर्ण भाव के रूप में भी दृश्यों का वर्णन कवियों की रचनाओं में बराबर मिलता है। जैसे काव्य के किसी पात्र का यह कहना है "जब मैं इस पुराने आम के पेड़ को देखता हूँ तब इस बात का स्मरण हो आता है कि यह वही है कि जिसके नीचे मैं लड़कपन में बैठा करता था और सारा शरीर पुलकित हो जाता है, मन एक अपूर्व भाव में मग्न हो जाता है" विभाव अनुभव और संचारी से पुष्ट भाव-व्यंजना का उदाहरण होगा।

पहले कहा जा चुका है कि जो वस्तु मनुष्य के भावों का विषय या आलंबन होती है उसका शब्द-चित्र यदि किसी कवि ने खींच दिया तो वह एक प्रकार से अपना काम कर चुका। उसके लिए यह अनिवार्य नहीं कि वह 'आश्रय' की भी कल्पना करके उसे उस भाव का अनुभव करता हुआ या विवाद से रोता हुआ दिखावे। मैं आलंबन मात्र के विशद वर्णन को श्रोताओं में रसानुभाव उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ मानता हूँ। यह बात नहीं है कि जब तक कोई दूसरा किसी भाव का अनुभव करता हुआ और उसे शब्द और चेष्टा द्वारा प्रकाशित करता हुआ न दिखाया जाय तब तक रसानुभाव हो ही नहीं सकता। यदि ऐसा होता तो हिंदी नायिका-भेद और नख-शिख के जो सैकड़ों ग्रंथ बने हैं उन्हें कोई पढ़ता ही नहीं। नायिका-भेद में केवल शृङ्गार-रस के आलंबन का वर्णन होता है और नख-शिख के किसी पद्य में उस आलंबन के भी किसी एक अंग मात्र का। पर ऐसे वर्णनों से रसिक लोग बराबर आनंद प्राप्त करते देखे जाते हैं। इसी प्रकार प्राकृतिक दृश्य-वर्णन मात्र को चाहे कवि उसमें अपने हर्ष आदि का कुछ भी वर्णन न करे हम काव्य कह सकते हैं। हिमालय-वर्णन को यदि हम कुमारसम्भव से निकाल कर अलग कर लें तो भी वह एक उत्तम काव्य कहला सकता

है। मेघदूत में—विशेष कर पूर्व मेघ में—प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन तो प्रधान है। यक्ष की कथा निकाल देने पर भी उसका काव्यत्व नष्ट नहीं हो सकता।

ऊपर नख-शिख की बात आ गई है, इसलिए मनुष्य के रूप-वर्णन के संबंध में भी दो चार बातें कह देना अप्रासंगिक न होगा। कारण दृश्य-चित्रण के अंतर्गत वह सभी आता है। पर उसमें भी रूप-चित्रण का कोई प्रयास हम नहीं पाते, केवल विलक्षण उत्प्रेक्षाओं और उपमानों की भरमार पाते हैं। इन उपमानों के योग द्वारा अंगों की सौंदर्य-भावना से उत्पन्न सुखानुभूति में अवश्य वृद्धि होती है, पर रूप नहीं निर्दिष्ट होता। काव्य से मुख, नेत्र और अधर आदि के साथ चंद्र, कमल और विद्रुम आदि के लाने का मुख्य उद्देश्य वर्ण, आकृति आदि का ज्ञान कराना नहीं बल्कि कल्पना के साथ-साथ इन्हें भी रखकर सौंदर्यगत आनन्द के अनुभव को तीव्र करना है। काव्य की उपमा का उद्देश्य भावानुभूति को तीव्र करना है, नैयायिकों के 'गोसदृशी गवयः' के समान ज्ञान उत्पन्न कराना नहीं। इस दृश्य से विचार करने पर कई एक प्रचलित उपमान बहुत खटकते हैं जैसे नायिका की कटि की सूक्ष्मता दिखाने के लिए सिंहनी को सामने लाना, जाँघों की उपमा के लिए हाथी की सूँड़ की ओर इशारा करना। खैर, इसका विवेचन उपमा आदि अलङ्कारों पर विचार करते समय कभी किया जायगा। अब प्रस्तुत विषय की ओर आता हूँ। मनुष्य की आकृति और मुद्रा के चित्रण के लिए भी काव्य-क्षेत्र में पूरा मैदान पड़ा है। आकृति-चित्रण का अत्यन्त उत्कर्ष वहाँ समझना चाहिये ज़हाँ दो व्यक्तियों के अलग अलग चित्रों में हम भेद कर सकें।

जैसे दो सुन्दरियों की आँख, कान, नाक, भौं, कपोल, अधर, चिबुक इत्यादि सब अंगों को लेकर हमने वर्णन द्वारा दो अलग

अलग चित्र खींचे। फिर दोनों वर्णनों को किसी और के हाथ में देकर हमने उन दोनों को उसके सामने बुलाया। यदि वे बतला दें कि यह उसका वर्णन है और यह उसका, तो समझिये कि पूर्ण सफलता हुई। योरुप के उपन्यासों में इस ओर बहुत कुछ प्रयत्न दिखाई पड़ता है। मुद्राचित्रण करने में गोस्वामी तुलसीदास जी अत्यंत कुशल दिखाई पड़ते हैं। मृग पर तीर चलाने के लिए तीर खींचे हुए रामचन्द्र जी को देखिए—

"जटा-मुकुट सिर सारस-नयननि गौहैं तकत सुभौंह-सिकोरे"

पूर्वजों की दीर्घ परम्परा द्वारा चली आती हुई जन्मगत वासना के अतिरिक्त जीवन में भी बहुत से संस्कार प्राप्त किये जाते हैं, जिनके कारण कुछ वस्तुओं के प्रति विशेष भाव अंतःकरण में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। बचपन में अपने घर में या बाहर जिन दृश्यों को बराबर देखते आये उनके प्रति एक प्रकार का सुहृदय भाव मन में घर कर लेता है। हिन्दुओं के बालकों के हृदय में राम-कृष्ण के चरितों से सम्बन्ध रखनेवाले स्थानों को देखने की उत्कंठा बनी रहती है। गोस्वामी जी के इन शब्दों में यही उत्कंठा भरी है—

"अब चित चेत चित्रकूटहि चलु,
भूमि विलोकु राम-पद-अङ्कित वन विलोकु रघुवर-विहार-थलु"

ऐसे स्थानों के प्रति संबंध की योजना के कारण हृदय में विशेष रूप के भावों का उदय होता है। कोई राम-भक्त जब चित्रकूट पहुँचता है, तब वह वहाँ के प्राकृतिक सौंदर्य पर ही मुग्ध नहीं होता, अपने इष्टदेव की मधुर भावना के योग से एक विशेष प्रकार के अनिर्वचनीय माधुर्य का भी अनुभव करता है। ऊबड़-खाबड़ पहाड़ी रास्तों में जब झाड़ियों के काँटे उसके शरीर में चुभते हैं तब उसके मन में सान्निध्य का यह मधुर भाव बिना उठे नहीं रह सकता कि वे झाड़ उन्हीं प्राचीन झाड़ों के वंशज हैं जो राम, लक्ष्मण और सीता

के कभी चुभे होंगे। इस भाव योजना के कारण उन झाड़ों को वह और ही दृष्टि से देखने लगता है। यह दृष्टि औरों को नहीं प्राप्त हो सकती। ऐसे संस्कार जीवन में हम बराबर प्राप्त करते जाते हैं। जो पढ़े लिखे नहीं हैं वे भी आल्हा आदि सुनकर कन्नौज, कालिंजर, महोबा, नयनागढ़ (चुनारगढ़) इत्यादि के प्रति एक विशेष भाव संचित कर सकते । पढ़े लिखे लोग अनेक प्रकार के इतिहास, पुराण, जीवन-चरित्र आदि पढ़कर उनमें वर्णित घटनाओं से संबंध रखनेवाले स्थानों के दर्शन की उत्कंठा प्राप्त करते हैं । इतिहास प्रसिद्ध स्थान उनके लिए तीर्थ से हो जाते हैं। प्राचीन इतिहास पढ़ते समय कल्पना का योग पूरा पूरा रहता है। जिन छोटे-छोटे ब्योरों का वर्णन इतिहास नहीं भी करता उनका आरोप अज्ञात रूप से कल्पना करती चलती है। यदि इस प्रकार का थोड़ा-बहुत चित्रण कल्पना अपनी ओर से न करती चले तो इतिहास आदि पढ़ने में जी ही न लगे। सिकंदर और पौरव का युद्ध पढ़ते समय पढ़ने वाले के मन में सिकंदर और उनके साथियों का यवन-वेष तथा पौरव के उष्णीष और किरीट-कुंडल मन में आवेंगे। मतलब यह कि परि-स्थिति आदि का कोई चित्र कल्पना में थोड़ा बहुत अवश्य रहेगा। जो भावुक होंगे उनमें अधिक रहेगा। प्राचीन समय का समाज-चित्र हम मेघदूत, मालविकाग्निमित्र आदि में ढूँढ़ते हैं और उसकी थोड़ी बहुत झलक पाकर अपने को और अपने समय को भूलकर तल्लीन हो जाते हैं। एक दिन रात में सारनाथ से लौटता हुआ मैं काशी की कुञ्ज-गली में जा निकला। प्राचीन काल में पहुँची हुई कल्पना को लिए हुए उस सकरी गली में जाकर मैं क्या दखता हूँ कि पीतल के सुंदर दीवटों पर दीपक जल रहे हैं। दूकानों पर केवल धोती पहने और उत्तरीय डाले व्यापारी बैठे हुए हैं। दीवारों पर सिंदूर के कुछ देवताओं के नाम लिखे हुए हैं। पुरानी चाल के

चौखटे, द्वार और खिड़कियाँ हैं मुझे ऐसा भान हुआ कि मैं प्राचीन उज्जयिनी की किसी वीथिका में आ निकला हूँ। इतने ही में थोड़ी दूर चलकर म्यूनिसिपेलिटी की लालटैन दिखाई दी। बस सारी भावना हवा हो गई।

इतिहास के अध्ययन से प्राचीन आख्यानों के श्रवण से भूत-काल का जो दृश्य इस प्रकार कल्पना में बस जाता है वह वर्तमान दृश्यों को खंडित प्रतीत होने से बचाता है। वह उन्हीं दीर्घ काल-क्षेत्र के बीच चले आये हुए अतीत दृश्यों में मेल दिखाता है और हमारे भावों को कालबद्ध न रखकर अधिक व्यापकत्व प्रदान करता है। हम केवल उन्हीं से राग-द्वेष नहीं रखते जिनसे हम घिरे हुए हैं बल्कि उनसे भी जो अब इस संसार में नहीं हैं, पहिले कभी हो चुके हैं। पशुत्व और मनुष्यत्व में यही एक बड़ा भारी भेद है। मनुष्य उस कोटि की पहुँची हुई सत्ता है जो उस अल्प क्षण में ही आत्म-प्रसार को बद्ध रखकर संतुष्ट नहीं रख सकती जिसे वर्तमान कहते हैं। वह अतीत के दीर्घ पटल को भेद कर अपनी अन्वीक्षण-बुद्धि को ही नहीं रागात्मक वृत्ति को भी ले जाती है। हमारे भावों के लिए भूतकाल का क्षेत्र अत्यन्त पवित्र क्षेत्र है। वहाँ वे शरीर-यात्रा के स्थूल स्वार्थ से संशिलिष्ट होकर कलुषित नहीं होते, अपने विशुद्ध रूप में दिखाई पड़ते हैं। उस क्षेत्र में जिनके भावों का व्या-याम के लिए संचरण होता रहा है, उनके भावों का वर्तमान विषयों के साथ उचित और उपयुक्त संबंध स्थापित हो जाता है। उनके घृणा, क्रोध आदि भाव भी बहुत कम अवसरों पर ऐसे होंगे कि कोई उन्हें बुरा कह सके।

मनुष्य अपने रति, क्रोध आदि भावों को या तो सर्वथा मार डाले अथवा साधन के लिए उन्हें कभी कभी ऐसे क्षेत्र से ले जाया करे जहाँ स्वार्थ की पहुँच हो, तब जाकर सच्ची आत्माभिव्यक्ति

होगी। नये अर्थवादी पुराने मीतों को छोड़ने को लाख कहा करें पर जो विशाल हृदय हैं वे भूत को बिना आत्मभूत किये नहीं रह सकते। अतीत काल में वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रति जो हमारा रागात्मक भाव होता है वह प्राप्त काल की वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रति हमारे भावों को तीव्र भी करता है और उनका ठीक ठीक अवस्थान भी करता है, वर्षा के आरंभ में जब हम बाहर मैदान में निकल पड़ते हैं, जहाँ जुते हुए खेतों की सोंधी महँक आती है और किसानों की स्त्रियाँ टोकरी लिए हुए इधर उधर दिखाई पड़ती हैं, उस समय कालिदास की लेखनी से अंकित इस दृश्य के प्रभाव से—

> त्वय्यायत्तं कृषि फलमितिभ्रू विलासानभिज्ञैः
> प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः,
> सद्यः सीरोत्कषणसुरभि क्षेत्र मारुह्यमालं
> किंचित्पश्चाद्व्रजलघुगतिर्भूय एवोत्तरेण;

हमारा भाव और भी तीव्र हो जाता है—हमें वह दृश्य और भी मनोहर लगने लगता है।

जिन वस्तुओं और व्यापारों के प्रति हमारे प्राचीन पूर्वज अपने भाव अंकित कर गये हैं उनके सामने अपने को पाकर मानो हम उन पूर्वजों के निकट जा पहुँचते हैं और उसी प्रकार भावों को अनुभव कर उनके हृदय से अपना हृदय मिलाते हुए उनके सगे बन जाते हैं। वर्तमान सभ्यता ने जहाँ अपना दखल नहीं जमाया है, उन जंगलों, पहाड़ों, गाँवों और मैदानों में हम अपने वाल्मीकि, कालिदास या भवभूति के समय में बड़ा कल्पित कर सकते हैं। कोई बाधक दृश्य सामने नहीं आता। पर्वतों की दरी-कंदराओं में प्रभात के प्रफुल्ल पद्मजाल में छिटकी चाँदनी में, खिली कुमुदिनी में हमारी आँखें कालिदास, भवभूति आदि की आँखों में जा मिलती हैं। पलास, इंगुदी, अँकोट वनों में अब भी खड़े हैं, सरोवर के कमल अब भी

खिलते हैं, तालाबों में कुमुदिनी अब भी चाँदनी के साथ हँसती है, वानीर शाखाएँ अब भी झुक झुक कर तीर का नीर चूमती हैं पर हमारी दृष्टि उनकी ओर भूल कर भी नहीं जाती। हमारे हृदय से मानो उनका कोई लगाव ही नहीं रह गया। अग्निमित्र, विक्रमादित्य आदि को हम नहीं देख सकते हैं। उनकी आकृति वहन करने वाला आलोक, भगवान् जाने किस लोक में पहुँचा होगा। पर ऐसी वस्तुएँ अब भी देख सकते हैं जिन्हें उन्होंने भी देखा होगा। सिप्रा के किनारे दूर तक फैले हुए प्राचीन उज्जयिनी के ढूहों पर सूर्यास्त के समय खड़े हो जाइए, इधर उधर उठी हुई पहाड़ियाँ कह रही हैं कि महाकाल के दर्शन को जाते हुए कालिदास जी हमें देर तक देखा करते थे। उस समय सिप्रा-वात उनके उत्तरीय को फहराता था। काली शिलाओं पर बहती हुई वेत्रवती की स्वच्छ धारा के तट पर विदिशा के खँडहरों के ईंट-पत्थर अब भी पड़े हुए हैं जिन पर अंग-राग-लिप्त शरीर और सुगंध-धूम से वसे केशकलाप वाली रमणियों के हाथ पड़े होंगे।

विजली के जगमगाते हुए नये अंग्रेजी ढंग के शहरों में धुआँ उगलती हुई मिलों और ह्वाइट-वे-लेडला की दूकान के सामने हम कालिदास आदि से अपने को बहुत दूर पाते हैं, पर प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र में हमारा उनका भेद-भाव मिल जाता है। महासामान्य परिस्थिति के साक्षात्कार द्वारा चिरकालशुद्ध मनुष्यत्व का अनुभव करते हैं, किसी विशेष कालबद्ध मनुष्यत्व का नहीं।

यहाँ पर कहा जा सकता है कि विशेष कालबद्ध मनुष्यत्व न सही पर देशबद्ध मनुष्यत्व तो अवश्य है। हाँ है। इसी देशबद्ध मनुष्यत्व के अनुभव से सच्ची देशभक्ति या देश-प्रेम की स्थापना होती है। जो हृदय संसार की जातियों के बीच अपनी जाति की स्वतंत्र सत्ता का अनुभव नहीं कर सकता है वह हृदय ही नहीं है।

इस स्वतंत्र सत्ता से अभिप्राय स्वरूप की स्वतंत्र सत्ता से है, केवल अन्न, धन संचित करने और अधिकार भोगने की स्वतंत्रता से नहीं। अपने स्वरूप को भूल कर यदि भारतवासियों ने संसार में सुख-वृद्धि प्राप्त की तो क्या? क्योंकि उन्होंने उदात्त वृत्तियों को उत्तेजित करने वाली बँधी बँधाई परम्परा से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया, नई उभरी हुई इतिहास की अन्य जातियों में अपना नाम लिखाया। फ़िलीपाइन द्वीपवासियों से उनकी मर्यादा कुछ अधिक नहीं रह गई।

देश-प्रेम है क्या, प्रेम ही तो है। इस प्रेम का आलंवन क्या है? सारा देश अर्थात् मनुष्य, पशु, पक्षी, नदी-नाले, वन-पर्वत सहित सारी भूमि का यह प्रेम किस प्रकार का है। जिनके बीच में हम रहते हैं, जिन्हें बराबर आँखों से देखते हैं, जिनकी बातें बराबर सुनते रहते हैं, जिनका हमारा हर घड़ी साथ रहता है—साराँश यह कि जिनके सान्निध्य का हमें अभ्यास पड़ जाता है उनके प्रति लोभ या राग हो जाता है। देश-प्रेम यदि वास्तव में अंत:करण का कोई भाव है तो यही हो सकता है। यदि यह नहीं है तो वह कोरी बकवाद या किसी और भाव के संकेत के लिए गढ़ा हुआ शब्द है। यदि किसी को अपने देश से सचमुच प्रेम है तो उसे अपने देश, मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, गुल्म, पेड़, पत्ते, वन, पर्वत, नदी, निर्भर आदि सबसे प्रेम होगा। वह सब को चाह भरी दृष्टि से देखेगा, वह सबकी सुध करके विदेश में आँसू बहावेगा। जो यह भी नहीं जानते कि कोयल किस चिड़िया का नाम है, जो यह भी नहीं सुनते कि चातक कहाँ चिल्लाता है, जो यह भी आँख भर नहीं देखते कि आम प्रणय-सौरभपूर्ण मंजरियों से कैसे लदे हुए हैं, जो यह भी नहीं झाँकते कि किसानों के झोंपड़े के अन्दर क्या हो रहा है—वे यदि दस बने ठने मित्रों के बीच प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी का परता बता कर देश-प्रेम का दावा करें तो उनसे पूछना चाहिए कि भाइयों!

बिना रूप-परिचय का यह प्रेम कैसा ? जिनके दुःख-सुख के कभी साथी नहीं हुए उन्हें तुम सुखी देखा चाहते हो यह कैसे समझें ? उनसे कोसों दूर बैठे बैठे पड़े पड़े या खड़े खड़े विलायती बोली में अर्थशास्त्र की दुहाई दिया करो पर प्रेम का नाम उसके साथ न घसीटो। प्रेम हिसाब-किताब की बात नहीं है। हिसाब-किताब करने वाले प्रेमी नहीं। हिसाब-किताब से देश-दशा का ज्ञानमात्र हो सकता है। हित-चिंतन और हितसाधन की प्रवृत्ति कोरे ज्ञान से भिन्न है। वह मन के वेग या भाव पर अवलंबित है, उसका सम्बन्ध लाभ या प्रेम से है, जिनके बिना अन्य पक्ष में आवश्यक त्याग का उत्साह हो नहीं सकता। जिसे ब्रज की भूमि से प्रेम होगा वह इस प्रकार कहेगा—

"नैनन से रसखान जबै ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं;
केतिक वे कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं।"

रसखान तो किसी 'लकुटी अरु कामरिया' पर तीनों पुरों का राज-सिंहासन तक त्यागने को तैयार थे, पर देश-प्रेम की दुहाई देने वालों में से कितने अपने किसी थके-माँदे भाई के फटे-पुराने कपड़ों पर रीझ कर या कम से कम न खीझ कर, बिना मन मैला किये कमरे का फ़र्श मैला होने देंगे ? मोटे आदमियो, तुम ज़रा सा दुबले हो जाते—अपने अँदेशे ही में—तो न जाने कितनी ठठरियों पर माँस चढ़ जाता !

पशु और बालक भी जिनके साथ अधिक रहते हैं उनसे परच जाते हैं। यह परचना परिचय ही है। परिचय प्रेम का प्रवर्त्तक है। बिना परिचय के प्रेम नहीं हो सकता। यदि प्रेम के लिए हृदय में जगह करनी है तो देश के स्वरूप से परिचित और अभ्यस्त हो जाइए। बाहर निकलिए तो आँख खोल कर देखिए कि खेत कैसे लहलहा रहे हैं, नाले झाड़ियों के बीच कैसे बह रहे हैं, टेसू के फूलों से

वनस्थली कैसी लाल हो रही है, कछारों में चौपायों के झुंड इधर उधर चरते हैं, चरवाहे तान लड़ा रहे हैं, अमराइयों के बीच गाँव झाँक रहे हैं। उनमें घुसिए, देखिए तो क्या हो रहा है। जो मिलें उनसे दो दो बातें कीजिए। उनके साथ किसी पेड़ की छाया के नीचे घड़ी आध घड़ी बैठ जाइए और समझिए कि ये सब हमारे देश के हैं। इस प्रकार जब देश का रूप आपकी आँखों में समा जायगा, आप उनके अंग-प्रत्यंग से परिचित हो जायँगे तब आपके अंतःकरण में इस इच्छा का सचमुच उदय होगा कि वह हमसे कभी न छूटे। वह सदा हरा भरा और फूला फला रहे, उसके धन-धान्य की वृद्धि हो, उसके सब प्राणी सुखी रहें। यह आजकल इस प्रकार का परिचय बाबुओं की लज्जा का एक विषय हो रहा है। वे देश के स्वरूप से अनजान रहने या बनने में अपनी बड़ी शान समझते हैं। मैं अपने एक लखनवी दोस्त के साथ साँची का स्तूप देखने गया। यह स्तूप बहुत सुंदर छोटी सी पहाड़ी के ऊपर है। नीचे छोटा मोटा जंगल है, जिसमें महुवे के पेड़ भी बहुत से हैं। संयोग से उन दिनों वहाँ पुरातत्त्व-विभाग का कैम्प पड़ा हुआ था। रात हो जाने से उस दिन हम लोग स्तूप नहीं देख सके। सबेरे देखने का विचार करके नीचे उतर रहे थे। वसंत का समय था। महुवे चारों ओर टपक रहे थे। मेरे मुँह से निकला—महुवों की कैसी महक आ रही है! इस पर लखनवी महाशय ने चट मुझे रोककर कहा—यहाँ महुवे सहुवे का नाम न लीजिए, लोग देहाती समझेंगे। मैं समझ गया, चुप हो रहा कि महुवे का नाम जानने से बाबूपन में बड़ा भारी बट्टा लगता है। पीछे ध्यान आया कि यह वही लखनऊ है जहाँ कभी यह पूछने वाले भी थे कि गेहूँ का पेड़ आम के पेड़ से छोटा होता है या बड़ा।

हिन्दूपन की अन्तिम झलक दिखानेवाले थानेश्वर, कन्नौज,

दिल्ली, पानीपत आदि स्थान उनके गंभीर भावों के आलंबन हैं, जिनमें ऐतिहासिक भावुकता है, जो देश के पुराने स्वरूप से परिचित हैं उनके लिए इन स्थानों के नाम ही उद्दीपन-स्वरूप हैं। उन्हें सुनते ही उनके हृदय में कैसे कैसे भाव जाग्रत होते हैं नहीं कह सकते। भारतेंदु का इतना ही कहना उनके लिए बहुत है कि—

> हाय पंचनद ! हा पानीपत !
> अजहुँ रहे तुम धरनि विराजत।
> हाय चितौर निलज तू भारी,
> अजहुँ खरो भारतहिं मँझारी ॥

पानीपत, चित्तौर, कन्नौज आदि नाम सुनते ही भारत का प्राचीन हिन्दू दृश्य आँखों के सामने फिर जाता है। उनके साथ गंभीर भावों का संबंध लगा हुआ है। ऐसे एक एक नाम हमारे लिए काव्य के टुकड़े हैं। यह रसात्मक वाक्य नहीं, तो रचनात्मक शब्द अवश्य हैं। अब तक जो कुछ कहा गया उससे यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि काव्य में 'आलंबन' ही मुख्य है। यदि कवि ने ऐसी वस्तुओं और व्यापारों को अपने शब्द-चित्र द्वारा सामने उपस्थित कर दिया जिनसे श्रोता या पाठक के भाव जाग्रत होते हैं तो वह एक प्रकार से अपना काम कर चुका। संसार की प्रत्येक भाषा में इस प्रकार के काव्य वर्तमान हैं जिनमें भावों को प्रदर्शित करने वाले पात्र अर्थात् 'आश्रय' की योजना नहीं की गई है— केवल ऐसी वस्तुएँ और व्यापार सामने रख दिये हैं जिनसे श्रोता या पाठक ही भाव का अनुभव करते हैं। यदि किसी कवि ने किसी दृश्य का पूर्ण चित्रण करके रख दिया तो क्या वह इसलिए काव्य न कहलावेगा कि उसके वर्णन के भीतर कोई पात्र उस दृश्य से प्राप्त आनंद या शोक को अपने शब्द और चेष्टा द्वारा प्रकट करनेवाला नहीं है ? कुमारसंभव के आरंभ के उतने श्लोकों को जिनमें हिमालय का वर्णन है क्या काव्य से ख़ारिज समझें !

मेघदूत में जो आम्रकूट, विन्ध्य, रेवा आदि के वर्णन हैं उन सब में क्या यक्ष की विरह-व्यथा की व्यंग्य है? विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी की गिनती गिना कर किसी प्रकार इस की शर्ते पूरी करना ही जब से कविजन अपना परम पुरुषार्थ मानने लगे तब से वह बात कुछ भूल भी चली कि कवियों का मुख्य कार्य्य ऐसे विषयों को सामने रखना है जो श्रोता के विविध भावों के आलंबन हो सकें। सच पूछिए तो काव्य में अंकित दृश्य श्रोता के भिन्न भावों के स्वरूप होते हैं। किसी पात्र को रति, हास, शोक, क्रोध आदि प्रकट करता हुआ दिखाने में ही रस-परिपाक मानना और यह समझना कि श्रोता को पूरी रसानुभूति हो गई ठीक नहीं। श्रोता या पाठक के भी हृदय होता है। वह जो किसी काव्य को पढ़ता या सुनता है सो केवल दूसरों का हँसना, रोना, क्रोध करना आदि देखने के लिए ही नहीं बल्कि ऐसे विषयों को सामने पाने के लिए जो स्वयं उसे हँसाने, रुलाने, क्रुद्ध करने, आकृष्ट करने, लीन करने का गुण रखते हों। राजा हरिश्चन्द्र को श्मशान में रानी शैव्या से कफ़न माँगते हुए, राम-जानकी को वन-गमन के लिए निकलते हुए पढ़कर ही लोग क्या करुणार्द्र नहीं हो जाते? उनकी करुणा क्या इस बात की अपेक्षा करती है कि कोई पात्र दृश्यों पर शोक या दुःख शब्दों और चेष्टा द्वारा प्रकट करे? तुलसीदास जी के इस सवैये में—

"कागर कीर ज्यों भूषन चीर शरीर लस्यो तजि नीर ज्यों काई;
मातु पिता प्रिय लोग सबै सनमानि सुभाव सनेह लगाई।
संग सुभामिनि भाइ चले दिन द्वै जनु औध हुते पहुनाई;
राजिवलोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ की नाई॥"

पाठक को करुणा-रस में मग्न करने की पूरी सामग्री मौजूद है। परिस्थिति के सहित राम हमारी करुणा के आलंबन हैं, चाहे किसी पात्र की करुणा के आलंबन हों या न हों।

पाठ ६

संतवाणी

[श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी]

[श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी (जन्म १८९४ ई०) की गणना द्विवेदी युग के प्रसिद्ध लेखकों में होती है। आप मध्य प्रदेश के छत्तीसगढ़ विभाग के रहने वाले हैं। बी० ए० तक शिक्षा प्राप्त करने के बाद ही वे अपनी कुल परंपरा के अनुसार साहित्य सेवा की ओर अग्रसर होगए। द्विवेदी जी के अवकाश ग्रहण के बाद कई वर्ष तक इन्होंने 'सरस्वती' पत्रिका के संपादन का कार्य अत्यंत योग्यता के साथ किया। आप सरल और शान्त प्रकृति के साहित्यिक हैं। आपकी विशेष ख्याति आपके विचार पूर्ण आलोचनात्मक गद्य ग्रंथों के कारण है। इनमें 'विश्वसाहित्य' तथा 'हिंदी साहित्य विमर्श' विशेष प्रसिद्ध हैं। आपकी साहित्य साधना के अन्य क्षेत्र कविता, अनुवाद और कहानी रहे हैं]

जिन महापुरुषों की वाणी आज संसार में अमर है उन्होंने मनुष्य के मानसिक भावों की रक्षा कर कोई बात कहने की चेष्टा नहीं की है। वे जानते थे कि मनुष्य अपने मन से कहीं बड़ा है, अर्थात् मनुष्य अपने मन में अपने को जैसा समझता है उसी में उसकी समाप्ति नहीं है। इसलिए उन्होंने मनुष्य के राजदरबार में अपना दूत भेजा, द्वार पर द्वारपाल को ही मधुर बातों से संतुष्ट कर उद्धार का सरल उपाय खोजने की व्यर्थ चेष्टा नहीं की। उन्होंने जैसी बातें कही हैं वैसी बातें कहने का साहस कोई नहीं कर सकता। संसार के कार्यों में व्यस्त मनुष्य उन्हें सुनकर विरक्त हो जाता है।

वह उन्हें अपने काम की बात नहीं मानता। परंतु काम की बड़ी बड़ी बातें तो कालस्रोत में बुद्बुद् की तरह उठती हैं और लीन हो जाती हैं और वे बातें जिनसे असंभव भी संभव हो जाता है, अभावनीय भी सत्य हो जाता है, बुद्धिमानों की युक्ति-युक्त बातें न होने पर भी, पागलों का प्रलाप-मात्र होने पर भी, मनुष्यों के हृदय पर अपना अक्षय प्रभाव छोड़ जाती हैं। मनुष्य जितना ही अधिक उनका तिरस्कार करता है, उतना ही अधिक उनका प्रभाव बढ़ता है। यदि वह उन्हें नष्ट करने की चेष्टा करता है तो वे अलग हो जाती हैं। देखते ही देखते वे मनुष्य के अंतर्जगत् और बाह्य जगत् दोनों पर अधिकार जमा लेती हैं। वे मनुष्यों को एक ऐसे रंग में रँग देती हैं जो फिर छूटने का नहीं।

सतगुरु है रँगरेज, चुनर मेरी रँग डारी ॥
स्याही रँग छुड़ाइ के रे, दियो मजीठा रंग।
धोये से छूटै नहीं रे, दिन दिन होत सुरंग ॥
भाव के कुंड नेह के जल में, प्रेम रंग दइ बोर।
चसकी चास लगाइ के रे, खूब रँगी झकझोर ॥

मनुष्य जिसे असाध्य समझता है उसी को साध्य करने के लिए महापुरुष उपदेश देते हैं। जब मनुष्य किसी स्थान में जाकर रुक जाता है और समझता है कि यही उसका चरम आश्रय है और उसको शास्त्रों की मर्यादा से परिमित कर सनातन रूप देने की चेष्टा करता है, तभी महापुरुष आकर उसकी मर्यादा को तोड़ देते हैं और कहते हैं कि अभी तुम्हारे जीवन-पथ का अंत नहीं हुआ है; यहाँ ठहरना मूर्खता है। जो अमृत-भवन तुम्हारा यथार्थ निवास-स्थान है वह तुम्हारे इन कारीगरों का बनाया हुआ नहीं है। इनका बनाया घर तुम्हें बंद रखता है। यह घर नहीं क़ैदख़ाना है। तुम्हारा भवन वह है जो परिवर्तित होता है परंतु टूटता नहीं, जो आश्रय देता है

पर तुम्हें बंद नहीं रखता, जो निर्मित नहीं होता किंतु स्वयं विकसित होता है, जो शास्त्रों के शब्दकौशल की सृष्टि नहीं है किंतु अक्षय जीवन की अनंत सृष्टि है। उनसे मनुष्य कहता है यह पथयात्रा हमारे असाध्य है, क्योंकि हम दुर्बल हैं और क्लान्त हैं। हम यहीं स्थिर होकर रहना चाहते हैं। तब वे बतलाते हैं कि यहाँ स्थिर होकर रहना यही तुम्हारे लिए असाध्य है क्योंकि तुम मनुष्य हो, तुम महत् हो, तुम अमृत के पुत्र हो, 'भूमा' को छोड़ कर अन्यत्र कहीं तुम्हें संतोष नहीं हो सकता।

मैं पंथि एक अपार के, मन और न भावै।
सोई पंथि पावै पीव का, जिसे आप लखावै॥

जो व्यक्ति छोटे होते हैं वे संसार को असंख्य बाधाओं का क्षेत्र मानते हैं। वे वाधायें उनकी दृष्टि को संकुचित और उनकी समस्त आशाओं को नष्ट कर डालती हैं। इसीलिए वे सत्य को नहीं जान सकते और ये वाधायें ही उनके लिए सत्य हो जाती हैं। किंतु जो महापुरुष होते हैं वे समस्त वाधाओं को हटा कर सत्य को देख लेते हैं। इसीलिए इन दोनों के कथन में बड़ा वैपरीत्य है। जब सब लोग यह कहते हैं कि हम केवल अंधकार देखते हैं तब वे निर्भय होकर कहते हैं—

प्रेम भगति दिन दिन बँधै, सोई ज्ञान विचार।
दादू आतम सोधि करि, मथि करि काढ्या सार।
जिहि विरियाँ यहु सब कुछ भया, सो कछु करौ विचार।
काजी पंडित वावरे, क्या लिखि बँधे भार॥

संसार में हम देखते हैं कि अधिकांश लोग यही समझते हैं कि अधर्म से ही हमारे जीवन की रक्षा हो सकती है। अपनी इसी धारणा के वशी हो लोग कितनी ही कुटिल नीतियों का अनुसरण

कर सदैव एक दूसरे को पराभूत करने की चेष्टा करते हैं। उस समय ये महापुरुष हमें वतलाते हैं—

सवद सा हीरा पटकि हाथ से मुट्ठी भरी कंकर से।
कहें कवीर सुनो भाई साधो तुरत करो वहि घर से।

इन महात्माओं के अनुशासनों को भी सुनना असंभव है। संसार में जो लोग जैसे हैं उनको उसी प्रकार देखना, यही वड़ा कठिन है। किंतु ये यहीं नहीं रुक जाते हैं। ये कहते हैं—सवको अपने समान देखो। इसका कारण यह है कि जहाँ आत्म-पर का भेद है वहाँ उनकी दृष्टि नहीं जाती, किंतु जहाँ दोनों का मेल है वहीं वे विहार करते हैं। शत्रु को क्षमा करना, यही उपदेश संसार के लिए यथेष्ट है। किंतु वे यह उपदेश न देकर यह कहते हैं कि शत्रु को भी प्यार करो। जैसे चंदन का वृक्ष काटने वाले को सुगंधि देता है उसी प्रकार तुम भी शत्रु को अपना प्रेम दो। प्रेम में उन्होंने सत्य को पूर्ण रूप से देखा था। प्रेम के लिए वे सर्वस्व का त्याग करने की शिक्षा पहले देते हैं। प्रेम का यह पथ साधारण नहीं, वड़ा विकट है।

यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै भुइँ धरै, तव पैठे घर माहिं॥
सीस उतारै भुइँ धरै, ता पर राखै पाँव।
दास कवीरा यों कहै, ऐसा होय तो आव॥

मनुष्यों के लिए यह कहना छोटी वात नहीं है कि तुम वड़े हो, अच्छे हो। पर उनका कथन यहाँ समाप्त नहीं होता। वे कहते हैं, 'शरवत् तन्मयो भवेत्'। जैसे शर लक्ष्य में विल्कुल प्रविष्ट हो जाता है उसी प्रकार तन्मय होकर तुम ब्रह्म में प्रवेश करो। ब्रह्म ही परिपूर्ण सत्य है और उसी को पूर्णभाव से प्राप्त करना होगा। वे स्पष्ट कह देते हैं कि विना उसको जाने जो मनुष्य केवल जप-तप में ही

अपना समय व्यतीत करता है वह विनष्ट हो जाता है। उसको बिना जाने हुए जो इस लोक से अपमृत होता है वह कृपण है, वह दया का पात्र है।

एक नाम को जानि कर, दूजा देइ बहाय।
तीरथ व्रत जप तप नहीं, सतगुरु चरन समाय॥

महापुरुष उसी स्थान की बात कहते हैं जो सबका चरम है। किसी प्रयोजन के वशीभूत हो वे सत्य को विकृत नहीं करते। उसी चरम लक्ष्य को सब सत्यों का परम सत्य स्वीकार करना होगा। नहीं तो मनुष्य आत्म-अविश्वासी और भीरु होगा। बाधा की दूसरी ओर, उसका अतिक्रमण कर, जो सत्य है उसको चरम लक्ष्य न मान कर बाधाओं के ऊपर ही यदि ध्यान रक्खा गया तो मनुष्य उन बाधाओं से ही मिलाप करने की चेष्टा करेगा और सत्य को अपनी सीमा के बाहर समझेगा। परंतु संतों ने असाध्य-साधन को ही परम लाभ कहा है और उसी को मनुष्य का धर्म बतलाया है। वही मनुष्य का पूर्ण स्वभाव है और वही सत्य है।

जब लग लालच जीविका, निर्भय हुआ न जाइ।
काया माया मन तजै, तब चैड़े रहे बजाइ॥

अच्छा, उस परम सत्य की खोज कहाँ की जाय और उसके लिए किन साधनों की आवश्यकता है। संसार सांत है और वह सत्य अनंत है। तब क्या वह यहाँ पाया जा सकता है? वह क्या हमारे लिए असाध्य नहीं है। इसी धारणा के कारण जब मनुष्य उसकी प्राप्ति के लिए व्याकुल हो जाता है तब वह संसार को छोड़कर भटकता रहता है। पर उस अनंत की प्राप्ति उसे नहीं होती। सद्गुरु उसकी इस मूढ़ता को देखकर कहते हैं तू कहाँ भटकता फिरता है—

कस्तूरी कुंडल बसै, मृग ढूँढ़ै बन माँहिं।
ऐसे घट में पीव है, दुनियाँ जानै नाहिं॥

तेरा साईं तुझ्झ में, ज्यों पुहुपन में वास।
कस्तूरी का मिरग ज्यों, फिर फिर ढूँढ़ै घास॥
ज्यों तिल माहीं तेल है, ज्यों चकमक में आग।
तेरा साईं तुझ्झ में, जागि सके तो जागि॥

परंतु यह ज्ञान सद्गुरु के बिना दूसरा कौन दे सकता है। इसी लिए संतों की वाणी में सद्गुरु की बड़ी महिमा गाई गई है। यह हिंदी-साहित्य का सौभाग्य है कि उसके जीवन के प्रारंभिक काल में ऐसे अनेक संत हुए जिनके वचनामृत का पान कर संसार तृप्त हो सकता है। यह खेद की बात है कि हिंदी में अभी तक उनके वचनों का वैसा प्रचार नहीं हुआ है जितना होना चाहिए। कुछ समय पहले तो वे सुलभ नहीं थे, परंतु हम बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग के स्वामियों के सदैव कृतज्ञ रहेंगे जिन्होंने संतवाणी-ग्रंथमाला का प्रकाशन कर हिंदी-साहित्य के इन रत्नों को सब के लिए सुलभ कर दिया। ऊपर जो बचन उद्धृत किये गये हैं वे बेलवेडियर प्रेस द्वारा प्रकाशित संतवाणी-संग्रह से लिये गये हैं। अस्तु। यहाँ हम विद्वानों की व्याख्याओं के आधार पर दादूदयाल की वाणी का मर्म समझाने की चेष्टा करते हैं।

संसार में अनन्तकाल से विश्व का रहस्य जानने की चेष्टा की जा रही है। जो साधक भगवान् की लीला को पृथ्वी पर प्रत्यक्ष देखना चाहते हैं, जो उसके आनन्द-रस का उपभोग करना चाहते हैं, वे सहज साधनाओं से ही उसे प्राप्त करते हैं। कृच्छ्र साधन-मात्र से उसका रहस्य समझ में नहीं आता। दादू ने कहा है कि मैंने न तो घर छोड़ा, और न मैं बन ही गया। मैंने कोई भी क्लेश स्वीकार नहीं किया। सहज प्रेम से मैंने पृथ्वी को उसी रूप में देखा:—

ना घर तजा ना बन गया ना कुछ किया कलेश।
दादू ज्योंही त्यों मिला सहज सुरत उपदेश॥

जो इस 'सहज' के साधक होंगे वे विश्व के प्रवाह को अपनी वासना अथवा लोभ के वश क्षण भर के लिए भी रोक रखना नहीं चाहेंगे। यदि विश्व का प्रवाह रुक जाय तो समस्त सौंदर्य का प्रवाह स्थिर होकर मृत्यु-पुञ्ज में परिणित हो जायगा। जो साधक हैं, वे किसी को भी रोक कर, वाधा देकर, स्थिर नहीं करना चाहते। वे मिथ्या से कलुषित नहीं होते। नदी के प्रवाह के समान माया का प्रवाह बहता है।

रोक न राखै झूठ न भाखै दादू खरचै खाय।
नदी पूर पुरवाह ज्यों माया आवै जाय॥

साधक विरक्त, विरागी होता है और प्रेमी भी। जो अनित्य है उसे वह वह जाने देता है। जो नित्य है वह प्रेम के बल से ही बना रहेगा। जो बह चला उसके पीछे पीछे दौड़ने से लाभ क्या।

दादू रहता राखिए बहता देय बहाय।
बहते संग न जाइए रहते सों लव लाय॥

ब्रह्म के स्वर से स्वर बाँध लेने पर सभी सहज हो जाते हैं। यही यथार्थ सेवा है। इसी सेवा-व्रत को ग्रहण करने के कारण पृथ्वी सस्य-श्यामला रहती है और रवि और शशि प्रकाशमान होते हैं, नहीं तो क्या धारित्री ने कोई साधन किया है? नील आकाश ने क्या संन्यास लिया है? किस साधना के बल से रवि और शशि ने ज्योतिरूपी अमृत प्राप्त किया है?

धरती का साधन किया अंबर कौन संन्यास।
रवि शशि किस आरम्भ तें अमर भये निज दास॥

सहज साधन का एक मात्र-मार्ग यही ब्रह्म के साथ स्वर मिलाना है। क्योंकि ब्रह्म 'महागुणी' है और उसकी यह सृष्टि ही संगीत है। इस विश्व को धूल-मिट्टी अथवा जड़-पुंज नहीं समझना चाहिए।

स्थूल दृष्टि से तो यही प्रतीत होता है, पर है यह परम शिल्प। उसी के स्वर-संगीत से आज भी विश्व में राग और वर्ण की छटा है। जो ओंकार आदि-संगीत है वह आज भी सभी घटों में—रूप आकार तथा सीमा में—बज रहा है। जो ब्रह्म है वह तो निरंजन है परन्तु यह ओंकार-संगीत ही उसका आकार है। जितने रंग और जितने रूप हैं सब इसी के विस्तार हैं।

आदि सबद ओंकार है बोलेंगे घट माहिं॥
सबद जरे सो मिलि एक रस पूरा
निरंजन निराकार है ओंकार आकार
दादू सब रंग-रूप सब सब विधि विस्तार॥

संगीत की यह सृष्टि सुखकर नहीं है। जिसके हृदय का आश्रय ग्रहण कर सौंदर्य, रस, संगीत की सृष्टि होती है उसके हृदय में अनन्त ज्वाला है। जब तक संगीत अपने को पूर्ण रूप से प्रकाशित नहीं करता तब तक मन में जो गुप्त गुंजन है वही दुःख है।

पार न देवै आपणा गुप्त-गुंज मन माहिं।

ब्रह्म स्वयं इसी ज्वाला में अहर्निश मग्न रहता। उसके मन का भाव असीम है। उसको सीमा और रूप में प्रकाश करना होगा। यह कम व्यथा नहीं है। ब्रह्म तो असीम और अरूप से अपने संगीत से रूप और सीमा के वैचित्र्य में आता है। साधक को उसी संगीत से सीमा और रूप से असीम और अरूप की ओर यात्रा करनी होगी। वह जिस पथ से आता है उसी पथ पर जाने से तो उसे कभी नहीं देख सकते। उसके साथ भेंट करने के लिए हमें उलटे पथ से जाना होगा। यही साधक की ज्वाला है। साधक के पास ससीम भाषा है। उसके छंद और स्वर में किसी प्रकार असीम के भाव व्यक्त करने होंगे। ससीम रेखा और वर्ण में असीम का भाव चित्रस्फुट करना होगा। यही विधाता से मिलने का संकेत है। इसी

लिए ब्रह्म-रस-पिपासु ब्रह्म की सृष्टि का अनुकरण न कर नये नये भाव-रस की सृष्टि करते हुए ब्रह्म की ओर अग्रसर होते रहते हैं। ब्रह्म की ज्वाला यह है कि हम सीमा से असीम को जाना चाहते हैं।

जरै सु नाथ निरंजन बाबा, जरै सु अलख अभेव।
जरै सु जोगी सब की जीवनि, जरै सु जग में देव॥
जरै सु आप उपावन हारा, जरै सु जगपति साईं।
जरै सु अलख अनूप है, जरै सु मरण नाहीं॥
जरै सु अविचल राम है, जरै सु अमर अलेख।
जरै सु अविगत आप है, जरै सु जग में एक॥
जरै सु अविगत आप है, जरै सु अपरम्पार।
जरै सु अगम अगाध है, जरै सु सिरजन हार॥
जरै सु निज निरकार है, जरै सु निज निर्धार।
जरै सु निर्गुण मई, जरै सु निज तन सार॥
जरै सु पूरण ब्रह्म है, जरै सु पूरण हार।
जरै सु पूरण परम गुरु, जरै सु प्राण हमार।
जरै सु जोति सरूप है, जरै सु तेज अनंत।
जरै सु झिलिमिलि नूर है, जरै सु पुंज रहंत॥
जरै सु परम प्रकाश है, जरै सु परम उजास।
जरै सु परम उदीत है, जरै सु परम विलास॥

साधक की यह ज्वाला उसकी आत्मा की विपुलता का प्रमाण है। साधक समस्त पृथ्वी को ग्रास करना चाहता है। उसकी आत्मा की क्षुधा अपरिमिति है। पवन, जल सभी को उसने पान कर लिया है। धारित्री, आकाश, चन्द्र, सूर्य, अग्नि ये पाँचों मिलकर उसके एक ग्रास-मात्र हैं।

पवना पानी सब पिया धरती अरु आकाश
चंद्र सूर पावक मिले पाँचों एक गरास।

इस असीम तृष्णा को एक-मात्र असीम भाव ही तृप्त कर सकता है, जिस भाव की न कोई सीमा पा सकता है और न जिसका कोई मूल्य है।

वार पार को ना लहै कीमति लेखो नाहिं।

इसी असीम भाव-रस से हमारी तृष्णा मिट सकती है। क्षुद्र, ससीम, सुख का रस-पान करने से यह तृष्णा मिटने की नहीं। इसीलिये दादू ने प्रार्थना की कि हे प्रभो, आकाश पूर्ण आलोक का प्याला भर भर कर दो।

अल्ला आले नूर का भरि भरि प्याला देहु।

उसे छोड़ कर हमारी इस तृष्णा को कौन दूर कर सकता है, क्योंकि हमारी यह तृष्णा उससे किसी प्रकार कम नहीं है। जैसे हमारे राम अपार हैं वैसे ही हमारी भक्ति भी अपार है। इन दोनों का कोई परिमाण नहीं है। जैसे निर्गुण राम हैं वैसे ही निरंजन हमारी भक्ति है। जैसे परिपूर्ण राम हैं वैसे ही हमारी भक्ति है।

जो आनन्द-रस का पान करते हैं उन्हें उसका मूल्य भी देना पड़ता है। जो आनन्द-लाभ किया जाता है उसी के संगीत में उसका मूल्य देना पड़ता है। कवि और कोविद की ज्वाला यही है।

सोई सेवक सब जरै जेता रस पीया।
दादू गुंज गभीर का परकास न कीया॥

अर्थात् जो आनन्द-रस का पान करते हैं उन्हें भी, जब तक उनके हृदय की गुंजन-ध्वनि बाहर व्यक्त नहीं होती जलन रहती है, किंतु आशा यही है कि ज्वाला और स्तुति ही इस अनित्य संसार का नित्य धन है। जिस आनन्द-धारा में साधक डूब जाते हैं उसकी तो इति हो जाती है, किन्तु साधक की ज्वाला नित्य संगीत-रूप विद्यमान रहती है।

जरणा जोगी जुग जीवै झरणा मरि मरि जाय।

साधना की सब से बड़ी बात यह है कि जो साधक होता है वह अपने को अपना नहीं जानता। जो अपने सम्बन्ध में खूब सचेत न रहता है, जो यह समझता है कि हम चरम तक पहुँच गये हैं उसके और कुछ होने की आशा नहीं रहती। जो मनुष्य उड़ता रहता है वह यह नहीं जानता कि हम चल रहे हैं। वह यही कहता है कि हमने तो यह रास्ता पकड़ लिया है। परन्तु जो यह कहते हैं हम पहुँच गये हैं और तुम सब इसी रास्ते से चले आओ उसने रास्ते को नहीं देख पाया है।

मानुष जब उड़ चालते कहते मारग माहिं।
दादू पहुँचे पंथ चल कहहिं सो मारग नाहिं॥

सच बात यह है कि जो यथार्थ गुरु हैं वे कोई नवीन पद्धति या पन्थ नहीं चलाते। वे मनुष्यों के स्वभाव-वैचित्र्य को समझते हैं, इस लिए उनके किसी एक पथ-विशेष पर चलने के लिए बाध्य नहीं करते। वे सभी के हृदय में नवीन प्रेम, नवीन आनन्द और नवीन आशा जागृत करते हैं। तब सभी अपने अपने भावों से अग्रसर होते हैं। यही मुक्तिदाता गुरु के लक्षण है, यही उनकी मुक्ति-दीक्षा है।

प्रकृति में अपरूप सौंदर्य की जो नित्य सृष्टि हो रही है उसका कारण यह है कि प्रकृति अज्ञ है। मनुष्य के लिए कठिनता की बात यह है कि वह सचेतन है। वह जब इसी अति-चेतना के सेतु से पार होकर परम आनन्द-सृष्टि में प्रवृत्त हो जाता है तब उसकी सृष्टि अरूप हो जाती है। प्रकृति का सौंदर्य देख कर नेत्र शीतल हो जाते हैं। आकाश में स्वामी बैठे हैं। असीम और अनन्त का हाल न जानकर भी पृथ्वी हरित वस्त्र धारण कर अरूप सौंदर्य की सृष्टि

कर रही है, नित्य नूतन श्रृंगार कर रही है। अपार और अनन्त पृथ्वी पुष्पिता और सफला वसुधा हो गई है। गगन के गर्जन से जल-स्थल पूर्ण हो गये। काल का मुख काला कर स्वामी हमारे लिए सदैव सुकाल (सुखमय) रहते हैं। हे दीनदयालो, तुम्हारे घर प्रेम का मेघ सघन हो गया है, अब तुम प्रेम-धारा बरसाओ—

अज्ञा अपरम्पार की बसि अम्बर भरतार
हरे पटम्बर पहिरि करि धरती करै सिंगार
वसुधा सच फूलै फलै पृथी अनंत अपार
गगन गरजि फल थल भरे दादू जयजयकार
काला मुँह करि काल का सांगे सदा सुकाल
मेघ तुम्हारे घर घना बरसहु दीन दयाल।

———

पाठ ७

प्रेमचन्द का महत्त्व

[डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी]

प्रेमचन्द के सम्बन्ध में जिज्ञासा का यह अर्थ है कि प्रेमचन्द ने दुनिया को क्या दिया है और इस दान में नवीनता या ताजगी क्या है; फिर प्रेमचन्द ने संसार को किस नये दृष्टि-कोण से देखा है और वह दृष्टि-कोण किस सत्य को अभिव्यक्त करता है क्योंकि आज की दुनिया में जिस लेखक के वक्तव्य और दृष्टि-कोण में कोई ताजगी नहीं, कोई ऐसी ताक़त नहीं जो हमारे पूर्ववर्ती संस्कारों और विचारों को झकझोर डाले तो उसके औचित्य को स्वीकार ही नहीं किया जाता। वह जमाना बीत गया जब लेखक सदा सशंक रहता था कि उसके विचार को कोई नया या श्रुति—बाह्य न कह दे, जब वह अपने नये से विचार में श्रुति—वाक्य को पुरानी खूँटी पर टाँग दिया करता था। अब जमाना बदल गया है। हम विचारों और वक्तव्य वस्तु की ताजगी की सबसे पहले जाँच करना चाहते हैं और आखिर प्रतिभा नव-नवोन्मेषशालिनी शक्ति को ही तो कहते हैं। किसी ग्रंथ या ग्रंथकार ने अगर पुरानी बातों को ही दुहराया तो हमारे लिये उसमें आकर्षण ही क्या रहा! परन्तु मैं साहस पूर्वक एक तीसरी वस्तु की ओर भी इशारा करना चाहता हूँ जो किसी ग्रंथ या ग्रंथकार के औचित्य की नियामक हो सकती है।

इस तीसरी वस्तु को जानने से पहले संसार की वर्तमान परिस्थिति को एक बार सोच कर देखें। विज्ञान की उन्नति से प्राचीन

काल में दुर्लंघ्य समझी जानेवाली प्राचीरों का पतन हो चुका है; देशों, राष्ट्रों और जातियों की संकीर्ण सीमाएँ टूट गई हैं। परन्तु जड़ सीमाएँ जितनी जल्दी टूटती हैं, चेतन सीमाएँ उससे अधिक समय लेती हैं। हमारे मध्य-युग के संस्कार उसी मात्रा में नहीं टूट पाए हैं और इसीलिये विज्ञान ने जहाँ जड़ सीमाओं को तोड़कर जातियों को अत्यन्त निकट कर दिया है, वहाँ प्राचीन संस्कारों के चश्मे से देखनेवाली जातियों में परस्पर गलतफ़हमी अविश्वास और जिज्ञासा के भाव अत्यन्त प्रबल हो गये हैं। आज से सौ वर्ष पहले संसार में इतनी जघन्य मारा-मारी, काटा-काटी नहीं थी। एक दूसरे के प्रति यह अविश्वास गलतफ़हमी से पैदा होता है। तीन दिन में सारे मुल्क का चक्कर लगा आनेवाले टूरिस्ट महानुभावों की पुस्तकें अग्नि में घी का काम करती हैं। गलतफ़हमी दिन-दूनी रात चौगुनी बढ़ रही है। बड़ी-बड़ी सरकारें इसे रोकने में असमर्थ हो गई हैं। रोकने में असमर्थ होकर वे अनुभव कर चुकी हैं कि न तो वे अपने देश के विषय में फैलाई हुई गलतफ़हमियों को दूर ही कर सकती हैं और न दूसरे के विषय में फैलाई हुई भ्रान्त धारणाओं का निराकरण ही। इसलिये वे स्वयं अपने देश को दूसरों की दृष्टि में उठाने के लिये असत्य बातों का प्रचार करने लगी हैं। वे घृणा को प्रेम, हिंसा को विश्वमैत्री और मानव-संहार को सभ्यता का प्रचार कहकर विज्ञापित करने लगी हैं। यह एक दूसरी बाधा खड़ी हो गई है, पर इतना ही नहीं है। यह मान लिया गया है कि अपने को दूसरों की दृष्टि में उठाने के लिए केवल आत्म-प्रशंसा ही पर्याप्त नहीं है, दूसरे की निन्दा भी आवश्यक है। इस तरह सुसंगठित साम्राज्यों के प्रचार विभागों ने और भी विष-बीज बो दिये हैं। इस बात को अगर अपने सामने रखकर विचार करेंगे तो आप हमारे साथ निश्चय ही एकमत होंगे कि जो ग्रंथ या ग्रंथकार किसी जाति को सच्चे रूप में उपस्थित

करता है, उसके गुण-दोषों को ईमानदारी के साथ अभिव्यक्त कर सकता है, वह संसार की सबसे बड़ी सेवा करता है। यही वह तीसरी वस्तु है जिससे मैं किसी ग्रंथ या ग्रंथकार के औचित्य का निर्णय करता हूँ। इस प्रकार प्रेमचन्द के सम्बन्ध में आपकी जिज्ञासा का अर्थ यह हुआ कि आप जानना चाहते हैं कि उन्होंने जिस साहित्य की सृष्टि की रचना की है उसके उपादान क्या हैं और उसको उन्होंने किस दृष्टि से देखा है और इन दोनों बातों में नवीनता क्या है। इसके सिवा तीसरी बात जो आप जानना चाहते हैं वह यह है कि इस लेखक के सृष्ट साहित्य में संसार में फैली हुई ग़लतफ़हमी को कम करने की ताक़त है या नहीं।

कोई भी महान् ग्रंथ अपने लेखक के दिमाग से, उसके हृदय से और उसके रक्त-माँस से निकला होता है, जैसा कि मिल्टन ने कहा है—"श्रेष्ठ साहित्य मानो किसी महान् आत्मा की अनमोल संजीवनी रक्त-शक्ति है।" इसीलिए ग्रंथ को जानने से पहले ग्रंथकार के व्यक्तित्व के साथ परिचय होना बहुत ज़रूरी है। विशेषकर प्रेमचन्द जैसे ग्रंथकार के विषय में, जो कल्पना द्वारा गढ़े हुए जीवों में विश्वास ही नहीं रखते थे, तो यह व्यक्तिगत परिचय नितान्त आवश्यक है। वे स्वयं कहते हैं कि "कल्पना के गढ़े हुए आदमियों में हमारा विश्वास नहीं है। उनके कार्यों और विचारों से हम प्रभावित नहीं होते। हमें इसका निश्चय हो जाना चाहिए कि लेखक ने जो सृष्टि की है, वह प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर की है, या अपने पात्रों की ज़बान से वह ख़ुद बोल रहा है।" इसके सिवा किसी रचना का सम्पूर्ण आनन्द पाने के लिए रचयिता के साथ हमारा घनिष्ट परिचय और सहानुभूति मनुष्यता के नाते भी आवश्यक है। हमें ग्रंथकार को व्यक्ति के रूप में ही पहले जानना चाहिए। आलोचक होने से पहले हमें उसका ऐसा विश्वसनीय मित्र होना चाहिए

जो उसकी बातों को सहानुभूति के साथ सुने। इसलिए आपकी जिज्ञासा को सन्तुष्ट करने के पहले प्रेमचन्द के व्यक्तित्व का एक साधारण सा परिचय दूँ तो मैं क्षम्य समझा जाऊँगा।

प्रेमचन्द का जन्म बनारस के पास ही एक गाँव में एक निर्धन परिवार में हुआ था। उन्होंने आधुनिक शिक्षा पाई नहीं थी, बटोर कर संग्रह की थी। मैट्रिक पास करते-करते उनकी आर्थिक स्थिति यहाँ तक पहुँच चुकी थी कि अपना निर्वाह वे पुरानी पुस्तकें बेचकर भी नहीं कर सकते थे। उन्होंने स्कूल में मास्टरी कर ली थी और स्कूलों के डिप्टी इंस्पेक्टर होने तक की अवस्था तक पहुँच चुके थे। महात्मा गान्धी की पुकार पर उन्होंने सरकारी नौकरी छोड़ दी और जीवन की अन्तिम घड़ियों तक कशमकश और संघर्ष का जीवन बिताया। वे दरिद्रता में जनमे, दरिद्रता में पले और दरिद्रता से ही जूझते-जूझते समाप्त हो गए। फिर भी वे अपने काल में समस्त उत्तरी-भारत के सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक थे। आप चाहें तो इस घटना से उस समाज की साहित्यिक क़द्रदानी का भी अन्दाज़ लगा सकते हैं जिसका सर्वश्रेष्ठ वे संसार को सुनाने के लिए व्याकुल थे। उन्होंने अपने को सदा मज़दूर समझा। बीमारी की हालत में भी, मृत्यु के कुछ दिन पहले तक भी वे अपने कमज़ोर शरीर को लिखने के लिये मज़बूर करते रहे। मना करने पर कहते "मैं मज़दूर हूँ, मज़दूरी किये बिना मुझे भोजन करने का अधिकार नहीं"। उनके इस वाक्य में अभिमान का भाव भी था और अपने नाक़द्रदान समाज के प्रति एक व्यंग भी। लेकिन असल में वे इसलिये नहीं लिखते थे कि उन्हें मज़दूरी करना लाज़िमी था बल्कि इसलिये कि उनके दिमाग में कहने लायक इतनी बातें आपस में धक्का-मुक्की करके निकलना चाहती थीं कि वे उन्हें प्रकट किये बिना रह ही नहीं सकते थे। उनके हृदय में इतनी वेदनाएँ, इतने विद्रोह-भाव, इतनी चिनगारियाँ भरी थीं कि वे

उन्हें सम्हाल नहीं सकते थे। उनका हृदय अगर इन्हें प्रकट न कर देता तो वे शायद और भी पहले बन्धन तोड़ देते। विनय की वे साक्षात् मूर्त्ति थे, परन्तु यह विनय उनके आत्माभिमान का कवच था। वे बड़े ही सरल थे, परन्तु दुनिया की धूर्तता और मक्कारी से अनभिज्ञ नहीं थे, उनके ग्रंथ इस बात के प्रमाण हैं। ऊपर-ऊपर से देखने पर अर्थात् राजा-महाराजा, सेठ-साहूकारों के साथ तुलना करने पर वे बहुत निर्धन थे, लोग उनकी इस निर्धनता पर तरस खाते थे, परन्तु वे स्वयं नीचे की ओर देखनेवाले थे। लाखों और करोड़ों की तादाद में फैले हुए भुक्खड़ों, दाने-दाने को और चिथड़े चिथड़े को मुहताज लोगों की वे ज़बान थे। उन्हें भी देखते थे इसलिये अपने को निर्धन समझकर हाय-हाय नहीं करते थे। इसको वे वरदान समझते थे। दुनिया की सारी जटिलताओं को समझ सकने के कारण ही वे निरीह थे, सरल थे। धार्मिक ढकोसलों को वे ढोंग समझते थे, पर मनुष्यता को वे सबसे बड़ी वस्तु समझते थे। उन्होंने ईश्वर पर कभी विश्वास नहीं किया फिर भी इस युग के साहित्यिकों में मानव की सद्वृत्तियों में जैसा अडिग विश्वास प्रेमचन्द का था वैसा शायद ही और किसी का हो। असल में यह नास्तिकता भी उनके दृढ़ विश्वास का कवच थी। वे बुद्धिवादी थे और मनुष्य की आनन्दिनी वृत्ति पर पूरा विश्वास करते थे। 'गोदान' नामक अपने अन्तिम उपन्यास में अपने एक पात्र के मुँह से वे मानों अपनी ही बात कह रहे हैं—'जो यह ईश्वर और मोक्ष का चक्कर है इस पर तो मुझे हँसी आती है। यह मोक्ष और उपासना अहंकार की पराकाष्ठा है, जो हमारी मानवता को नष्ट किए डालती है। जहाँ जीवन है क्रीडा है चहक है, प्रेम है, वहीं ईश्वर है और जीवन को सुखी बनाना ही मोक्ष है और उपासना है। ज्ञानी कहता है, होठों पर मुस्कराहट न आये, आँखों में आँसू न आये। मैं कहता हूँ अगर

तुम हँस नहीं सकते और रो नहीं सकते तो तुम मनुष्य नहीं पत्थर हो। वह ज्ञान जो मानवता को पीस डाले, ज्ञान नहीं कोल्हू है। ऐसे थे प्रेमचन्द—जिन्होंने ढोंग को कभी बर्दाश्त नहीं किया, जिन्होंने समाज को सुधारने की बड़ी बड़ी बातें सुझाई ही नहीं, स्वयं उन्हें व्यवहार में लाए; जो मनसा वाचा एक थे; जिनका विनय आत्माभिमान का संकोच महत्व का, निर्धनता निर्भीकता का, एकान्त-प्रियता विश्वासानुभूति का और निरीह भाव कठोर कर्तव्य का कवच था, जो समाज की जटिलताओं की तह में जाकर उसी टीमटाम और भभ्भड़पन का पर्दा फ़ाश करने में आनन्द पाते थे और जो दरिद्र किसान के अन्दर आत्म-बल का उद्घाटन करने को अपना श्रेष्ठ कर्तव्य समझते थे; जिन्हें कठिनाइयों से जूझने में मज़ा आता था जो तरस खानेवाले पर दया की मुस्कराहट बखेर देते थे, जो ढोंग करनेवाले को कसके व्यंग्यबाण मारते थे और जो निष्कपट मनुष्यों के चेरे हो जाया करते थे। जो मानो अपने विषय में कहते थे—'जिन्हें धन-वैभव प्यारा है, साहित्य-मन्दिर में उनके लिए स्थान नहीं है। यहाँ उन उपासकों की आवश्यकता है जिन्होंने अपने जीवन की सार्थकता सेवा में ही मान ली हो, जिनके दिल में दर्द की तड़प हो और मुहब्बत का जोश हो। अपनी इज्जत तो अपने हाथ है। अगर हम सच्चे दिल से समाज की सेवा करेंगे तो वर्तमान प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि हमारा पाँव चूमेगी। फिर मान-प्रतिष्ठा की चिंता हमें क्यों सतावे ? और इनके न मिलने पर हम निराश क्यों हों ? हमें समाज पर अपना बड़प्पन जताने, उस पर रोब जमाने की हविस क्यों हो ?........हम तो समाज का झण्डा लेकर चलनेवाले सिपाही हैं और सादी ज़िंदगी के साथ ऊँची निगाह हमारा लक्ष्य है। जो आदमी सच्चा कलाकार है, वह स्वार्थमय जीवन का प्रेमी नहीं हो

सकता, उसे अपनी मनस्तुष्टि के लिए दिखाव की आवश्यकता नहीं, उससे तो उसे घृणा होती है।"

प्रेमचन्द आत्माराम थे।

२

अब हमें एक-एक करके अन्य जिज्ञास्य वस्तुओं की जाँच करना है। सबसे पहिले यही विचार किया जाय कि प्रेमचन्द ने क्या कहा है, उन्होंने जिस कलात्मक वस्तु की रचना की है उसके मूल उपादान क्या हैं; क्योंकि आज की दुनियाँ में, जब कि हमें प्रत्येक बात के लेने में जल्दी करनी पड़ रही है, पहले यह जान लेना ही जरूरी है कि माल किस चीज़ का बना है। अर्थात् पहले हमें यह जान लेना होगा कि जो गहना हमारे सामने बन कर आया है, वह सोने का है या ताँबे का, फिर दूसरा प्रश्न हमारा यह होगा कि जिस चीज़ को दुनिया में अंगूठी या हार कहते हैं यह वही है या और कुछ। इसी तरह प्रधान बात यह है कि ग्रंथकार के वक्तव्य वस्तु का मौलिक उपादान क्या है? यह बात गौण है कि वह कहानी कहे जानेवाले साहित्य के अन्दर आता है या नाटक। अगर वह दुनिया भर के अब तक स्वीकृत हो चुके साहित्यिक नामों में न भी आता हो, कोई एकदम अभिनव ढंग की रचना हो, तो भी यदि वह खरे माल से बना होगा तो हमें पछताने की जरूरत नहीं रहेगी।

प्रेमचन्द शताब्दियों से पद-दलित, अपमानित और निष्पेषित कृषकों की आवाज़ थे। पर्दे में क़ैद, पद-पद पर लांछित और असहाय नारी-जाति की महिमा के जबरदस्त वकील थे। ग़रीबों और बेकसों के महत्व के प्रचारक थे। अगर उत्तर-भारत की समस्त जनता के आचार-विचार, भाव-भाषा, रहन-सहन, आशा-आकांक्षा, दुख-सुख और सूझ-बूझ को जानना चाहते हैं तो मैं आपको निःसंशय बता सकता हूँ कि प्रेमचन्द से उत्तम परिचायक आपको नहीं

मिल सकता। झोंपड़ियों से लेकर महलों तक, खोमचेवालों से लेकर बैङ्कों तक, गाँव-पंचायतों से लेकर धारा-सभाओं तक, आपको इतने कौशलपूर्वक और प्रामाणिक भाव से कोई नहीं ले जा सकता। आप बेखटके प्रेमचन्द का हाथ पकड़कर मेड़ों पर गाते हुए किसान को, अन्तःपुर में मान किये प्रियतमा को, कोठे पर बैठी हुई वारवनिता को, रोटियों के लिए ललकते हुए भिखमंगों को, कूट परामर्श में लीन गोयन्दों को, ईर्ष्यापरायण प्रोफेसरों को, दुर्बल-हृदय बैंकरों को, साहस-परायण चमारिन को, ढोंगी पण्डित को, फरेबी पटवारी को, नीचाशय अमीर को, देख सकते हैं और निश्चिन्त होकर विश्वास कर सकते हैं कि जो कुछ आपने देखा है वह गलत नहीं है, उससे अधिक सचाई से दिखा सकनेवाले परिदर्शक को अभी हिन्दी-उर्दू की दुनिया नहीं जानती। परन्तु सर्वत्र ही आप एक बात लक्ष्य करेंगे। जो संस्कृतियों और सम्पदाओं से लद नहीं गये हैं, जो अशिक्षित और निर्धन हैं, जो गंवार और जाहिल हैं, वे उन लोगों की अपेक्षा अधिक आत्म-बल रखते हैं और अधिक न्याय के प्रति सम्मान दिखाते हैं जो शिक्षित हैं, जो सुसंस्कृत हैं, जो सम्पन्न हैं, जो चतुर हैं, जो दुनियादार हैं, जो शहरी हैं। लेकिन यह बात जानकर आप प्रेमचन्द को गलत न समझें। पश्चिम में महायुद्ध के बाद जो एक 'प्रिमिटिविज्म' की हवा बही है, जिसमें यह वकालत की जाती है कि सभ्यता की ओर अग्रसर होना ही गलती है, जो मेक्सिको के सभ्यता-हीन आदिमाध्युषित अंचलों में जा छिपने को ही त्राण का एक मात्र रास्ता समझते हैं। जो पीछे की ओर लौटना ही श्रेयस्कर मानते हैं; उन प्रति-क्रिया-पंथियों की पंगत में प्रेमचन्द को नहीं बैठाया जा सकता। प्रेमचन्द मनुष्य की सद्वृत्तियों में विश्वास करते हैं। मनुष्य की दुर्वृत्तियों को वे अजेय तो समझते ही नहीं उनको भाव-रूप में स्वीकार करते हैं या नहीं इसी में सन्देह है। वे मानते हैं कि

जड़ोन्मुखी सभ्यता ने हमें जड़ता को ही प्रधान मानने की ओर प्रवृत्त किया है। हमने टीमटाम को भीड़-भब्भड़ को, दिखाव-बनाव को और दुनिया-दौलत को प्रधानता दी है। ये वस्तुएँ मनुष्य को न तो महान् बनाती हैं और न क्षुद्र, परन्तु ये मनुष्य के मन को दुर्बल कर देती हैं, आत्मा को सशंक बना देती हैं। आत्म-बल हर एक व्यक्ति में है, पर जड़ पूजा की अधिकता से वह अवरुद्ध हो जाता है। इसीलिए जो जितना त्याग कर सकता है अर्थात् जो जितना इस जड़िमा के बन्धन को तोड़ सकता है वह उतना ही महान् हो जाता है; आत्म-बल के बाधक कुश-कंटकों को उखाड़ फेंकने में वह उतना ही सफल होता है। जिनके पास ये बन्धन जितने ही कम होते हैं वे उतने ही जल्दी सत्य-परायण हो जाते हैं। 'रंगभूमि' का सूरदास शिक्षित और धनी विनय की अपेक्षा शीघ्र ही स्थायी आत्म-बल का अधिकारी है और ठीक यही बात 'ग़बन' के कुंजड़े और किसान-स्त्री के सम्बन्ध में लागू होती है। स्त्रियों में भी वह शक्ति पुरुषों की अपेक्षा अधिक होती है। क्योंकि वे पुरुषों के समान जड़-शिक्षा और जड़-सम्पद के बन्धनों से कम बंधी रहती हैं।

प्रेमचन्द ने अतीत गौरव का पुराना राग नहीं गाया और न भविष्य की हैरत-अंगेज़ कल्पना ही की। वे ईमानदारी के साथ वर्तमान काल की अपनी वर्तमान अवस्था का विश्लेषण करते रहे। उन्होंने देखा कि बन्धन भीतर का है, बाहर का नहीं। एक बार अगर ये किसान, ये ग़रीब यह अनुभव कर सकें कि संसार की कोई भी शक्ति उनको नहीं दबा सकती तो वे निश्चय ही अजेय हो जायें। बाहरी बन्धन उन्हें दो प्रकार के दिखाई दिये। भूतकाल की संचित स्मृतियों का जाल और भविष्य की चिंता से बचने के लिए संग्रहीत ईंट-पत्थरों का स्तूप। एक का नाम है संस्कृति और दूसरे का सम्पत्ति। एक का रथ वाहक है धर्म और दूसरे का राजनीति। प्रेमचन्द इन

दोनों को मनुष्यता के विकास का बाधक मानते हैं। एक जगह अपने एक मौजी पात्र (मेहता) के मुंह से कहलवाते हैं—"मैं भूत की चिन्ता नहीं करता, भविष्य की परवाह नहीं करता। भविष्य की चिन्ता हमें कायर बना देती है, भूत का भार हमारी कमर तोड़ देता है। हम में जीवन की शक्ति इतनी कम है कि भूत और भविष्य में फैला देने से वह और भी क्षीण हो जाती है। हम व्यर्थ का भार अपने ऊपर लादकर रूढ़ियों और विश्वासों तथा इतिहासों के मलवे के नीचे दबे पड़े हैं। उठने का नाम नहीं लेते। वह सामर्थ्य ही नहीं रही। जो शक्ति, जो स्फूर्ति मानव-धर्म को पूरा करने में लगानी चाहिये थी, सहयोग में, भाई-चारे में, वह पुरानी अदावतों का बदला लेने और बाप-दादों का ऋण चुकाने की भेंट हो जाती है।" लेकिन ग़रीब किसान और अल्पज्ञ वधुएँ इन दोनों से अपेक्षाकृत बची रहती हैं। इसीलिए उन्हें अपनी बाधाओं को दूर करने में देर नहीं लगती। पर यह बात नहीं है कि अमीर और शिक्षित इन बन्धनों में पड़े ही रहते हैं। प्रेमचन्द के अमीर और शिक्षित पात्र जब बन्धनों को तोड़ निकलते हैं तो विश्व वरेण्य हो जाते हैं। इसीलिए प्रेमचन्द को 'प्रिमिटिविस्ट' नहीं कहा जा सकता। वे शिक्षा और सभ्यता के नहीं, उनकी जड़ोन्मुखता के विरोधी थे।

प्रेमचन्द के मत से प्रेम एक पावन वस्तु है। वह मानसिक गंदगी को दूर करता है, मिथ्याचार को हटा देता है और नई ज्योति से तामसिकता का ध्वंस करता है। यह बात उनकी किसी भी कहानी और किसी भी उपन्यास में देखी जा सकती है। यह प्रेम ही मनुष्य को सेवा और त्याग की ओर अग्रसर करता है। जहाँ सेवा और त्याग नहीं वहाँ प्रेम भी नहीं है। वहाँ वासना का प्राबल्य है। सच्चा प्रेम सेवा और त्याग में ही अभिव्यक्ति पाता है। प्रेमचन्द का पात्र जब प्रेम करने लगता है तो सेवा की ओर अग्रसर होता है अपना

सर्वस्व परित्याग कर देता है। मालती ने प्रेम का अनुभव होते ही कहा था—"लेकिन तुम्हारा अमूल्य प्रेम पाकर भी मैं वही बनी रहूँगी, ऐसा समझकर तुमने मेरे साथ अन्याय किया। मैं इस समय कितने गर्व का अनुभव कर रही हूँ, यह तुम नहीं समझ सकते। तुम्हारा प्रेम और विश्वास पाकर मेरे लिए कुछ भी शेष नहीं रह गया है। यह वरदान मेरे जीवन को सफल कर देने के लिए काफी है। यही मेरी पूर्णता है।"

प्रेमचन्द ने बहुत विस्तृत क्षेत्र का चित्रण किया है। कहते हैं उन्होंने निम्न श्रेणी और मध्यम श्रेणी के पुरुषों और स्त्रियों को ही सफलता-पूर्वक चित्रित किया है। उच्च श्रेणी के चरित्रों को चित्रित करने में वे उतने सफल नहीं रहे। मैं ठीक नहीं जानता, मैं उस श्रेणी से ठीक-ठीक परिचित नहीं हूँ। अगर आप में से कोई उस श्रेणी के जानकार हों तो स्वयं इस बात की जाँच करें, परन्तु मैं इतना तो कह ही सकता हूँ कि उनके अधिकांश पात्र उसी श्रेणी के हैं जिनके चित्रण में उन्हें समर्थ बताया गया है और निम्न श्रेणी तथा मध्यम श्रेणी के पुरुषों और स्त्रियों से आपके यथार्थ परिचय का अर्थ है देश की वास्तविक समस्याओं की जानकारी। उन्हें जानकर ही आप अपनी ताक़त का अन्दाजा लगा सकते हैं—अपने गंभीर तत्त्व की मज़बूती या कमजोरी का पता लगा सकते हैं फिर वही ऐसे हैं जो शताब्दियों तक केवल उपेक्षित और पद-दलित ही नहीं रहे, परिहास और अपमान के पात्र भी बने रहे। हज़ारों वर्ष के भारतीय साहित्य में इनकी आशाओं, आकाँक्षाओं, सुख-दुखों और सूझ-बूझों की चर्चा नहीं के बराबर हुई है। ये ही हैं जो भारतवर्ष के मेरुदण्ड हैं, जिनके बनने बिगड़ने पर हमारा और इसीलिये सारे संसार का बनना बिगड़ना निर्भर है। अगर आप शहर के रहने वाले रईस हैं तो आपको एक अत्यन्त आश्चर्योद्रेचक जगत् का परिचय मिलेगा।

और अगर मेरे समान गाँव के निवासी हैं तो विश्वास कीजिए, आपको अपने सहवासियों को देखने के लिए नई आँख मिलेगी। आप इन हाड़-माँस की जीवित प्रतिमाओं से परिचय पाकर किसी प्रकार ठगे नहीं जायँगे।

लेकिन आप प्रेमचन्द में यदि किसी नये आदर्श की आशा करेंगे तो आपको निराश होना पड़ेगा। वे देश की मौलिक समस्याओं के समाधान में अपने युग के राजनीतिक नेताओं से बुरी तरह प्रभावित थे। पहले महात्मा गाँधी के आदर्शों को और बाद में समाजवाद के सिद्धान्तों को उन्होंने राष्ट्र की बुनियादी समस्याओं के समाधान का उपाय बताया, परन्तु आप शायद इन आदर्शों के लिए ऋणी होने को, मेरे समान, दोष हेतु नहीं मानेंगे और प्रेमचन्द की वास्तविक विशेषता का फिर भी सम्मान कर सकेंगे। जिस विचित्र युग में हम वास कर रहे हैं उसमें देश-विदेश के इतने आदर्शों से हमें टकराना पड़ता है कि एकाध नये आदर्शों के और मिल जाने से हमें कुतूहल नहीं होता और न मिलने से कोई पश्चात्ताप भी नहीं होता। हम जब आदर्शों को जीवन में व्यवहृत देखते हैं तो हमारी कुतूहल-वृत्ति जरूर आकृष्ट होती है। गाँधी में हमने आदर्शों को इसी जीवन्त रूप में देखा है। और प्रेमचन्द के पात्रों में भी हम आदर्शों और कल्पनाओं को इसी जीवन्त रूप में पाते हैं। यह जीवन में ढालकर आदर्श को सरस और हृदयग्राही बना देना ही प्रेमचन्द की विशेषता है। यह जीवन ही उनकी कृतियों में सर्वत्र छलकता हुआ मिलता है। औषधियाँ घर-बाहर सर्वत्र हैं, कुछ को हम जानते हैं कुछ को हम नहीं जानते पर जानते हों या न जानते हों, हम गाय के कृतज्ञ जरूर होंगे जिसने इन ओषधों को अपने जीवन में ढालकर सरस करके हमारे सामने रखा। हम आदर्शों को जीवन से छानकर सामने रखनेवाले प्रेमचन्द के भी निश्चय ही कृतज्ञ होंगे!

३

मेरे एक विनोदी मित्र ने एक दिन अचानक एक प्रश्न किया। कल्पना करो रवीन्द्रनाथ, शरत्चन्द्र और प्रेमचन्द तीनों ही परीक्षा हॉल में बैठे हैं। मैं प्रश्न-कर्ता हूँ; तुम परीक्षक हो। तीनों को मैं एक-एक कहानी लिखने को देता हूँ। कहानी ऐसी हो जो रुला दे। पर परीक्षक को रोना हो या हंसना उसे केवल बीस-बीस मिनट का समय दिया जायगा। अब बताओ किसकी कहानी पढ़कर तुम कितनी देर रो सकते हो ? मैं मानता हूँ कि सवाल वेढंगा था और किसी भी समझदार आदमी को इसका उत्तर देने में हिचकना चाहिए था। पर मैं तो परीक्षक बना दिया गया था और परीक्षार्थी चाहे कोई भी हो मुझे निर्धारित समय के भीतर एक फैसला कर देना था। परीक्षाओं का यही सिलसिला है। इसे तोड़ने पर विश्वविद्यालय तक परीक्षकों पर जुर्माना करते हैं। मैंने भी अपना फैसला दे दिया। बोला—"रवीन्द्रनाथ की कहानी पढ़कर पाँच मिनट रोऊंगा, पन्द्रह मिनट सोचूँगा, शरत्चन्द्र की कहानी पढ़कर सत्रह मिनट रोऊँगा, तीन मिनट सोचूँगा और प्रेमचन्द की कहानी पढ़कर दस मिनट रोऊँगा, दस मिनट सोचूँगा।" यह जवाब भी सवाल के समान ही वेढंगा था। पर इस बात में मेरा अनुभव तो कुछ-कुछ था ही इसलिये इस वेढंगे सवाल-जवाब में भी एक सत्य जरूर रहा होगा। मैं स्वीकार करता हूँ कि वह सत्य मेरा अपना होगा। दूसरे मुझसे सहमत नहीं भी हो सकते हैं। आज जब मुझे अपना ही विचार प्रकट करना है तो मैं उस सत्य को कहने में संकोच नहीं करूँगा।

रवीन्द्रनाथ के पात्र खास-खास मनोवृत्तियों के प्रतीक होते हैं, वे हमारे मानसिक स्तर पर निरन्तर आघात ही करते रहते हैं, हम सोचते हैं, सोचते हैं और सोचते ही चले जाते हैं। जिस प्रकार वीणा के एक तार पर आघात करने से उसके अन्य सभी तार अनु-

रणित हो उठते हैं, उसी प्रकार ये पात्र हमारी मनो-वीणा को सम्पूर्ण झंकृत कर जाते हैं। उनमें हम नाना मनोवृत्तियों के घात-प्रतिघात जीवित रूप में देखते हैं, परन्तु शरत्चन्द्र के पात्र व्यक्ति होते हैं, वे हमारे अत्यन्त निकट के सगे-सम्बन्धी हो जाते हैं, उनके सुख-दुख में हम बुरी तरह उलझ जाते है। उनकी विपत्ति को हम व्यक्तिगत रूप में प्रगाढ़ भाव से अनुभव करते हैं। उनके दुख से हमारा हृदय विदीर्ण हो जाता हैं, उसकी सान्त्वना से हम आश्वस्त हो जाते हैं—यह बात हम करीव-करीब भूल जाते हैं कि उसीके समान और भी अभागे इस दुनिया में हैं और हो सकते हैं, परन्तु प्रेमचंद के पात्र न यह हैं, न वह। वे श्रेणियों का, वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनके दुख में हम व्यक्तिगत दुख नहीं समझते, उन पर चलाए गए व्यंग्य-बाणों से उतने नहीं तिलमिला जाते, न तो उनके प्राप्त किये हुए सुखों का हम प्रगाढ़ आनन्द के साथ अनुभव करते हैं और न दुखों से एकान्त अधीर हो जाते हैं। हम हमेशा सोचने लगते हैं कि क्या हुआ इस वर्ग का एक आदमी अपने किए का फल पा गया तो ? या अपने सौभाग्य से बेड़ा पार कर गया तो ? ऐसे तो बहुत हैं। 'प्रतिज्ञा' की पूर्णा यद्यपि विधवाश्रम के घरोंदे को मंदिर कल्पना करके शान्ति पा गई पर 'प्रतिज्ञा' का पाठक आश्वस्त नहीं हुआ। वह बराबर अनुभव करता रहा और पुस्तक समाप्त कर और भी व्याकुल भाव से अनुभव करने लगा कि अभी तो इस देश में ऐसी लाखों पूर्णाएँ पड़ी हुई हैं। उनका क्या होगा ? कमलाप्रसाद सभा में विधवा-विवाह के विरुद्ध इतना बोलता है और घर में अपनी ही आश्रित विधवा का सर्वनाश करना चाहता है। घटनाचक्र उसे सुधार देता है, परन्तु पाठक सोचता ही रह जाता है कि कमलाप्रसाद की समाज में कमी तो नहीं है। बात यही है कि 'पूर्णा' और 'कमलाप्रसाद' कोई व्यक्ति नहीं बल्कि अपनी

समूची श्रेणी के प्रतिनिधि हैं। उनके व्यक्तिगत सुधार या सान्त्वना से भी मामला शान्त नहीं हो जाता, वह और भी उत्कट रूप में हमारे सामने खड़ा हो जाता है।

जब मैं कहता हूँ कि प्रेमचन्द के पात्र वर्गों या श्रेणियों के प्रतीक हैं तो मैं उसका जो अर्थ समझता हूँ उसे जरा और खोलकर समझाने की जरूरत है। हमारा मतलब उस वर्ग चेतना या 'क्लास कॉन्शसनस' से नहीं है जिसकी चर्चा आज हर गली-कूचे में आपको सुनने को मिल जायगी, जो साधारणतः आर्थिक कारणों से संभव हुई है और जिसके दो मोटे-मोटे विभाग शोषक शोषित वर्ग हैं। स्वयं प्रेमचन्दजी के दिमाग में इन वर्गों का संघर्ष अन्तिम काल में निश्चित और परिपक्व आकार ग्रहण करने लगा था। पर यही बात उनकी आरम्भिक रचनाओं में नहीं है, यद्यपि इसके बीज उसमें ढूंढने पर निश्चय ही मिल जायँगे। प्रेमचन्द के दृष्टि-कोण को समझने के लिए आप सभ्यता के विकास को समझिए—केवल आर्थिक विकास को नहीं, उसके सार्वत्रिक विकास को। आप अगर इसका वर्गीकरण करके देखेंगे तो आपको कोइ सन्देह नहीं रहेगा कि मानव-समाज में नाना प्रकार के समूहों का विकास होते-होते हम इस अवस्था में आ पड़े हैं। एक मामूली-सा उदाहरण लीजिए। एक ईमानदार और दयापरायण धनी आदमी है। वह अपनी सारी सम्पति ले जाकर एक आश्रम की स्थापना करता है। मान लीजिए वह ब्रह्मचर्याश्रम है और उसमें पढ़ाने-लिखाने से लेकर दण्ड-मुग्दर तक की व्यवस्था है। वह उदार संस्थापक अपने लिए जैसा बंगला बनाता है, वैसा ही अन्यान्य अध्यापकों के लिए भी बनवाता है, पर वही आदमी चपरासियों के लिए एक मामूली-सी बना देता है। यह वैषम्य जरूर है, पर यह वैषम्य किसी को खटकता नहीं, उस उदार संस्थापक को भी नहीं, बाहरी दर्शक

को भी नहीं और चपरासी को भी नहीं। इसका कारण यह है कि हमारे रक्त में यह संस्कार घुल-मिल गया है कि चपरासियों का एक वर्ग है और उनके लिए मामूली झोपड़ियाँ पर्याप्त हैं और अध्यापकों तथा शिक्षित लोगों का एक दूसरा वर्ग है जिनको इन झोपड़ियों से अधिक उत्तम बंगलों की जरूरत है। इसमें न्याय--अन्याय की बात मैं नहीं कह रहा हूँ। मैं केवल इतना ही कह रहा हूँ कि हज़ारों वर्ष से जो समूह रूप में हमारा विकास होता है उसके कारण हमारे व्यक्तित्व के साथ ही साथ इस प्रकार की वर्ग-चेतना भी अनजान में विकसित हो रही है। पूर्ववर्ती उदाहरण बहुत सहज है, पर मनुष्य के भीतर यह चेतना बहुत जटिल हो गई है। यह वर्ग-चेतना नाना रूप में विकसित होती है। एक ही आदमी के भीतर सैकड़ों प्रकार की वर्ग-चेतनाएँ काम करती हैं, वह हिन्दू है, वह शिक्षित है, वह नास्तिक है, वह कॉंग्रेसमैन है, वह शोषित है, वह छायावादी है और न जाने और भी कितना कुछ है। ये चेतनाएँ सदा सामंजस्यमय नहीं होतीं। इनके अन्दर परस्पर-विरोध भी होता है और इस विरोध से ही मनुष्य का जीवन विचित्र हो उठता है। प्रेमचन्द ने इन वर्गों को ही चित्रित किया है और इसीलिये वे जड़ सभ्यता की सर्जरी में इतने सिद्ध-हस्त हो सके हैं। उन्होंने उसकी नाड़ी पहचानी है। हम उनके पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व में सभ्यता का वास्तविक रूप प्रत्यक्ष देखते हैं, वर्ग-चेतनाओं के परस्पर टकराने में जो एक अभूतपूर्व ज्योतिः-स्फुलिंग निर्गत होता है, वही प्रेमचन्द की समस्त कारीगरी की जान है। इन्हीं चिनगारियों से वे दुर्वृत्तियों को जलाने में समर्थ होते हैं।

अन्तिम काल में, प्रेमचन्द ने नाना वर्ग-संघर्षों में से आर्थिक संघर्ष को ही प्रधान मान लिया, ऐसा जान पड़ता है। यदि आप आधुनिक सभ्यता के वर्तमान रूप का विचार करें तो आप भी शायद आर्थिक संघर्ष की प्रधानता स्वीकार करेंगे। योरप के 'इन्ड-

स्ट्रियल रिवोल्यूशन' के बाद का इतिहास शासक और शासितों के संघर्ष का इतिहास है, आज की दुनिया में वह अपने कुत्सिततम रूप में प्रकट हुआ है। प्रेमचन्द को इस संघर्ष में दुनिया की अधिकांश बुराई निहित दिखी तो उसमें उनका दोष नहीं। यह लक्ष्य करने की बात है कि उनका यह विचार बुद्धि से नोच-खरोंच कर नहीं निकाला गया था, वह उनके जीवन का अनुभव था। गांव के किसानों को उनसे अधिक कोई नहीं जानता था, उन्होंने तड़पतेहुए हृदय के साथ देखा था कि—गाँव में—"ऐसा एक आदमी भी नहीं जिसकी रोनी सूरत नहीं, मानों उनके प्राणों की जगह वेदना ही बैठी उन्हें कठपुतली की तरह नचा रही हो, चलते-फिरते थे, काम करते थे, पिसते थे, घुटते थे, इसलिये कि पिसना और घुटना उनकी तक़दीर में लिखा था। जीवन में न कोई आशा है न कोई उमंग जैसे उनके जीवन के सोते सूख गये हों और सारी हरियाली मुरझा गई हो। जेठ क दिन हैं, अभी तक खलिहानों में अनाज मौजूद है, मगर किसी के चेहरे पर खुशी नहीं है। बहुत कुछ तो खलिहानों में ही तुलाकर महाजनों और कारिन्दों की भेंट हो चुका है और जो कुछ बचा है वह भी दूसरों का है। भविष्य अन्धकार की भाँति उनके सामने है। उसमें उन्हें कोई रास्ता नहीं सूझता। उनकी सारी चेतना शिथिल हो गयी है। द्वार पर मनों कूड़ा जमा है, दुर्गन्ध उड़ रही है, मगर उनकी नाक में न गंध है, न आँखों में ज्योति। सरे शाम से द्वार पर गीदड़ रोने लगते हैं मगर किसी को भय नहीं। सामने जो कुछ मोटा-झोटा आ जाता है वह खा लेते हैं, उसी तरह जैसे इंजन कोयला खा लेता है। उनके बैल चूनी-चोकर के बिना नाँद में मुंह नहीं डालते मगर केवल पेट में डालने को कुछ चाहिए, स्वाद से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं। उनकी रसना मर चुकी है, उनके जीवन में स्वाद का लोप हो गया है। उनसे धेले-धेले के लिए बेई-

मानी करवा लो, मुट्ठी भर अनाज के लिए लाठियाँ चलवा लो, पतन की वह इन्तिहा जब आदमी शर्म और इज्जत को भी भूल जाता है।"

यह किसानों की सच्ची कहानी है, बुद्धिमूलक नहीं, अनुभव-मूलक। स्पष्ट ही इस भयंकर दुर्दशा का कारण आर्थिक विषमता है और जैसाकि ऊपर के उद्धरण में उन्होंने निर्देश किया है, वह नैतिक पतन के लिए भी जवाबदेह है। आप विचार कर देखें तो किसानों के नैतिक अधःपतन का अर्थ समूची जाति का अधःपतन है। देशके नब्बे प्रतिशत तो वे ही हैं। प्रेमचन्द का कोमल हृदय इससे तड़प उठा था। ऊपर का वर्णन उनके रोएँ-रोएँ को छेद कर निकला है। उसमें दर्द है, सहानुभूति है, वेदना है। वह उनका हृदय मानों रोकर मालती के शब्दों में कह रहा था— "संसार में अन्याय की, आतंक की, भय की दुहाई मची हुई है। अन्ध-विश्वास का, धर्म का, स्वार्थ का प्रकोप छाया हुआ है। तुमने वह आर्तनाद सुनी है। तुम भी न सुनोगे तो सुननेवाले कहाँ के आवेंगे और असत्य प्राणियों की भाँति तुम भी उसकी ओर से अपने कान बन्द नहीं कर सकते।"

पर वर्ग-चेतनाओं में आर्थिक वर्गों के संघर्ष की चेतना को उन्होंने प्रधान माना तब भी, नहीं माना तब भी, वे जीवन की सफलता,सेवा और त्याग में ही मानते रहे। मुक्ति के इसी एक रास्ते का उपदेश उन्होंने अन्त तक दिया। वर्ग-रूप में व्यक्ति को देखना प्रेमचन्द की विशेष दृष्टि थी और संघर्ष में सहयोग के द्वारा ही शान्ति—प्राप्ति उसकी चरम साधना थी। उन्होंने संघर्ष को अस्वीकार नहीं किया पर यह सदा मानते रहे कि संघर्ष का अन्त संघर्ष से नहीं, सेवा और त्याग से, एका और सहयोग से हो सकता है। और भी बहुत-सी पुरानी बातों ने नया अवतार प्रेमचन्द के ग्रन्थों में लिया है। धर्म-ग्रन्थों में हमने बहुत से उपदेश पढ़े हैं, पर प्रेमचन्द जब उनको

प्रत्यक्ष करके खड़ा कर देते हैं तो हम आश्चर्य से उनकी ओर देखते रह जाते हैं, मानों उन्हें कभी देखा सुना ही न हो। वासना का अंत वासना से नहीं, द्वेष का अन्त द्वेष से नहीं, घृणा का अन्तघृणा से नहीं, लालसा का अन्त लालसा से नहीं बल्कि प्रेम से होता है, यह बात प्रेमचन्द ने बहुत प्रकार से बताई है। नये जीवन-रस में स्नान करने पर उनकी प्राचीनता की धूल धुल गई है। उनके शब्द जो उन्होंने मेहता के मुँह से कहाए हैं, सीधे हृदय पर चोट करते हैं— "जिसे तुम प्रेम कहती हो वह धोका है। उद्दीप्त लालसा का विकृत रूप है, उसी तरह जैसे संन्यास भीख माँगने का संस्कृत रूप है। वह प्रेम अगर वैवाहिक जीवन में कम है तो मुक्त—विलास में बिलकुल नहीं है। सच्चा आनन्द, सच्ची शान्ति केवल सेवा-व्रत में है। वही अधिकार का स्रोत है, वही शक्ति का उद्‌गम है। सेवा ही वह सीमेंट है जो दम्पति को जीवन-पर्यन्त स्नेह और साहचर्य में जोड़े रख सकता है। जिस पर बड़े-बड़े आघातों का कोई असर नहीं होता। जहाँ पर सेवा का अभाव है वहीं विवाह–विच्छेद है, परित्याग है, अविश्वास है।" क्या मेरे ही साथ आप नहीं मानते कि इस द्वन्द्व-जर्जर युग के लिए इससे बढ़कर अमृत–सन्देश और कुछ नहीं ?

४

मगर इन सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रेमचन्द के अध्ययन से आप उत्तरी भारतवर्ष को जान सकते हैं। आप उसके निम्न और मध्य श्रेणी—(मैं श्रेणी की बात कर रहा हूँ व्यक्ति की नहीं) का जैसा सुन्दर और विश्वसनीय परिचय आपको इस ग्रन्थकार के जरिए मिलेगा वैसा और किसी के जरिए नहीं मिलेगा—आप बड़े-बड़े आन्दोलनों को समझ सकेंगे, कैसे वे रंग बाँधते हैं, कैसे जोर पकड़ते हैं, कैसे ढीले पड़ते हैं और कैसे असफल हो जाते हैं। आप आन्दोलन करनेवालों को समझ सकते हैं, किस लाचारी की हालत

में वे आन्दोलन करते हैं, कैसे मरिया होकर लड़ते हैं, किस प्रकार फिसलते हैं, किस प्रकार अपार अन्धकार में भटक-भटक कर मर जाते हैं। आप आन्दोलन करानेवालों को समझ सकते हैं, उनमें कुछ स्वार्थी होते हैं, कुछ व्यक्तिगत मनमुटाव का फायदा उठाने वाले होते हैं, कुछ प्रेमी होते हैं, कुछ किसी अदृश्य व्यक्ति के इशारे पर नाचनेवाले होते हैं। आप आन्दोलन को दवानेवालों को भी समझ सकते हैं, उनकी गुटबन्दियों को, उनके नीचाशय गुर्गों को, उनकी अधोमुखी नैतिकता को, उनकी मेरु-दंड-हीन न्याय-परायणता को आप प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं। आप उत्तर-भारत के अन्तःपुरों में घुसकर देखेंगे कि इस स्थान की हाव-भाव हेला ने, ईर्ष्या-असूया ने, प्रेम-प्रीति ने किस प्रकार समाज के वाह्य हलचलों में विशेषता ला दी है। आप हुक्कामों के दिलों में बैठ कर शासन-यन्त्र के रहस्य को समझ सकते हैं। दफ्तरों की आलमारियाँ खोल कर अपनी पराधीनता का लेखा-जोखा समझ सकते हैं। वेश्यालयों के भीतर जाकर समाज की सड़ी हुई आचारनिष्ठा का पता पा सकते हैं—आप सारे समाज को आयने में की भाँति प्रत्यक्ष देख सकते हैं। आप देखेंगे कि छोटी-छोटी घटनाएँ कितने बड़े परिणाम की वाहिका हैं। सारी जाति को नीचे से ऊपर तक, उसके सब गुण-दोषों के साथ देखने के लिये आपके पास दूसरा साधन नहीं। चुभते हुए व्यंग्य-बाण आपको सदा सचेत किए रहेंगे, अर्थान्तरन्यासात्मक उक्तियाँ आपको सहलाती चलेंगी, फड़कती हुई भाषा आपको आगे धकेलती जायगी। वक्तव्य विषय का वर्गीकरण आपको उल्लसित करता रहेगा। आप समूचे समाज को बड़ी आसानी से, फिर भी बड़ी गहराई तक, देख सकेंगे, विचार कर सकेंगे और समझ सकेंगे।

साधारण जनता के अन्तस्तल में पहुँच कर उसे दुनिया के सामने विवृत करने में प्रेमचन्द कमाल करते हैं। वे ग़रीबों से इस प्रकार

घुलमिल गए थे कि पैसेवालों के प्रति एक गहरी उपेक्षा उनके वैयक्तिक जीवन में आ गई थी। एक व्यक्तिगत पत्र में वे लिखते हैं- "जो व्यक्ति धन-सम्पदा में विभोर और मग्न हो, उसके महान् पुरुष होने की मैं कल्पना नहीं कर सकता। जैसे ही मैं किसी आदमी को धनी पाता हूँ, वैसे ही मुझपर उसकी कला और बुद्धिमत्ता की बातों का प्रभाव काफ़ूर हो जाता है। मुझे जान पड़ता है कि इस शख्स ने मौजूदा सामाजिक व्यवस्था को—उस सामाजिक व्यवस्था को, जो अमीरों द्वारा ग़रीबों के दोहन पर अवलम्बित है—स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार किसी भी बड़े आदमी का नाम जो लक्ष्मी का दयापात्र भी हो, मुझे आकर्षित नहीं करता। बहुत मुमकिन है कि मेरे मन के इन भावों का कारण जीवन में मेरी निजी असफलता ही हो। बैंक में अपने नाम में मोटी रकम जमा देख कर शायद मैं भी वैसा ही होता, जैसे दूसरे हैं—मैं भी प्रलोभन का सामना न कर सकता; लेकिन मुझे प्रसन्नता है कि स्वभाव और किस्मत ने मेरी मदद की है और मेरा भाग्य दरिद्रों के साथ सम्बद्ध है। इससे मुझे आध्यात्मिक सान्त्वना मिलती है।" अर्थात् दरिद्रता की वकालत करना, उसे लोक-चक्षु-गोचर करना प्रेमचन्द का मनोरंजन या बुद्धि-विलास नहीं था। वह उनके जीवन का चरम लक्ष्य था। उसमें वे आध्यात्मिक सन्तोष पाते थे। वे उनको अलग रखकर दूर से आर्थिक तत्व-चिंतक की भाँति नहीं देखते थे, अपने को उनमें घुला-मिला कर, मानों अपना ही कलेजा चीरकर रख देते थे। कहना व्यर्थ है कि इस आदमी को आप इस कार्य के लिए विश्वासपूर्वक साथी बना सकते हैं। वह आपको जाति और समाज की बुनियादी समस्याओं को ठीक-ठीक समझा सकेगा। आपके चित्त में इन मूक जनों को जीवित मनुष्य के रूप में उपस्थित करेगा। ईंट-पत्थर की मूर्ति के

रूप में नहीं। इनको जानकर आप समूचे देश को जान सकेंगे और अपने आपको भी जान सकेंगे।

मेरी दृष्टि में इसका बड़ा मूल्य है। आज के पारस्परिक अविश्वास, ईर्ष्या और अहम् के युग में बड़ी सख्त जरूरत है कि आप मुझे और मैं आपको ठीक-ठीक समझूँ। इसे न समझने के कारण ही दुनिया में अन्याय है, आतंक है, वीभत्सता है। हर एक व्यक्ति को अपने इर्द-गिर्द के संस्कारों से रूप मिलता है, उसके विकास में एक इतिहास निहित रहता है। यही व्यक्ति समाज की रचना करते हैं। इसलिये समूचे समाज को समझने के लिए उनके प्रतिनिधिमूलक व्यक्तियों की जानकारी आवश्यक है। प्रेमचन्द ने आपको वही जानकारी की आँख दी है।

परन्तु मैं यह समझता हूँ आप किसी ग्रन्थकार को केवल उसके वक्तव्य-वस्तु के जाचने पर ही अधिक जोर न देंगे। यह जरूर है कि उसका वक्तव्य ही प्रधान वस्तु है। पर साथ ही उसके देश-काल का भी ध्यान रखना चाहिए। यह भी खयाल करना चाहिए कि उक्त ग्रन्थकार ने किस काल में किस समाज को वह वस्तु दी है। कहना फिजूल है कि अवस्था-विशेष में वस्तु विशेष की कीमत बढ़ जाती है। वास्तव में तुलसीदास और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बाद प्रेमचन्द के समान सरल और जोरदार हिन्दी किसी ने लिखी ही नहीं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी का रूप ही भर दिया था। प्रेमचन्द के आविर्भाव पहले हिन्दी में कथा-साहित्य के नाम पर कुछ तिलस्माती कहानियाँ और कुछ बंगला से अनूदित या उन्हींकी नकल पर की हुई औपन्यासिक रचनाएं भर थीं और जैसा कि उन्होंने स्वयं लिखा है, "हमारे साहित्यकार कल्पना की एक सीढ़ी खड़ी कर उसमें मनमाने तिलस्म बाँधा करते थे। कहीं किसी अजायब की दास्तान थी और कहीं चन्द्रकान्ता संतति की। इन आख्यानों का उद्देश्य

केवल मनोरंजन था और हमारे अद्‌भुत-रस-प्रेम की तृप्ति। साहित्य का जीवन से कोई सम्बन्ध है, यह कल्पनातीत था। कहानी कहानी है; जीवन, जीवन। दोनों परस्पर विरोधी वस्तुएँ समझी जाती थीं।" इसी समय प्रेमचन्द का आविर्भाव हुआ। भाषा में बंगला का अनुकरण केवल शब्दों और मुहावरों में नहीं, नामों और विचारों तक में किया जा रहा था। प्रेमचन्द ने पहले पहल इन काल्पनिक घरौंदों को ठोकर मार कर तोड़ दिया। उन्होंने हिन्दी को हर प्रकार से हिन्दी किया। उनके पात्र, उनके विचार, उनका दुख-सुख सब वास्तविक था, उधार लिया हुआ और नकली नहीं। उन्होंने उर्दू-हिन्दी के भेद को कम कर दिया और भाषा में नई प्राण-शक्ति फूंक दी।

लेकिन मेरे इस कथन का अर्थ यह नहीं कि प्रेमचन्द को हिन्दी भाषा की चहारदीवारों के फ्रेम में बैठा कर ही उनके महत्व को समझें। मैं केवल इतना ही कहता हूँ कि उनको ऐसा देख सकने पर आप उन्हें और भी उज्ज्वल रूप में देख सकेंगे। साथ ही इस बात को मैं इसलिए भी कह रहा हूँ कि आपको निश्चय दिला दूँ कि प्रेमचन्द का साहित्य अगर आप उत्तर भारत की जनता के परिचय पाने की गरज से पढ़ें तो आपको उसमें कहीं भी अनुकरण और उधार की प्रवृत्ति नहीं मिलेगी।

आज के शिक्षित और विद्वान् अपनी मातृभाषा को भी अंग्रेजी साँचे में ढालकर बोलते हैं; वे सोचते अंग्रेजी में और लिखते हिन्दी में हैं। प्रेमचन्द में यह दोष नहीं है। वे ऐसी ही भाषा अपने पात्रों के मुँह से कहवाते हैं जो उनकी है। विचार भी उन्हीं के हैं, व्याख्या ग्रन्थकार की होती है।

———

पाठ ८

साधना

[श्री रायकृष्णदास]

[रायकृष्णदास (ज० १८९८ ई०) कलाप्रेमी सहृदय साहित्यिक हैं। भारत कलाभवन, जो भारतीय ललितकला तथा पुरातत्व का महान् संग्रहालय है, आपकी आजीवन साधना का प्रतीक है। हिंदी प्रदेश का यह एकमात्र महत्वपूर्ण संग्रहालय बहुत वर्षों तक नागरीप्रचारिणी सभा के तत्वावधान में चलता रहा और अब हिंदू विश्वविद्यालय काशी की संरक्षिता में चला गया है। रायसाहब ने भारतीय चित्रकला तथा मूर्त्ति-कला पर प्रामाणिक ग्रन्थ भी लिखे हैं। विशुद्ध साहित्य के क्षेत्र में प्राय गद्यकाव्य शैली के प्रवर्त्तक हैं। आप सहृदय कवि तथा लेखक भी हैं, प्रस्तुत उद्धरण 'साधना' शीर्षक आपके प्रसिद्ध गद्यकाव्य ग्रन्थ से लिए गए हैं।]

हे नयनरञ्जन नीरद, तू सन्तप्तों को शीतल करने के लिए अपने आप को बरस देता है। यह तन की साधना मैं तुझसे सीखता हूँ।

हे मानस, तू निरन्तर मोती के समान उज्ज्वल, निर्मल और रम्य तरंगें उठाया करता है, जिनके सुख में मग्न हो कर सुवर्ण-सरोज झूमा करते हैं और निरन्तर तुझे मकरन्द-दान देते रहते हैं। तू उसे सादर ग्रहण करके फिर उन्हीं के समूल नाल पुष्ट करने में प्रयुक्त करता है। जब समस्त सर पङ्किल और राजहंस विकल हो उठते हैं। तब उन्हें तेरे सिवा कौन आश्रय दे सकता है ? यह मानसी साधना मैं तुझसे सीखता हूँ।

हे पादप, फलों के बोझ से तू झुक जाता है और तेरी डालें टूटने लगती हैं। पर तू अपना नियम नहीं छोड़ता। क्योंकि बुभुक्षितों को तृप्त करके उनकी आँखें खोलना तेरा प्रण है। बुद्धि की सफलता भी यही है। और, इसे मैं तुझसे सीखता हूँ।

चातक, तू अपनी ज्वलन्त कामनाओं को सब ओर से एकत्र करके एक स्वाति की बूँद पर लगाता है और तू अपनी 'धुन' का इतना पक्का है कि साल भर उसी की रट लगाये रहता है और उसी एक बूँद से अमृत पान के समान छक जाता है। तेरी उस पर इतनी अनुरागमयी प्रबल कामना है कि तू उसमें मिल कर अपने अहम्भाव का अभाव नहीं कर देता। वरन् केवल इसी लिए आत्मभाव बनाये रखता है कि निरन्तर उसकी आशा और लाभ के आनन्द का सुख लूटा करे। यह अहम्भावमयी कामना की साधना में तुझसे सीखता हूँ।

और मेरी इन सब साधनाओं का उद्देश्य क्या है? एक मात्र यही कि मैं प्राणेश को सिद्ध कर लूँ।

निर्गुण वीणा

अनन्त काल से तुम्हारे बजाते रहने से इस वीणा के गुण ढीले पड़ गये हैं। सो अब यह बेसुरी बजती है और उलटा तुम्हारे बजाने की योग्यता पर संशय करती है!

प्रभो, इसके गुणों को कस दो, जिसमें यह लय से बजे और इसका झूठा संशय जाता रहे।

नहीं, नहीं, ऐसा न करना। इसके गुणों को दूर बहाओ; जिस में उनके ढीले पड़ने का प्रपञ्च एवं इसके मिथ्या संशय का कारण ही जाता रहे और यह निर्गुण भाव से नीरव लय का नित्य विस्तार करे और कृत्य-कृत्य हो।

बन्धन की आवश्यकता

यह न कहो कि मृदङ्ग भीतर से शून्य है। इसमें अनन्त तत्व भरा है।

कैसी विचित्र इसकी बनावट है। एक खोखले दारु-खण्ड पर दोनों ओर चमड़ा मढ़ा है, और वह गुणों से भली भाँति जकड़ा है।

तुम्हारी थपकियों से कै बार इसने संसार को मोहित नहीं किया और कौन ऐसा मधुर घोष है जो इससे नहीं निकला ?

किन्तु अब तुम कर क्या रहे हो। कहीं इसके गुणों को न निकाल डालना। नहीं तो यह किस काम का रह जायगा। उन्हीं में बन्धे रहने से त यह अपनी मर्यादा में स्थित है।

आनन्द की खोज

आनन्द की खोज में मैं कहाँ कहाँ न फिरा ? सब जगह से मुझे उसी भाँति कलपते हुए निराश लौटना पड़ा जैसे चन्द्र की ओर से चोर लड़खड़ाता हुआ फिरता है।

मेरे सिर पर कोई हाथ रखने वाला न था और मैं रह-रह कर यही बिलखता कि जगन्नाथ के रहते भी मैं अनाथ कैसे रहता हूँ, क्या मैं जगत के बाहर हूँ !

मुझे यह सोच कर अचरज होता कि आनन्द-कन्द मूलक इस विश्व-वल्लरी में मुझे आनन्द का अणुमात्र भी न मिले। हा ! आनन्द के बदले मैं रुदन और सोच को परिपोषित कर रहा था।

अन्त को मुझसे न रहा गया। मैं चिल्ला उठा—आनन्द, आनन्द, कहाँ है आनन्द। हाय ! तेरी खोज में मैंने व्यर्थ जीवन गँवाया। बाह्य प्रकृति ने मेरे शब्दों को दुहराया, किन्तु मेरी आन्तरिक प्रकृति स्तब्ध थी। अतएव मुझे अतीव आश्चर्य हुआ। पर इसी

समय ब्रह्माण्ड का प्रत्येक कण सजीव होकर मुझसे पूछ उठा क्या कभी अपने आप में भी देखा था ? मैं अवाक् था।

सच तो है। जब मैंने—उसी विश्व के एक अंश—अपने आप तक में न खोजा था। तब मैंने यह कैसे कहा कि समस्त सृष्टि छान डाली ? जो वस्तु मैं ही अपने आपको न दे सका वह भला दूसरे मुझे क्यों देने लगे ?

परन्तु, यहाँ तो जो वस्तु मैं अपने आपको न दे सका था वह मुझे अखिल ब्रह्माण्ड से मिली और जो मुझे अखिल ब्रह्माण्ड से न मिली थी वह अपने आप में मिली।

क्रीड़ास्थल

जानते हो, नींद के खेलने का स्थान कहाँ है ? बच्चों की उन खिलवाड़ी आँखों में जो समदर्शी हैं और जिनमें अलौकिक प्रेम भरा है। जो समग्र विश्व को स्वर्गीय दृष्टि से देखती हैं और जिनसे आनन्दमय मुस्कराहट की किरणें सदा फुरा करती हैं।

जानते हो, पवन ने अपने खेलने के लिए कौन स्थान चुना है ? उन उपवनों में जहाँ उसके पहुँचते ही हर एक कली खिल उठे और उसे अपने आमोद से भर दे। जहाँ वह मधुपान से झूमता हुआ और लताओं के अटपटे जालों में अटकता हुआ एवं उनसे पुष्पाञ्जलियाँ पाता हुआ चल सके। जहाँ भ्रमरावली उस के आगमन से चञ्चल होकर उसका गुणगान कर लगे और जह कमल रजोरञ्जित सरोवर के कण उड़ उड़ कर उसे शीतल एवं अनुरक्त करें।

जानते हो, चन्द्र ने अपने खेलने का कौन स्थान बनाया है ? उस निखरे नीलाकाश में जिसमें से सौंदर्य फटा पड़ता है। जहाँ वह जगमगाती तारकाओं की प्रभा मन्द करता । जहाँ तक

पहुँचने का उद्योग चकोर वारंबार करता है पर न पहुँच कर आशा के सुख से जीवन धारण किये रहता है। और जहाँ से वह संसार मात्र पर अमृत बरसाता है।

नदियों ने अपने खेलने का स्थान अपने जन्मदाता पहाड़ों की गोद में रक्खा है। जहाँ वे एक चट्टान से कूद कर दूसरी पर जाती है। जहाँ वे ढोकों के संग खेल कूद मचाती है और छींटे उड़ाती हैं तथा प्रसन्न होकर फेन-हास्य हँसती हैं। जहाँ वे अपनी ओर झुकी लतालियों का हाथ पकड़ कर उन्हें अपने संग ले दौड़ना चाहती हैं। वहाँ उनके बाल संघाती क्षुप उन्हें अपनी अङ्कुराङ्गुलियों से गुदगुदाते हैं और वे तनिक सा उचक कर तथा वङ्क होकर बढ़ जाती हैं। जहाँ वे लड़कपन के भोले भाले मन माने गीत गाती हैं और उनके पिता उन्हें प्रेम से दुहराते हैं। और जहाँ वे पूरी ऊँचाई से वेग के साथ कूद कर गढ़ों में आती हैं और आप ही अपना दर्पण बनती हैं।

और जानते हो, मेरे मानस ने अपने खेलने का स्थान कहाँ रक्खा है ? जिनका विलास स्थान भी मानस ही है उन चरण कमलों में। जिन्हें मेरा मानस सदैव अपनी तरङ्गों से चूमा करे। जिनके मधुर मधुपान से यह छका रहे। जिनके पराग से यह पङ्किल बने और जिनकी रतनारी छाया से यह रत्नाकर की छवि को मन्द करे।

पाठ ९

गाँव का जीवन

[डा० राजेन्द्र प्रसाद]

[हिंदीभाषी अधिकांश प्रमुख राजनीतिक तथा अन्य क्षेत्रों के नेताओं तथा विद्वानों ने साहित्य सेवा की दृष्टि से अपनी मातृभाषा को नहीं अपनाया। बिहारप्रदेश के प्राण तथा स्वतंत्रभारत के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद इस प्रकृति में एकमात्र प्रमुख अपवाद कहे जा सकते हैं। जिस प्रकार लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने अपनी मातृभाषा मराठी को तथा महात्मा गाँधी ने अपनी मातृभाषा गुजराती को अपनाया था उसी प्रकार डा० राजेन्द्र प्रसाद ने अपनी मातृभाषा हिंदी को अपनाया है। आपने अपनी 'आत्मकथा' अंग्रेजी में न लिखकर हिंदी में लिखी है। प्रस्तुत उद्धरण इसी 'आत्मकथा' से लिया गया है। आपकी हिंदी शैली सरल, बोलचाल की, तथा मुहावरेदार होती है। आपका संपूर्ण जीवन त्याग, तपस्या का प्रतीक है। उच्चतम शिक्षा प्राप्त करने के बाद कुछ दिन आप सफल अध्यापक तथा वकील रहे। महात्मा गाँधी के प्रभाव में आकर आपने १९२० से वकालत छोड़ दी और तब से निरन्तर देशसेवा में लगे रहे। आप हिंदी साहित्य सम्मेलन के नागपुर अधिवेशन के सभापति थे। अभी भी राजभाषा हिंदी को शीघ्र से शीघ्र अपनाने की ओर सरकार तथा जनता का ध्यान आकृष्ट करते रहते हैं।]

उन दिनों गाँव का जीवन आज से भी कहीं अधिक सादा था। जीरादेई और जमापुर दो गाँव है, पर दोनों की बस्ती इस प्रकार मिली जुली है कि यह कहना मुश्किल है कि कहाँ जीरादेई खतम है और कहाँ से जमापुर शुरू है। इसलिए आबादी के लिहाज से

दोनों गावों को साथ भी लिया जाय तो कोई हर्ज नहीं। दोनों गाँवों : सभी जातियों के लोग बसते हैं। आवादी दो हजार से अधिक होगी। उन दिनों भी गाँव में मिलने वाली प्रायः सभी चीजें वहाँ मिलती थीं। अब तो कुछ नए प्रकार की दूकानें भी हो गई हैं-जिनमें पान-बीड़ी भी बिकती हैं। उन दिनों ऐसी चीजें नहीं मिलती थीं, यद्यपि काला तम्बाकू और खैनी बिका करती थी। कपड़े की दूकानें अच्छी थीं, जहाँ से दूसरे गाँवों के लोग और कुछ वाहर के व्यापारी भी ले जाया करते थे। चावल, दाल, आटा, मसाला, नमक, तेल इत्यादि वहाँ सब कुछ बिकता था और छोटी-मोटी दूकान दवा की भी थीं, जिसमें हर्रे-वहेरा-पीपर इत्यादि कई तरह की चीजें मिल सकती थीं। जहाँ तक मुझे याद है, केवल मिठाई की कोई दूकान नहीं थी। गाँव में कोयरी लोगों की काफी वस्ती है। इसलिए साग-सब्जी भी काफी मिलती थीं। अहीर कम थे, पर आस-पास के गाँवों में उनकी काफी आवादी है, इसलिए दही-दूध भी मिलते थे। चर्खे काफी चलते थे। गाँव में जुलाहों की भी आवादी थी, जो सूत लेकर बुन दिया करते थे। चुड़िहार चूड़ियाँ वना लेते। बिसाती छोटी-मोटी चीजें, जैसे टिकुली इत्यादि, वाहर से लाकर बेचते और कुछ खुद भी बनाते। मुसलमानों में चुड़िहार, विसाती, थवई (राज) दर्जी और जुलाहे ही थे। कोई शेख-सैयद नहीं रहता था। हिन्दुओं में ब्राह्मण, राजपूत, भूमिहार, कायस्थ, कोयरी, कुरमी, कमकर, तुरहा, गोंड, डोम, चमार, दुसाध इत्यादि सभी जाति के लोग बसते थे। मेरा खयाल है कि सबसे अधिक वस्ती राजपूतों की ही है। उनमें कुछ तो जमींदार-वर्ग के हैं, जो पुराने खानदानी समझे जाते हैं और कुछ मामूली किसान-वर्ग के हैं। कायस्थों के जीरादेई में ही पाँच घर थे, जिनमें तीन तो हमारे सगे थे और दो सम्बन्ध के कारण वाहर से आकर बस गये थे।

सब कुछ प्रायः गाँव में ही मिल जाता था। इसलिए गाँव के बाहर जाने का लोगों को बहुत कम मौका आता था। गाँव में हफ्ते में दो बार बाजार भी लगता था, जहाँ कुछ आसपास के गाँव के दूकानदार भी अपना-अपना माल-सौदा सिर पर अथवा बैल, घोड़ा या बैलगाड़ी पर लादकर लाते थे। बाजार में मिठाई की दूकान भी आ जाती थी और जो चाहते उनको मछली-मांस भी खरीदने को मिल जाते। जिनकी जरूरतें इस प्रकार पूरी नहीं होतीं, वे 'सीवान' जाते। वहीं थाना और मजिस्ट्रेट हैं—कचहरियाँ हैं और दूकानें भी हैं। वह एक कस्बा है, जो देहात के लोगों के लिए उन दिनों बहुत बड़ी जगह का रुतबा रखता था। मुझे याद है कि गाँव में बाहर से सगे-संबंधियों के सिवा बहुत कम लोग आया करते थे। मौलवी साहब के यहाँ दो चार महीने में एक बार एक आदमी फारसी की छोटी-मोटी किताबों की एक छोटी गठरी और एक-दो बोतलों में सियाही (आजकल की ब्लू ब्लैक रोशनाई नहीं) लिए आ जाता था। जब वह आता तो हम बच्चों के कौतूहल का ठिकाना न रहता। कभी-कभी जाड़ों में नारंगी-नींबू की टोकरी लिए बेचने आ जाता तो हम बच्चे इतना खुश होते कि मानों कुछ नायाब मिल गया। एक दिन ऐसा ही एक आदमी आया और मैं दौड़कर माँ से कहने गया। वहाँ से दौड़कर बाहर आ रहा था कि पैर में जोर से किसी चीज़ की ठोकर लगी, गिर गया। ओठ में चोट आई और खून बहने लगा। बहुत दिनों तक उसका चिन्ह था। एक बार और किसी चीज़ के लिए दौड़ता हुआ गिर गया था। उसका निशान तो आज तक दाहिनी आँख के नीचे गाल पर मौजूद है। गाँव में फल—आम के दिनों में आम और मामूली तरह से कभी-कभी बाग से केले मिल जाते थे। चचा साहब, जिनको हम लोग नूनू कहा करते थे, छपरे से कभी-कभी अंगूर लाया करते थे। अंगूर आज की

तरह खुले आम गुच्छों में नहीं बिका करते थे, काठ की छोटी पेटी में रुई के फाहे के बीच में रखकर बिकते थे और दाम भी काफी लगता था। गाँव के लोग केवल आम और केले ही मौसम में पाते थे।

गाँव में दो छोटे-मोटे मठ हैं, जिनमें एक-एक साधु रहा करते थे। गाँव के लोग उनको भोजन देते हैं और वह सुबह-शाम घड़ी-घंटा बजाकर आरती करते हैं। आरती के समय कुछ लोग जुट भी जाते हैं। कभी-कभी हम लोग भी जाया करते थे और बाबा जी तुलसी दल का प्रसाद दिया करते थे। रामनौमी और विशेषकर जन्माष्टमी में मठ में तैयारी होती थी। हम सब बच्चे कागज और पन्नी के फूल काटकर ठाकुरबारी के दरवाजों और सिंहासन पर साटते थे और उत्सव में शरीक होते थे, व्रत रखते थे और दधि काँदो के दिन खूब दही-हल्दी एक-दूसरे पर डालते थे। प्रायः हर साल कार्त्तिक में कोई-न-कोई पंडित आ जाते जो एक-डेढ़ महीना रहकर रामायण, भागवत अथवा किसी दूसरे पुराण की कथा सुनाते थे। जिस दिन पूर्णाहुति होती थी उस दिन गाँव के सब लोग इकट्ठे होते और कुछ-न-कुछ पूजा चढ़ाते। मेरे घर से अधिक पूजा चढ़ती, क्योंकि हम सबसे बड़े समझे जाते थे। अक्सर कथा तो मेरे ही दरवाजे पर हुआ करती थी। उसका सारा खर्च हमको ही देना पड़ता था। जब गाँव में पंचायती कथा होती तब गाँव भर के लोग बारी-बारी से पंडित के भोजन का सामान पहुँचाते, उसमें मेरा घर भी शामिल रहता। हम बच्चे तो शायद ही कथा का कुछ ज्यादा अंश सुन पाते हों, क्योंकि मैं तो सँझौत के बाद ही सो जाता। पर जब आरती होती तो लोग जगाते और प्रसादी खिला देते।

मनोरंजन और शिक्षा का एक दूसरा साधन रामलीला थी। वह आसिन में हुआ करती थी। रामलीला करने वाली जमात कहीं

से आजाती और पंद्रह-बीस दिनों तक खूब चहल पहल रहती। लीला कभी जमापुर में होती, कभी जीरादेई में। लीला भी विचित्र होती। उसमें राम-लक्ष्मण इत्यादि जो बनते, कुछ पढ़े लिखे नहीं होते। एक आदमी तुलसीदास की रामायण हाथ में लेकर कहता—'रामजी कहो, हे सीता'—इत्यादि और रामजी वही दुहराते। इसी प्रकार जिनको जो कुछ कहना होता उनको बताया जाता और वह पीछे-पीछे उसे दुहराते जाते। लोगों का मनोरंजन इस वार्त्तालाप में अधिक नहीं होता, क्योंकि भीड़ बड़ी लगती और सब कार-बार प्रायः १००-२०० गज में फैला रहता। मनोरंजन तो पात्रों की दौड़ धूप और विशेषकर लड़ाई इत्यादि के नाट्य में ही होता। उत्तर में रामजी का गढ़ और दक्खिन में रावण का गढ़ बनता अथवा अयोध्या और जनकपुर बनता। जिस दिन जो कथा पड़ती उसका कुछ-न-कुछ स्वाँग तो होता ही। सबसे बड़ी तैयारी राम-विवाह, लंका काण्ड के युद्ध और रामजी के अभिषेक—गद्दी पर बैठने के दिन होती। विवाह में तो हाथी-घोड़े मँगाये जाते और बरात की पूरी सजावट होती। लंका दहन के लिए छोटे-मोटे मकान भी बना दिये जाते जो सच-मुच जला दिये जाते। हनुमान-वानर और निशाचरों के अलग-अलग चेहरे होते जो उनको समय पर पहनने पड़ते और हम बच्चों को सचमुच डरावने लगते। वानरों के कपड़े अक्सर लाल होते और निशाचरों के काले। राम-लक्ष्मण-जानकी के विशेष कपड़े होते और उनके शृङ्गार में प्रायः डेढ़-दो घंटे लग जाते। लीला सन्ध्या-समय ४ बजे से ६ बजे तक होती। राम-लक्ष्मण मामूली लोगों की तरह नहीं चलते। उनके कदम बहुत ऊँचे उठते और लड़ाई में पैंतरे देने की तो उनको खास तालीम दी जाती। जिस दिन राजगद्दी होती उसी दिन गाँव-जवार के लोग पूजा चढ़ाते, जो नजर के रूप में रामजी के चरणों में चढ़ाई जाती। लीला वालों को भोजन के

अलावा नगद जो कुछ मिलना होता उसी दिन मिलता। दूसरे दिन फिर राम-लक्ष्मण-जानकी को शृङ्गार करके बड़े-बड़े लोगों के घरों में ले जाते, जहाँ की स्त्रियाँ भीड़-भाड़ में लीला देखने नहीं जाया करतीं। वहाँ उनकी पूजा होती और उनपर रुपये चढ़ाए जाते।

एक चीज़ जिसका असर मुझपर बचपन से पड़ा है, रामायण पाठ है। गाँव में अक्षर ज्ञान तो थोड़े ही लोगों को था। उन दिनों एक भी प्राइमरी या दूसरे प्रकार का स्कूल उस गाँव अथवा कहीं जवार भर में नहीं था। मौलवी साहब हम लोगों को तीन-चार रुपये मासिक और भोजन पाकर पढ़ाते थे। गाँव में एक दूसरे मुसलमान थे, जो जाति के जुलाहा थे, मगर कैथी लिखना जानते थे। मुड़कट्टी हिसाब भी जानते थे, जिसमें पहाड़ा, ड्योढ़ा इत्यादि मन-सेर की बिकरी और खेत की पैमाइश का हिसाब शामिल है। उन्होंने एक पाठशाला खोल रखी थी जिसमें गाँव के कुछ लड़के पढ़ते थे। अक्षर पहचानना तो बहुत थोड़े लोग जानते, पर प्रायः प्रतिदिन सन्ध्या के समय कुछ लोग कहीं-न-कहीं, मठ में या किसी के दरवाजे पर, जमा हो जाते और एक आदमी रामायण की पुस्तक से चौपाई बोलता और दूसरे सब उसे दुहराते। पाठ आरम्भ होता तो जरूर दुहराया जाता। इस प्रकार अक्षर से अपरिचित रहकर भी गाँव में बहुतेरे ऐसे लोग थे जो रामायण की चौपाइयाँ जानते और दुहरा सकते और विशेष करके वन्दना के कुछ दोहों को तो सभी प्रायः बरजबान रखते थे।

त्योहारों में सबसे प्रसिद्ध होली है। उसमें अमीर-ग़रीब सभी शरीक होते थे। बसंत-पंचमी के दिन से ही होली गाना शुरू होता। उसे गाँव की भाषा में 'ताल उठाना' कहते थे। उस दिन से होली के दिन तक जहाँ-तहाँ झाल-ढोलक के साथ कुछ आदमी जमा होते और होली गाते। कभी-कभी जीरादेई और जमापुर के लोगों में

मुकाबला हो जाता और एक गीत एक गाँव के लोग जैसे खतम करते, दूसरे गाँव के लोग दूसरा शुरू करते। कभी-कभी गाँव के आस-पास के दूसरे गाँवों के लोग भी गोल बाँधकर आ जाते और इस प्रकार का मीठा प्रतियोग बड़े उत्साह से हुआ करता। मुझे याद है कि एक बार दो गाँवों में बाजी-सी लग गई और रात भर गाते-गाते सवेरे सूर्योदय के बाद तक लोग गाते ही रह गये, और तब उनको कहकर हटाया गया। इस गाने में जो आदमी ढोलक बजाता है उसे काफी मेहनत पड़ती है और वह पसीने-पसीने हो जाता है। एक गाँव में ढोलक बजाने वाला एक ही आदमी था। वह सारी रात बजाता रह गया। उसके हाथों में छाले पड़ गए, पर वह कहाँ रुकने वाला था, गाँव की इज्जत चली जाती! छाले उठे और फूट गए और इस प्रकार रात-भर में कई छाले उठे और फूटे, पर उसने गाँव की इज्जत नहीं जाने दी। यह बात दूसरे दिन प्रतियोगिता खतम होने पर सवेरे मालूम हुई और सब लोगों ने उसकी हिम्मत की सराहना की।

होली के दिन बहुत गन्दा गाली गलौज हुआ करता। उसमें बूढ़े और जवान और लड़के भी एक साथ शामिल होते। गाँव के एक कोने से एक जमात चलती जो प्रायः हर दरवाजे पर खड़ी होकर नाम ले-लेकर गालियाँ गाती और गंदी मिट्टी, धूल और कीचड़ एक-दूसरे पर डालती गांव के दूसरे सिरे तक चली जाती। यही एक अवसर था जब बड़े-छोटे का लिहाज एक बारगी उठ जाता था। बड़े-छोटे केवल उम्र में ही नहीं, जाति और वर्ग की बड़ाई-छोटाई भी उठ जाती थी। चमार-ब्राह्मण और राजपूत एक दूसरे को गालियाँ सुनाते और एक दूसरे पर कीचड़ फेंकते। जब कोई नया आदमी साफ़ सुथरा मिल जाता तो उसकी जान नहीं बचती, मानों उसे भी कीचड़ लगाकर जाति में मिला लेना सभी अपना

फर्ज समझते थे। यह धुर खेल दोपहर तक जारी रहता। उसके बाद सभी स्नान करते और घर-घर में पूजा होती। उस दिन का विशेष भोजन पूरी-मालपुआ है। गरीब लोग भी किसी न किसी प्रकार कुछ प्रबन्ध कर ही लेते। भोजन के बाद से पहर को गुलाल और अबीर से रंग खेला जाता। सब लोग सफेद कपड़े पहनते। उस पर लाल-पीले रंग डाले जाते, अबीर और अबरख का चूर्ण छिटका जाता। गरी-छुहारा, पान-कसैली बाँटी जाती और खूब होली गाई जाती।

मैंने सुना है कि और जगहों में लोग उस दिन खूब शराब-कबाब का व्यवहार किया करते हैं। पर सौभाग्य से मैंने यह अपने गाँव में कभी नहीं देखा। राजपूत, ब्राह्मण भूमिहार तो हमारे यहाँ शराब पीना पाप मानते हैं। कहीं-कहीं कायस्थ लोग पीते हैं। पर मेरे घर में एक बहुत पुरानी प्रथा चली आरही है। लोगों का विश्वास है कि हमारे वंश में जो कोई शराब पीयेगा वह कोढ़ी हो जायगा। इसीलिए वहाँ कायस्थों के घरों में भी कभी शराब नहीं आई। बड़ों को देखकर छोटे भी इससे परहेज करते हैं और यह बात आज तक जारी है।

जन्माष्टमी-रामनौमी का जिक्र कर ही दिया है, दीवाली भी अच्छी मनाई जाती थी। कुछ पहले से ही सब लोग अपने-अपने घरों को साफ़ करते। दीवारों को लीपते और काठ के खम्भों और दरवाजों में तेल लगाते। उन दिनों किरासन का तेल नहीं जलाया जाता था—शायद मिलता ही नहीं था। सरसों, तीसी, दाना अथवा रेंड़ी का तेल ही जलाया जाता। दीवाली में मिट्टी के छोटे-छोटे दिए जलाकर प्रायः अमीर-गरीब सब कुछ न कुछ रोशन जरूर करते। बड़े लोगों के मकान पर बहुत दिए जलायें जाते, केले के खंभे गाड़े जाते, बाँस की मेहराबें बनाई जातीं, रंग-बिरंग की तसवीरें

दियों से बनाई जातीं, जो देखने में बहुत सुन्दर मालूम पड़तीं। बड़े लोग तो ये नक़शे बनाते और हम छोटे बताये हुए स्थानों पर दिये रखते, तेल डालते, बत्ती जलाते। बत्ती जल जाने के पहले लक्ष्मी पूजा होती। लक्ष्मी तथा तुलसी के पास बत्ती जलाने के बाद ही और सब जगहों में दिये जलाये जाते। दिये जल जाने के बाद कौड़ी खेलने की चाल थी। हम लोग तो नाम-मात्र के लिए कुछ कर लेते; पर मैंने देखा है कि कुछ लोग पैसे हारते-जीतते भी थे। दीवाली के दिन विशेष दीप की तैयारी होती, पर यों तो कार्त्तिक-भर कुछ लोग तुलसी-चौंतरे पर आकाश में कँदील लटका कर दिए जलाया करते।

दशहरा तो खास करके जमींदारों का त्योहार माना जाता था। पर नवरात्र में कभी-कभी कालीजी की पूजा भी हुआ करती थी। उसके लिए मूर्त्ति लाई जाती और बड़े धूमधाम से पूजा होती। मैंने अपने गाँव में तो काली-पूजा नहीं देखी, पर जवार में काली-पूजा हुई, इसकी शोहरत सुनने पर हम बच्चे वहाँ दर्शन के लिए भेजे गये थे। वहां जाकर हमने काली का, जो सचमुच काली थी और हाथ में लाल खप्पर और खड्ग लिए हुई थी, दर्शन किया था। राम-लीला में राजगद्दी भी प्रायः दशहरे के दिन, या एक-दो-दिन उसके आगे-पीछे हुआ करती थी। खास दशहरे के दिन हमारे दादा साहब अपने साथ सब लोगों को लेकर एक छोटा-सा जलूस बनाकर निकलते और नीलकंठ का दर्शन करते।

इनके अलावा एक और त्योहार था, जिसमें सभी लोग शरीक होते थे। वह था अनन्त चतुर्दशी का व्रत। यह भादों सुदी चतुर्दशी को हुआ करता था। दोपहर तक का ही व्रत था। दोपहर को कथा सुनने के बाद पूरी-खीर खाने की प्रथा थी और संध्या को कुछ नहीं खाना होता था। सूर्यास्त के बाद पानी नहीं पिया जाता था। इस

व्रत में हम सब बच्चे भी शरीक होते । कथा समाप्त होने पर एक क्रिया होती जो बच्चों के लिए बहुत मजाक की चीज होती । एक बड़े थाल में एक या दो खीरे रख दिये जाते और थोड़ा जल उसमें पंडित डाल देते । सभी कथा सुनने वाले उस थाल में हाथ डालते और पंडित पूछते—क्या ढूँढ़ते हो और लोग जवाब देते—अनन्त फल । तब फिर पंडित पूछते—पाया और उत्तर मिलता—पाया । पंडित कहते, सिर पर चढ़ाओ और सब लोग जल अपने सिर पर छिड़कते । यह क्रिया समाप्त होने पर सभी लोगों को अनन्त, जो सूत में चौदह गाँठ देकर बनाया जाता था, दिया जाता और वे उसे अपनी बाँह पर बाँधते । हम बच्चों के लिए सुन्दर रंगीन, कभी रेशम का अनन्त पटहरे के यहाँ से खरीद करके आता । कोई-कोई साल भर बाँह पर अनन्त बाँधे रहते थे, इसलिए वे अपना अनन्त अपने हाथों मजबूत और काफी लम्बा बनाते जिसमें वह सुभीते से बाँधा जा सके । इस प्रकार जो अनन्त बाँधता वह माँस मछली नहीं खाता था । इसी प्रकार जो तुलसी की लकड़ी की माला या कंठी पहनता, वह भी माँस मछली नहीं खाता ।

कथा, रामलीला, रामायण-पाठ और इन व्रत त्योहारों द्वारा गाँव में जीवन हमेशा जगा रहता था । इनके अलावा मुहर्रम में ताजिया रखने का भी रवाज था । इसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों शामिल होते थे । जीरादेई और जामपुर में कुछ हिन्दू ही कुछ सम्पन्न थे, इसलिए उनका ताजिया गरीब मुसलमानों के ताजिये से अधिक बड़ा और शानदार हुआ करता था । मुहर्रम भर प्रायः रोज गदका, लाठी, फरी वगैरह के खेल लोग करते और पहजाम के दिन तो बहुत बड़ी भीड़ होती । गाँव-गाँव के ताजिये कर्बला तक पहुँचाये जाते । तमाम रास्ते में 'या अली, या इमाम' के नारे लगाये जाते और गदका इत्यादि के खेल होते । बड़ा उत्साह रहता और इसमें

हिन्दू मुसलमान का कोई भेद नहीं रहता। शीरनी और तिचौरी (भिगोया हुआ चावल और गुड़) बाँटी जाती। सभी उसे लेते और खाते, पर हिन्दू लोग मुसलमान का पानी और शरबत घुलाकर नहीं पीते। मुसलमान भी इसे बुरा नहीं मानते। वे समझते थे कि यह हिन्दुओं का धर्म है, इसलिए वे स्वयं हट जाते।

जिस तरह हिन्दू मुहर्रम में शरीक होते उसी तरह मुसलमान भी होली के शोरगुल में शरीक होते। हम बच्चे दशहरा, दीवाली और होली के दिन मौलवी साहब की बनाई ईदी अपने बड़ों को पढ़कर सुनाते और उनसे रुपये माँगकर मौलवी साहब को देते। ईदी कई दिन पहले से याद करते। कागजपर मौलवी साहब की मदद से, सुन्दर फूल बनाकर उसे लाल, हरे, नीले और बैंगनी रंगों से रंगते। उसी पर मौलवी साहब सुन्दर अक्षरों में ईदी लिख देते। जिसे हम लोग पढ़कर सुनाते। उसमें जो लिखा जाता वह भी कुछ अजीब संमिश्रण होता। जैसे, दीवाली की ईदी में लिखा होता—'दीवाली आमदे हंगाम जूला' इत्यादि, दशहरे की ईदी में लिखा जाता—'दशहरे को चले थे रामचन्दर, बनाकर रूप जोगी वो कलन्दर' इत्यादि। मुशाहरे के अलावा मौलवी साहब को प्रत्येक बृहस्पतिवार को कुछ पैसे जुमराती के रूप में और त्योहारों पर ईदी के बदले में कुछ मिल जाया करता था।

उन दिनों गाँव में मामला-मुकदमा कम हुआ करता था। जो झगड़े हुआ करते थे, गाँव के पंचलोग उन्हें तय कर देते थे। अगर कोई बात पंचों के मान की न हुई तो वह मेरे बाबा या चचा साहब के सामने पेश होती। वे लोग भी पंचायत में शरीक होकर तय करा देते। हाँ, कभी-कभी चोरी हो जाया करती थी। बनिया कुछ सम्पन्न थे। उनके घरों में रात को सेंध फोड़कर चोर कुछ पैसे उठा जाया करते थे। एक बार का मुझे स्मरण है कि दूसरे गाँव के

बाजार से लौटते वक्त संध्या को रास्ते में डाकू ने पैसे और कपड़े लूट लिए थे। जब कभी ऐसा वकूआ होता, तो थाने से दरोगा और सिपाही पहुँचते और गाँव में एक-दो-दिन ठहर जाते। उनका गाँव में आना बड़ा हंगामा था। सारे गाँव में सनसनी फैल जाती। जिन लोगों पर शुबहा होता उनके घर की तलाशी ली जाती। दो-तीन आदमी थे, जिनके बारे में मशहूर था कि वे चोर हैं; दरोगा पहुँचते ही उनको पकड़कर मुश्कें कसकर बाँध गिरा देते और खूब पीटते। आस-पास के गाँव के भी ऐसे लोग, जो गलत या सही चोर समझे जाते थे, इस प्रकार पकड़ कर मँगाये जाते थे और बाँधकर गिरा दिए जाते। मैंने देखा है कि इस तरह एक साथ पाँच-सात आदमी बाँधकर गिराये जाते थे और घंटों तक पड़े रहते थे।

हम लोगों की छोटी-सी जमींदारी थी। रैयतों के साथ मुकदमे तो कम होते, शायद ही कभी कचहरी में जाने की जरूरत होती। मगर एक दूसरे जमींदार के साथ, जिनका भी हिस्सा एक गाँव में था, बहुत दिनों तक कुछ जमीन के लिए मुकदमा चलता रहा। बाबा के समय से शुरू होकर पिताजी के जमाने भर चलता रहा और उनकी मृत्यु के बाद भाई ने उसे सुलह करके तय किया। नूनू छपरे जाया करते और भाई जो छपरे पढ़ने के लिए भेज दिए गये थे, उनको देखते और मुकदमे की पैरवी करते।
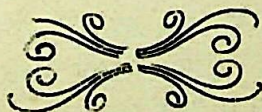
पाठ १०

मेरा मकान

[श्रीगुलाबराय]

[श्री गुलाबराय (जन्म १८८७) प्रारंभिक जीवन में प्रोफ़ेसर, दीवान, वकील तथा प्राइवेट सेक्रेटरी आदि रहे। आपकी वास्तविक अभिरुचि साहित्य की ओर रही। आजकल आप सेंट जांस कालेज आगरा में हिंदी अध्यापक हैं तथा समस्त अवशिष्ट समय साहित्य सेवा में लगा रहे हैं। हिंदी में आपने अनेक दार्शनिक तथा साहित्यिक विषयों पर ग्रंथ लिखे हैं। विद्यार्थियों का प्रसिद्ध साहित्यिक मासिक 'साहित्य संदेश' आपके द्वारा ही संपादित होकर अनेक वर्षों से निकल रहा है। हिंदी आलोचना शास्त्र के आप मर्मज्ञ हैं और ("सिद्धान्त और अध्ययन") इस विषय का आपका अत्यंत प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है। 'मेरी असफलताएँ' आपने हास्यपूर्ण शैली में आत्मकथा सम्बंधी निबंध लिखे हैं। प्रस्तुत निबंध इस ग्रंथ से लिया गया है। सुंदर शैली और सुरुचिपूर्ण हास्य का ऐसा संमिश्रण हिंदी में बहुत कम मिलता है।]

मुग़ल-सम्राट् शाहजहाँ जब क़ैद में थे, तब उनसे पूछा गया कि आप क्या काम करना चाहेंगे? उन्होंने उत्तर दिया—लड़कों को पढ़ाना। इसके प्रत्युत्तर में उनके सआदतमंद पुत्र शाहंशाह औरंगज़ेब ने फ़रमाया कि अब्बाजान, आपके दिमाग़ से बादशाहत की बू अभी नहीं गई है।

छतरपुर-राज्य से लौटने पर मैंने भी जैन-बोर्डिङ्ग-हाउस, आगरे की अनाहारी वा अनारी (Honorary) आश्रमाध्यक्षता (वार्डन-शिप) स्वीकार की। लोग कहेंगे, मेरे दिमाग़ से भी राज्य की बू नहीं गई थी, ठीक है। प्रोफ़ेसरी में तो निजी संबंध का प्रायः अभाव होने के कारण अधिकार की मात्रा कम रहती है, वार्डनशिप में घनिष्ठतर सम्बन्ध होने के कारण वह कुछ अधिक हो जाती है। किन्तु मेरे मत में शासन का अभाव ही शासन की श्रेष्ठता थी (That Government is best which governs least)। दुर्भाग्य-वश मेरे सिद्धांतों के लिए जैन-बोर्डिङ्ग-हाउस का वातावरण उपयुक्त न था। विद्यार्थियों में प्रीति का भय बहुत कम था और भय की प्रीति भी अधिक न थी। अधिकारीवर्ग भी 'भय बिन होइ न प्रीति' के पूर्ण अनुयायी और दण्डविधान के घोर समर्थक थे। वे मेरी अपेक्षा कुछ आदर्शवादी भी अधिक थे, बीसवीं शताब्दी की अँगरेजी सभ्यता में पालित-पोषित बाबू लोगों से निशाचरी वृत्ति (रात में चरने या खाने की वृत्ति) छुड़ाना चाहते थे। मैं चाहता था कि राम-राज्य की भाँति 'दण्ड जतिन कर' ही रह जाय, अर्थात् दण्ड सज़ा के रूप से उड़ जाय, और दंड (डंडा) केवल संन्यासियों के हाथ में ही रहे, किन्तु राम-राज्य कलियुग में कहाँ ?

मैं यह अवश्य कहूँगा कि सब विद्यार्थी दंड के अधिकारी न थे। दंड के अधिकारी लोगों ने भी मेरे साथ कभी उद्दंडता का व्यवहार नहीं किया। मेरे प्रति उनका सौजन्य-भाव ही रहा। उनमें इतनी शिक्षा न थी कि वे यह समझें कि बन्धन में ही मुक्ति है, आत्मसंयम में ही आत्मसम्मान है। अधिकारियों का भी मेरे प्रति सौजन्य ही रहा, इसीलिए मतभेद होते हुए भी, कोई वैमनस्य नहीं हुआ।

मैं यह समझता था कि स्वर्ग से भी पुण्य क्षीण होने पर लोग

मर्त्यलोक में भेज दिए जाते हैं, फिर राज्य और अधिकार के लिए भाग्य का बहुत दिन आश्रय लेना बुद्धिमानी का काम नहीं था। सम्राट् एडवर्ड अष्टम को ऐसे राज्य को छोड़ने में, जिस पर कभी सूर्यास्त नहीं होता, एक मुहूर्त्त की भी देर न हुई, तो मुझे अपने छोटे-से राज्य छोड़ने में देर लगाना स्वार्थपरायणता की पराकाष्ठा प्रतीत हुई। मैंने त्यागपत्र भेज दिया। त्याग-पत्र सखेद स्वीकार भी हो गया। इतने में ग्रीष्मावकाश आगया, मुझे पेन्शन-स्वरूप अधिकारियों के सौजन्य-वश वोर्डिङ्गहाउस के क्वार्टरों में दो मास और ठहरने की विना माँगे आज्ञा मिल गई।

आज्ञा तो मिली, किन्तु मुझे नीति-वाक्य याद आया कि 'स्थान-भ्रष्टा न शोभन्ते केशाः दन्ताः नखाः नराः।' इसलिए मैंने भविष्य के बारे में विचार किया। किराए के मकान मिल सकते थे। थोड़े किराए के मकान पसन्द नहीं आते और अच्छे मकानों का किराया इतना अधिक था कि इसके प्रतिमास अदा करने में मेरे पैर सौर से बाहर निकल जाते। भूखों नहीं तो जाड़ों अवश्य मर जाता।

जलेसर में मेरा पैतृक घर है, किन्तु वहाँ न तो बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध और न मेरे स्वाध्याय का सुभीता था। वहाँ चुङ्गी की चर्चा और निरीह जर्जरितकाय किसानों को आतङ्कभार से दबाने और मरों को मारने की शेखी बघारने वाले शाह-मदारों, सत्ताधिकारी जमींदारों तथा अनारी मजिस्ट्रेटों की गर्वोक्तियाँ सुनने के सिवा क्या रक्खा था? यद्यपि मैं क्षीण तेज था तथापि मुझमें दूसरों का प्रताप न सहने वाला सहज स्वभाव बना हुआ था, फिर जलेसर में मेरी कहाँ गुजर?

आगरा में विद्यार्थी जीवन व्यतीत करने के कारण उससे विशेष मोह हो गया है। उसको छोड़ने की इच्छा नहीं होती। लोमश ऋषि

को आदर्श मान कर मकान बनाने के, सिद्धान्तरूप से, मैं खिलाफ हूँ। लोमश ऋषि की इतनी आयु है कि जब ब्रह्मा का एक वर्ष होता है, तब वे अपने शरीर का एक बाल नोच कर फेंकते हैं और इस प्रकार जब उनके सारे शरीर के बाल निकल जायँगे, तब उनकी मृत्यु होगी। वे भी अनित्यता के भय से मकान नहीं बनाते, और अपनी झोंपड़ी को आज तक सिर पर लिये फिरते हैं। मेरे आर्थिक सलाहकार भी मकान बनाने में सहमत न थे। किन्तु चिड़ियाँ अपने नीड़ में विश्राम लेती हैं, साँप के भी बांबी होती है, भेड़िया अपनी माँद में रहता है, चूहे भी अपने लिए बिल खोद लेते हैं तो मेरे शरीर को आतप और मेघ से सुरक्षित रखने के लिए एक टूटा-फूटा मकान भी न हो, आत्मभाव जाग उठा, 'धिग् पौरुषं, धिगैश्वर्यम्'। मैं सोचने लगा—दीन सुदामा के पास भी शायद एक झोंपड़ी थी। यदि किराए की झोंपडी होती, तो कृष्ण भगवान् उसके स्थान में सोने के महल न बनवाते क्योंकि मालिक मकान उन्हें अपने बतलाने लगता। किराए के मकान के सम्बन्ध में कॉलरिज आदि अँगरेजी के सुकवियों की करुण कथाएँ पढ़ीं थीं। सुना जाता है, एक बार वे बड़ी सुन्दर कविता लिख रहे थे, जिसे उन्होंने स्वप्न में रचा था। वह संसार की सर्वोत्तम कविताओं में से एक होती, किन्तु वे कुछ ही पंक्तियाँ लिख पाये थे कि मकान वाले ने आकर घोर तकाजा किया और कवि महोदय की जिह्वाग्र सरस्वती हंसारूढ़ हो ब्रह्मलोक चली गई। संसार एक सुन्दर कविता से वञ्चित रह गया। यह कथा पढ़ने के पश्चात् मुझे किराए के मकानों से चिढ़-सी हो गई है। मुफ्त के मकान अब भाग्य में कहाँ ? जेल जाने की शरीर में सामर्थ्य नहीं। अस बस, अपना ही मकान बनाने का कठोर सङ्कल्प किया। अच्छा है, मकान बनेगा, तो कुछ शगल ही मिल जायगा। पढ़ने से,

ऊबे हुए मन को कुछ व्यसन न होना मुझे अखरता भी था। इस सम्बन्ध में मैंने एक सवैया भी लिखा है—

> तास छुए नहिं हाथन सों, सतरंजहु में नहिं बुद्धि लगाई।
> टैनिस-गेम सुहाय नहीं, फुटबॉलहु पै नहिं लात जमाई॥
> केरम-मर्म न जान्यहु, पेखत, क्रीकेट-कंदुक देत दुहाई।
> जीवन को सुख पायु न रंचक लेखन में निज वैस गमाई॥

जब मैं किसी बात का सङ्कल्प कर लेता हूँ, तो उसकी पूर्ति के लिए अन्धप्राय हो जाता हूँ। आवेश-वश आगा-पीछा नहीं देखता। कल्पना के कल्पतरु के नीचे बैठे नये मकान के स्वर्णमय स्वप्न देखने लगा। मैं सोचता था, थोड़ा-सा ही द्रव्य लगा कर एक छोटा-सा मकान बना कर उन्मुक्त वातावरण में रहूँगा। मकान के लिए जमीन तलाशने लगा। जहाँ मैं जमीन चाहता था, वहाँ की एक-एक इञ्च जमीन बिक चुकी थी। बिकी हुई जमीन में से बहुत अच्छी जमीन कुछ अधिक दामों में मिलती थी। किन्तु जिस प्रकार सिंह दूसरे का मारा हुआ शिकार नहीं खाता, उसी प्रकार मैं दूसरे की खरीदी हुई जमीन में से एक भाग खरीदना पसन्द नहीं करता था। उसके गुण भी मुझे अवगुण प्रतीत होने लगे। एक गढ़ा अछूता था। प्रेमान्ध की भाँति उसके प्रत्यक्ष दोष भी मैं न देखा सका। जमींदार महोदय ने मेरे सिर पर ऐसी उल्लू की लकड़ी फेरी कि मैं छः महीने के लिए नहीं, तो छः दिन के लिए अवश्य अन्धा हो गया। मैंने उस जमीन के कुछ दोष बतलाये किन्तु उन्होंने कहा—बस, दो-ढाईसौ रुपए में गढ़ा भर जायगा, और जमीन एक रुपए गज से दो रुपए गज की हो जायगी। मालूम नहीं, पंडित बसन्त लालजी ने आदमी से गधा बनाने की विद्या, बिना बङ्गाल गये ही, कहाँ से सीख ली थी। कहने के ढङ्ग में जादू होता है। सत्तू के मुकाबले

धान अच्छे बतलाये जा सकते हैं—"स····त्तू ३ मल····म····त्तू ३ जब घो····रे ३, तब खा····ये ३, तब चले, धान विचारे भले, कूटे-खाये चले।"

दो सौ रुपए में गढ़ा भर जाने की बात में आ गया, और बात की बात में बयनामा करा लिया। बयनामा के समय कचहरी का सच्चा अर्थ मालूम हो गया—"कचं केशं हरतीति कचहरी।" जो कुछ जोड़-बतोड़, काढ़-मूसकर रुपए ले गया था, सब उठ गये। हिन्दी का पक्षपाती होता हुआ भी उर्दू की लिखाई के लिए रुपए खर्च किये। हक के भव्य नाम से पुकारी जाने वाली रिशवत भी दी। मई के महीने की मुँह पर चपेट मारने वाली लू का तो कहना ही क्या था? स्वर्ग के स्वप्न को थोड़े ही में वास्तविक रूप देना उसके लिए कुछ कठिन न था। पूर्वजों के पुण्य-प्रताप और आप लोगों के आशीर्वाद से सकुशल घर लौट आया। "जान बची लाखों पाये।" इतना सन्तोष अवश्य हुआ कि १।) रुपए साल का मालगुजार जमींदार बन गया। मालूम नहीं, अब मैं कर्ज के कानून का लाभ उठा सकूँगा या नहीं?

जमीन मिलते ही कारीगर और ठेकेदार उसी भाँति मँड़राने लगे, जिस प्रकार मुर्दे को देखकर गिद्ध मँड़राते हैं। मुझे भी अपनी महत्ता का भान होने लगा। जब से रियासत छोड़ी थी, लोग मेरे पीछे नहीं चलते थे और इक्के ताँगे वाले के सिवा कोई मुझसे 'हुजूर' नहीं कहता था, एकदम हुजूर साहब और गरीब-परवर, अन्नदाता सब कुछ बन गया।

विघ्नों का भय सामने था, किन्तु मुझे महात्मा भर्तृहरि के वाक्य याद आये कि नीच लोग विघ्न के भय से कार्य प्रारम्भ नहीं करते 'प्रारभ्यत न खलु विघ्नभयेन नीचैः।' अच्छे आदमी तो विघ्न आने

पर भी अपने उद्देश्य से नहीं टलते। मैं अपने को अच्छा ही आदमी सिद्ध करना चाहता था, और आँख बन्द कर गढ़े में मकान बनाने के कार्यक्रम गढ़े में कूद पड़ा। नक्शा बना, उसमें पैसे के सुभीते के अतिरिक्त सभी सुभीते देखे गये। (लाख विश्वास दिलाने पर केवल गङ्गाजली नहीं उठाई) ठेकेदार को विश्वास न हुआ कि मैं गरीब आदमी हूँ। दिल्ली-दरवाजे मकान बनाने वाले सभी लोग सम्पन्न गिने जाते हैं, किन्तु ठेकेदार यह भूल जाता है कि काबुल में भी गधे होते हैं।

बुद्धिमान पुरुष का यह कर्तव्य होता है कि पहले व्यय का अनुमान कराकर कार्य प्रारम्भ करें। मैं अनुमान इस भय से नहीं कराता था कि शायद भारी रकम देखकर कार्यारंभ ही न कर सकूँ, और कहीं मेरा सोने का घर मिट्टी में न मिलजाय। बिना आगा-पीछा देखे, विघ्नेश का नाम लेकर, नींव खुदना शुरू हुई। नींव के लिए मैं समझता था, गढ़े में होने के कारण कम खुदाई की आवश्यकता होगी। जिधर गढ़ा नहीं था, उधर थोड़ी ही दूर पर पक्की जमीन निकल आई और गढ़े की ओर जितना खोदा जाता, उतना ही पक्की जमीन दूर होती जाती। नींव जैसे-जैसे नीचे जाती, वैसे-वैसे ही मेरा दिल भी गढ़े में बैठता जाता। पृथ्वी पर जो कुदाली चलती, वह मानो मेरी छाती पर ही चलती। लोग पूछते, क्या 'प्रोग्रेस' अर्थात् उन्नति हो रही है, मैं कहता, भाई, प्रोग्रेस नहीं, रिग्रेस (अवनति) हो रही है। नींव जितनी गहरी जाती उतनी ही मेरी आशा का क्षितिज दूर हटता। मैं सोचता—कहीं पुराने जमाने की बात न हो जाय कि नींव तब भरी जाती थी, जब पानी चूने लगे। खैर राम-राम कर सात फीट पर पक्की जमीन के दर्शन हुए। उतनी ही प्रसन्नता हुई, जितनी जहाज के यात्री को समुद्र का किनारा देखने पर हो। कुछ किफायत-शारी करने की बात चलाई। सभी ने मुक्त कंठ से बड़ी बुद्धिमता

प्रदर्शित करते हुए, तहखाने का परामर्श दिया, मानो तहखाना कोई ऐसा-मंतर था, जिससे मेरी कठिनाइयों का अन्त हो जायगा।

तहखाना बनना शुरू हुआ, और ईंट-चूने का स्वाहा होने लगा। जनमेजय के नागयज्ञ की भाँति शाम तक एक-एक ईंट का हवन हो जाता। जब काम जोरों से चला तो यदि ईंट हो तो चूना नहीं, और चूना हो तो ईंट नहीं। 'शाकाय वा लवणाय वा' की बात हो गई। दाल हो तो रोटी नहीं, और रोटी हो तो दाल नहीं।

मकान गढ़े में होने के कारण ठेकेदार को दीवारों को खूब विस्तृत करने का अवसर मिल गया। जितना दीवारों का आकार बढ़ता, उतना ही सुरसा के मुख की भाँति उसके बिल का विस्तार बढ़ता। मैं यह कहते-कहते थक गया कि भाई, मैं घर बना रहा हूँ, किला नहीं, किन्तु वह यह कहते-कहते न थकते कि हुजूर, दरिया में मकान बना रहे हैं, मुझे कुछ नहीं, आप ही को पछताना पड़ेगा।

मेरे मित्र और सलाहकारों ने भी ठेकेदार का ही पक्ष लिया और मुझे ऐसा भय दिखलाया मानो प्रलय-पयोधि उमड़ कर इस छोटे-से गढ़े में भर जाने वाला है या हजरत नूह के तूफान का प्रतिरूप उस तलैया में तैयार होने की खबर मिली है। मुझे भी पंचों की राय के आगे सिर झुकाना पड़ा। "पंच कहें बिल्ली, तो बिल्ली ही सही।" मैंने भी सोचा, "जब ओखली में सर दिया तो चोटों से क्या डरना ?" चूने का बिल बड़ा लम्बा चौड़ा आया। मेरे मित्र ने उसे देखकर कहा कि ठेकेदार और चूने वाले ने मिलकर अवश्य चूना लगाया।

लखनऊ-निवासी मेरे मित्र शिवकुमारजी ने आशीर्वाद दिया कि तुम्हें गढ़े में गुप्त धन गढ़ा मिल जायगा। मैंने कहा कि गढ़ा हुआ धन तो क्या मिलेगा, किन्तु मैं अपना कठिनता से संचित किया हुआ धन ईंटों के रूप में पृथ्वी में गाढ़ रहा हूँ।

पुराने लोग भी धन जमीन में ही गाढ़ते थे। सनातन-धर्म की रीति से मेरा रुपया वसुन्धरा बैंक में जमा होने लगा। मेरे एक मित्र ने मुझे घबराते हुए देखकर कहा, "अभी तो इब्तिदा-ए इश्क है, रोता है क्या, आगे-आगे देखिए होता है क्या?" मैंने कहा, बस आगे यही होना है कि धन का स्वाहा कर संन्यास धारण कर लूँ। पहले लोग वर्णमाला का इस प्रकार अर्थ लगाते थे—'क' से कमाओ, 'ख' से खाओ, 'ग' से गाओ, प्रसन्न रहो, और सब के पीछे धन और शक्ति रहे, तो 'घ' से घर बनाओ। मैं आजकल 'घ' को सबसे पहला स्थान दे रहा हूँ।

पक्की जमीन से दीवारें सात फीट ऊपर आ गई हैं। हाथी डुबान नहीं, तो मुझ ऐसे शर्मदार, पस्तःक़द और पस्तहिम्मत मनुष्य-डुबान तो नींव गहरी हो गई है। मैं अशरफ़ुल मखलूक़ात हाथी से किस बात में कम हूँ? फिर भी अभी 'दिल्ली दूरस्त' की भांति प्लिन्थ दूर है। शायद दिल्ली-दरवाज़े मकान बनाने का प्रभाव हो। जिस बात को मैंने दिल-बहलाव की चीज़ समझा था, वह अब बवाल-जान बन गई है। चन्दन घिसना ही दूसरा दर्द-सर हो गया है। लोग कहते हैं, "देर आयद, दुरुस्त आयद।" जली तो जली, पर सिकी अच्छी। अब तकलीफ़ उठाते हो, तो पीछे से आराम मिलेगा? भाई साहब! मुझे तो नौ नक़द चाहिए, तेरह उधार नहीं। अभी तो गढ़े की जमीन में इतनी भी गुञ्जाइश नहीं कि एक छप्पर डाल कर दुपहरी में (रात में नहीं) वहीं सो जाया करूँ। रुपया खर्च करने पर इतना ही संतोष मिला है कि एक दिन की वर्षा से गढ़े भर जाने के कारण वेद-ध्वनि से समता रखने वाली दादुर-ध्वनि चारों ओर से सुनाई पड़ी है, और बाबा तुलसीदासजी की निम्नलिखित चौपाई याद आ जाती है—

'दादुर-धुनि चहुँ ओर सुहाई,

वेद पढ़हिं जिमि बटु समुदायी।'

पहले जमाने में वेद-पाठ सुनने के लिए राजा-महाराजा लोग हजारों रुपया ख़र्च कर देते थे। इस कलियुग में दादुर-ध्वनि सुनने के लिए पाँच-सात हज़ार ख़र्च हो जाय, तो कौन बुराइ है ? दूसरा सन्तोष यह है कि मैं स्वयं ठग गया, दूसरे को नहीं ठगा। कबीरदास की भी यही शिक्षा है—

'कबिरा' आप ठगाइए, और न ठगिए कोय।
आप ठगा सुख होत है, और ठगे दुख होय॥

रोज़ प्रात:काल ईंटों के तक़ाज़े के लिए भट्टे पर जाना पड़ता है। साम-दाम-दण्ड-भेद सब उपाय करने पर दो हज़ार ईंटें पहुँच पाती हैं, जिसे हमारे विश्वकर्मा के अवतार मिस्टर भोंदाराम कॉन्ट्रैक्टरजी 'ऊँट के मुंह के जीरे' से भी कम बतलाते हैं। मेरी चरम साधना के फल को इस प्रकार तिरस्कृत होते देख कर सात्त्विक रोष आ जाता है। मैं चाहता हूँ कि इन सब झंझटों से कहीं दूर भाग जाऊँ। शग़ल बहुत हो लिया, उससे आरी आ गया, किन्तु अब दूर भी नहीं भागा जाता। साँप-छछूँदर की-सी गति हो रही है। मेरा उस साधु का सा हाल हुआ जिसने कम्बल के धोके तैरते हुए रीछ को पकड़ लिया था। फिर वह उस कम्बल को छोड़ना चाहता था लेकिन कम्बल उसे नहीं छोड़ता था। कहाँ प्रात:काल का ब्रह्मानन्द-सहोदर काव्य-रसास्वादन और कहाँ ईंट के भट्ठों की हाजिरी ? कहाँ वेदान्तवार्ता और कहाँ भुस का भाव ? किन्तु अब क्या किया जा ?

"माया बस जीव गुसाईं;
बँध्यौ कीर-मरकट की नाईं।"

बस, मायाधीश भगवान् ही इस माया-जाल से मुक्त करें तो मुक्त हो

सकता हूँ, नहीं तो [कोई छुटकारा नहीं। त्राहि माम्! त्राहि माम्! त्राहि माम्!

२

मुसलमानों के यहाँ मुसव्विरी करना गुनाह समझा जाता है, क्योंकि चित्रकार एक प्रकार से खुदा की बराबरी करने की स्पर्द्धा करता है। शायद इसीलिए अल्लाह-ताला लेखकों से भी नाराज रहते हैं क्योंकि वे भी अपने रचनात्मक कार्य द्वारा परमात्मा की होड़ करते हैं। कवियों ने अपनी रचना को एकदम परमात्मा की सृष्टि से भी बढ़ा हुआ बतला दिया है। काव्य प्रकाश के कर्त्ता मम्मटाचार्य ने कहा है कि कवि की भारती विधि की सृष्टि से परे और शुद्ध आल्लाह से बनी हुई है। भगवान की सृष्टि में तो शुद्ध आल्हाद बिजली के प्रकाश में भी खोजने पर बड़ी मुश्किल से मिलता है किन्तु लेखक अपनी कल्पना की उड़ान में उसे सुलभ बना देते हैं। फिर परमात्मा लेखकों से क्यों न रूठे? यदि लेखक लोग शब्दों के महल और हवाई किलों के अलावा ईंट-चूने के मकान बनाने का भी साहस करें तो नीम चढ़े करेले की बात हो जाय। ईश्वर मनुष्य की इस डबल स्पर्द्धा को कहाँ सहन कर सकते?

मेरे साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ। ठोक-पीटकर लोगों ने मुझे लेखक-राज बना ही दिया और मैं स्वयं भी अपने को पाँचवें सवारों में गिनने लग गया। अपने को बड़ा आदमी समझने के कारण ही छतरपुर से नौकरी छोड़ने के पश्चात् दूसरी जगह की नौकरी न निभा सका। नौकरी करना तो टेढ़ी खीर है। उसमें बड़े आत्म-संयम की जरूरत है, किन्तु मैं तो जैन बोर्डिंग हाउस के लड़कों को कायदे के

घेरे में बन्द रखने का बाइज्जत काम भी न संभाल सका। अब यदि इतने पर भी सन्तुष्ट रहता तो गनीमत थी—बाप दादों की नहीं, अपनी ही भलमनसाहत लिए बैठा रहता तब तक विशेष हानि नहीं थी।

दूसरे प्रोफेसरों को कोठियों में रहते देख (मैं भी प्रोफेसरों में करीब-करीब बेमुल्क का नवाब हूँ) मुझे भी कोठी बनाने का शौक चर्राया। मेरे सामने दो आदर्श थे। श्री भोंदाराम जी ठेकेदार तो चाहते थे कि अकबर की इस नगरी में कम से कम लाल पत्थर के किले की टक्कर का एक दूसरा किला बनवाऊँ और मेरी इच्छा थी कि अपने पड़ोस के काछियों के अनुकरण में एक झोंपड़ी डाल लूँ। इन्हीं परस्पर विरोधिनी इच्छाओं के फलस्वरूप मेरा मकान तैयार हो गया जो अभी सामने से एक मंजिल है और पीछे से दुमंजिला है।

मैं चाहता तो झोंपड़ी ही बनाता, परन्तु जिस प्रकार पूर्वजन्म के संस्कारों पर विजय पाना कठिन हो जाता है उसी प्रकार नींव की दीवारें चौड़ी चिनकर उन पर झोंपड़ी बनाना असंभव हो गया। प्रत्यक्ष रूप से मूर्ख कहे जाने का भार अपने ऊपर लेने को मैं तैयार न था। जब लोग इतनी बड़ी बृटिश सरकार का 'टॉप्हेवी' कहने में नहीं चूकते, तो मेरे मकान को 'बॉटम् हेवी' कहने से किसका मुँह बन्द किया जाता। 'टॉप हेवी' के लिए तो एक बहाना भी है—'सिर बड़ा सरदार का' मेरे पास ऐसा कोई बहाना न था। मैं शहर में रहकर गंवार नहीं बनना चाहता था। मकान फूस से क्या लकड़ी से भी न पटा उसमें डाटें लगाईं गईं। उस सम्बन्ध में मेरे छोटे भाई बाबू रामचन्द गुप्त तथा मेरी श्रीमती जी के बड़े भाई लाला कालीचरण जी ने ठेकेदार महोदय को कई बार डाट-फटकार बताने का मौका पाया।

अब मैं डाट का अर्थ समझ गया—डाट ईंट-चूने की उस बनावट को कहते हैं जो सदा अपना भार लिए धूप और मेह के साथ रण में डटी रहती है, किन्तु उसे डटी रहने के लिए स्वयं धूप और मेह की पर्वाह न करके डटा रहना पड़ता है। और समय-समय पर ठेकेदार को भी डाट देनी पड़ती है। इस प्रकार मेरा शब्द कोष (अर्थ-कोष नहीं) बहुत बढ़ गया है, अब मैं कछ, डाढ़ा, चीरा, हाँफ-सेट, होल-पास, नासिक, चश्मा, ठेवी आदि वस्तुकला के पारिभाषिक शब्द का अर्थ समझने लगा हूँ। एक बात और भी मालूम हो गई है। आजकल की सभ्यता की काट-छाँट का प्रभाव वस्तुकला पर भी पड़ा है। इस युग में मूँछें कट-छट कर तितली बनी और फिर तितली बनकर उड़ गईं। कोट आधे हो गये। पैंट भी शोर्ट हो गईं। कमीज की बाँहें और गले मुख्तसर बनने लगे। जूतों का स्थान चप्पल और सेन्डलों ने ले लिया। नाटक एकाङ्की ही रह गया। इसी प्रकार मकानों में चौखट न बनकर तिखट बनने लगी। आजकल की चौखटों के नीचे की बाजू नहीं होती सूर के बालकृष्ण को देहली लांघने में जो कठिनाई हुई थी वह मेरे नाती पोतों को नहीं होगी।

अर्थकोष के क्षय के साथ शब्दकोष की वृद्धि उचित न्याय है—'एवज मावजा गिला न दारद'। इधर का लेखा उधर बराबर हो गया। और नहीं तो परिवृत्ति अलंकार का एक नया उदाहरण मिल गया है। बेर देकर मोती लेना कहूँ या इसका उल्टा ?

जिस प्रकार शुरू में जनमेजय के नागयज्ञ की तरह ईंट चूने का स्वाहा होता था उसी प्रकार पीछे धन का स्वाहा होने लगा, और मैं भी घर फूँक तमाशा देखने का अस्पृहणीय सुख अनुभव करने लगा। एक के बाद दूसरी पासबुक चुकती हुई, फिर कैश-सार्टिफिकेटों पर नौबत आई और पीछे रिजर्व बैंक के शेयर वारंट भी जो

भाग्यशालियों को ही मिले थे, अछूते न रहे। वे बेचारे भी काम आये। मैं 'पुरुष-पुरातन की वधू' के मादक संसर्ग से मुक्त हो गया, अस्तु यह थोड़ा लाभ नहीं कविवर बिहारीलाल ने कहा है।

"कनक कनक ते सौगुनी, मादकता अधिकाय।
वा खाए बौराय नर, वा पाये बौराय॥"

अब मुझे कनक (धन) मद न सता पायगा, और मैं बौराया न कहाँऊगा। दार्शनिक के नाते यदि कोई मुझे पागल कह लेता, तो मैं इसे दार्शनिक होने का प्रमाण-पत्र मानकर प्रसन्न होता, किन्तु धन मद से लाञ्छित होना मैं पाप समझता हूँ। कांग्रेसी मंत्रि-मंडल पर अनंत श्रद्धा रखता हुआ भी मैं यह कहने को तैयार हूँ कि धन के मद से तो भंग-भवानी और वारुणीदेवी का मद ही श्रेयस्कर है। इसमें अपना ही अपमान होता है दूसरे का तो नहीं।

एक महाशय ने मेरे घर के तहखाने को देखकर कहा कि आप के घर में ठंडक तो खूब रहती होगी ? मैंने उत्तर दिया, जी हाँ। जब रुपये की गर्मी न रही, तब ठंडक रहना एक वैज्ञानिक सत्य ही है। इस पर उन्होंने तहखानों के संबंध में सेनापति का निम्नलिखित छन्द सुनाया—

"सेनापति ऊँचे दिनकर के चुवति लुवैं"
नद नदी, कुँवैं कोपि डारत सुखाइ कै।
चलत पवन, मुरझात उपवन, वन,
लाग्यौ है तपन, डार्यो भूतलों तपाइ कै।
भीषम तपत रितु, ग्रीषम सकुचि तातैं,
सीरक छिपी है, तहखानन में जाइ कै।
मानौ सीत-कालैं, सीत-लता के जमाइवे कौं,
राखे हैं विरंचि बीज धरा में धराइ कै।

मैंने कहा भाई साहब वस्तु हाथ से गई, फिर छाया भी न मिले, तो पूरा अत्याचार ही ठहरा। पहले के लोगों के तहखाने धन से भरे रहते थे, अब छाया ही सही। यदि गेहूँ नहीं तो भूसा ही गनीमत है।

धन का रोना अधिक न रोऊँगा। अब और लाभ सुनिए। बाहर मकान बनाने का सबसे बड़ा प्रलोभन यह होता है कि उसमें थोड़ी सी खेती-बारी करके अपने को वास्तव में शाकाहारी प्रमाणित किया जाय। मेरी खेती भी उन्हीं लोगों की सी है जिनके लिए कहा गया है—

"कर्महीन खेती करै, बर्ध मरै या सूखा परै।"

जब घर बनने के लिए डेढ़ रुपया रोज खर्च करके दूसरे के कुँए से पैर चलवा कर हौज भरवा लेता था तब तक ही खेती खूब हरी-भरी दिखलाई देती थी। माली महोदय भी "माले मुफ्त दिले बेरहम" की लोकोक्ति का अनुकरण करते हुए पानी की कंजूसी न करते थे। उन दिनों चाँदी की सिंचाई होती थी, फिर भी शाक-पात के दर्शन क्यों न होते ? पालक में शाक की क्यारी तो कामधेनु सिद्ध हुई। जितनी काटते उतनी ही बढ़ती। वह वास्तविक अर्थ में पालक थी। गोभी के फूल भी खूब फूले। उन्हें अधिकार से खाया भी क्योंकि श्रीमद्भगवद्गीता में फलों का ही निषेध किया गया है, पत्तों और फूल का नहीं। भगवान् ने कहा है—"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।" किन्तु जब मकान बन चुका तो अपने ही आप पानी देने की नौबत आई। अब तो श्रीमद्भगवद्गीता का वाक्य अक्षरशः सत्य होता दिखलाई देता है। दिन-रात सिंचाई के बाद भी पत्र और पुष्प ही दिखलाई देते हैं। खेत सींचने में निष्काम कर्म का आनन्द मिलता है। मेरी खेती पर मालूम नहीं, अगस्त्यजी की छाया पड़ गई है कि जल से प्लावित क्यारियों में शाम तक

पानी का लेश-मात्र भी नहीं रहने पाता। बाबा तुलसीदास जी का अनुकरण करते हुए कह सकता हूँ—जैसे खल के हृदय में संतों का उपदेश। भगवान् की तरह मैं भी कुँए पर खड़ा रीतों को भरा और भरों को रीता किया करता हूँ। मालूम नहीं भगवान् इस स्पर्द्धा का क्या बदला देंगे? इतना संतोष अवश्य है कि मेरे कुँए का पानी मीठा निकला है। इसमें पूर्वजों का पुण्य-प्रताप ही कहूँगा। कुँए का जल ऐसा है कि कभी-कभी मुझे कसम खानी पड़ती है कि यह नल का नहीं है। "तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणः क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति।" अर्थात् बाप दादों का कुआँ है, ऐसा कहकर कायर पुरुष खारा पानी पीते हैं। सौभाग्य से मेरी सन्तान के लिए ऐसा न कहा जायगा।

मेरी खेती में से सिर्फ इतना ही लाभ है कि मुझे पौधों की थोड़ी-बहुत पहचान होगई है। मैं लौकी और काशीफल, टिंडे और करेले के पत्तों में विवेक कर सकता हूँ। मैं देहली दरवाजे रहते हुए भी देहली के उन लोगों में से नहीं हूँ जिन्होंने कभी अपनी उम्र में चने का पेड़ नहीं देखा। बहुत कुछ जमा लगने पर मैं यह तो न कहूँगा कि कुछ न जमा। जमा सिर्फ इतना ही कि मेरे यहाँ की भूमि वंध्या होने के दोष से बच गई। जिस प्रकार हजरत नूह की किश्ती में सब जानवरों का एक जोड़ा नमूने के तौर पर बच रहा उसी प्रकार मेरी खेती में विद्यार्थियों की शिक्षा के लिए दो-दो नमूने हर एक चीज के मिल जायंगे और बाबा तुलसीदास जी के शब्दों में यह न कहना पड़ेगा:—

'ऊसर बरसे तृण नहिं जामा।
संत हृदय जस उपज न कामा॥'

जमीन को क्यों दोष दूँ। मेरी खेती पर चिड़ियों की भी विशेष कृपा रहती है। वे मेरे बोए हुए बीज को जमीन में पड़ा नहीं देख

सकतीं और मैं भी खेत चुग लिए जाने के पूर्व सचेत नहीं होता। फिर पछतावे से क्या ?

मैं अपनी छोटी सी दुनियाँ में किसानों की अतिवृष्टि, अनावृष्टि, शलभाः, शुकाः सभी ईतियों का अनुभव कर लेता हूँ। सोचा था—वर्षा के दिनों में खेती का राग अच्छा चलेगा किन्तु गढ़े में होने के कारण साधारण वृष्टि भी अतिवृष्टि का रूप धारण कर लेती है। दो रोज की वर्षा में ही जल-प्लावन होगया। सृष्टि के आदिम दिनों का दृश्य याद आगया। मुझे भी अभाव की चपल बालिका चिन्ता का सामाना करना पड़ा। पसीना बहाकर सींचे हुए वृक्ष, जिन्हें बड़ी मुश्किल से ग्रीष्म के घोर आतप से बचा पाया था, जल-समाधि लेकर विदा हो गये। जीवन (जल) ही उनके जीवन का घातक बना।

शहर से कुछ दूर होने के कारण मेरे नापित महोदय मेरे ऊपर अब कृपा नहीं करते। यद्यपि मेरे नापितदेव धूर्त्त तो नहीं है तथापि नापित को शास्त्रों में धूर्त्त कहा है। 'नराणां नापितो धूर्त्तः'। इस प्रकार मेरा एक धूर्त्त से पीछा छूटा। जो तृतीय श्रेणी के न्यायी ब्राह्मण मेरे ऊपर कृपा करना चाहते हैं उन पर कृपा करने से मुझे संकोच होता है। अब मैं स्वयंशेवक (स्वयं शेव करने वाला) बन गया हूँ और देश के हित में टमाटर और पालक के विटमिन-बाहुल्य से बने अपने अमूल्य रक्त के दो चार बिन्दु नित्य समर्पण करना सीख गया हूँ। शायद सर कटाने की कभी नौबत आय तो इतना संकोच नहीं होगा। सर के बजाय बाल तो दो-चार महीने में और नाखून दो-एक सप्ताह में कटवाही लेता हूँ। फिर भी लोग कहते हैं बलिदान का समय नहीं रहा।

मैं अपने मकान तक पहुँचने के रास्ते के सम्बन्ध में दो एक बात कहे बिना इस लेख को समाप्त नहीं कर सकता। उससे मुझे

जो लाभ हुआ है वह उमर भर नहीं हुआ था। मैंने अपने जीवन में इस बात की कोशिश की थी कि दूसरों को धोका न दूँ; इसलिए मुझे गालियाँ भी शायद मिली हों। लेकिन इस सड़क की बदौलत इक्के-तांगे वालों से रोज गालियाँ सुननी पड़ती हैं। पीठ फेरते ही वे कह उठते हैं। "बेईमान दिल्ली दरवाजे की कहकर गाँव के दगड़े में खींच लाया है। मैं भी उनकी गालियों का विवाह के समान आदर करता हूँ, और चुङ्गी के विधायकों का स्मरण कर लेता हूँ कि— "कबहुँक दीनदयाल के भनक पड़ेगी कान ?" गाँव की सड़कें भी इसकी प्रतिद्वन्दता नहीं कर सकतीं। वन जाते हुए श्रीरामचन्द्रजी के सम्बन्ध में तुलसीदासजी ने कहा है—"कठिन भूमि कोमल पद-गामी।" मेरे लिए शायद उन्हें कहना पड़ता "कोमल भूमि कठिन पदगामी।" पवित्र व्रज-रज तथा खाके वतन से पूर्ण इस सड़क में जूते इस प्रकार से समा जाते हैं जैसे किसी साहब के ड्राइङ्गरूम के कुशन में शहर के किसी मोटे रईस का सारा शरीर। यदि कहीं जूतों को धूलि धूसरित होने से बचाकर उनकी शान रखना चाहूँ तो, दूसरों की कोठी में ट्रेसपास करने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं। किन्तु इसमें मेरी शान जाती है। दूसरी कोठियों के वाणी से तो नहीं किन्तु कभी-कभी मधुर (व्यंग) द्वारा अवश्य विरोध करते हैं।*

रात्रि को जब घर लौटता हूँ तो कबीर के बताये हुए ईश्वर मार्ग की कनक और कामिनी रूपिणी बाधाओं के समान 'सूद' और 'लाल' की कोठियाँ मिलती हैं। पदध्वनि सुनते ही उनके श्वान-देव उन्मुक्त कण्ठ से मेरा स्वागत करते हैं। उनके लिए मुझे दण्डधारी

---

* चुङ्गी की कृपा से अब कोलतार की सड़क बन गई है। उस काली सड़क ने मेरा और चुङ्गी का मुख उज्ज्वल कर दिया है किन्तु वह प्रेम गली की भाँति अति सांकरी है 'जा में दो न समाँय'।

होकर कभी-कभी उद्दण्ड होना पड़ता है। अब मुझे इन स्वाभाविक पशुओं के नाम भी याद हो गए हैं। एक का नाम टाइगर है और दूसरे का काल्लू। नामोच्चारण करने से दण्ड का प्रयोग नहीं करना पड़ता। जब इन घाटियों को पार कर लेता हूँ तभी जान में जान आती है। हमारे घरों में ही बिजली का प्रकाश है किन्तु रास्ते में पूर्ण अन्धकार का साम्राज्य रहता है और मुझे उपनिषदों का वाक्य याद आ जाता है "असूर्या नामते लोका अन्धेन तमसा वृता" माल्लूम नहीं उसके लिए कौनसे पाप का उदय हो जाता है। "तमसो मा ज्योतिर्गमय" की प्रार्थना करता हुआ जैसे-तैसे राम-राम करके घर पहुँचता हूँ। रोज सवेरा होता है और उन्हीं मुसीबतों का सामना करना पड़ता है।

इन सब आपत्तियों को सहकर भी बस इतना ही संतोष है कि उन्मुक्त वायु का सेवन कर सकता हूँ और बगीचे के होते हुए मुझे यह समस्या नहीं रहती कि क्या करूँ? जूतियाँ सीने से अधिक श्रेयस्कर काम मिल जाता है। शास्त्रकारों का कथन है—

'बेकार मुबाश कुछ किया कर,
यदि कुछ न हो तो जूतियाँ सीया कर।'

और कुछ नहीं होता तो खुरपी लेकर क्यारियों को ही निराता रहता हूँ, और चतुर किसानों में अपने गिने जाने की स्पर्द्धा करता रहता हूँ—

"कृषी निरावहिं चतुर किसाना"। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने सन की गांठ के आधार पर बाबा तुलसीदास जी को किसनई का पेशेवाला प्रमाणित किया है। इस बात से मुझे एक बड़ा सन्तोष हो जाता है कि और किसी बात में न सही तो खेती के काम में ही भक्त शिरोमणि की समानता हो जाय।

अब मेरा यह निष्कर्ष है कि मुझ जैसे बेकार, सफल साधनहीन आदमी को—जिसके यहाँ न कोई सवारी-शिकारी और न दो चार नौकर चाकर हैं (वैसे तो हमारे उपनिवेश के सभी लोग 'स्वयं दासास्तपस्विनः' वाले सिद्धान्त के मानने वाले हैं)—कोठी बनाकर न रहना चाहिए।

पाठ ११

भाषण

[डा० धीरेन्द्र वर्मा]

[डा० धीरेन्द्र वर्मा (जन्म १८९७ ई०) की प्रारम्भिक शिक्षा का का प्रधान विषय संस्कृत रहा और १९२१ में म्योर सेंट्रल कालेज प्रयाग से एम० ए० संस्कृत में पास किया था। १९२४ ई० में आप ने प्रयाग विश्वविद्यालय में हिन्दी का अध्यापन कार्य आरम्भ किया था। १९३५ में आप पेरिस विश्वविद्यालय भाषा-विज्ञान के विशेष अध्ययन के लिए गये थे, और वहाँ से ही आपने डाक्ट्रेट ली थी। इस समय आपः प्रयाग विश्वविद्यालय में यूनिवर्सिटी प्रोफेसर तथा हिन्दी भाषा के और भाषा-विज्ञान के प्रायः विशेषज्ञ माने जाते हैं। व्रजभाषा का भी आपने विशेष अध्ययन किया है। आपके ग्रंथों में से निम्नलिखित मुख्य हैं। 'हिन्दी भाषा का इतिहास', 'हिन्दी भाषा और लिपि', 'ग्रामीण हिन्दी व्रजभाषा व्याकरण', 'यूरोप के पत्र' तथा 'विचारधारा'। आपका डाक्ट्रेट का थीसिस फ्रेंचभाषा में प्रकाशित हुआ है। प्रस्तुत भाषण आपने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के शिमला अधिवेशन की साहित्य परिषद् के सभापति के आसन से दिया था। यह हिन्दी की लिखित भाषण-शैली का उदाहरण है और लेखक के निबन्ध संग्रह "विचारधारा" से लिया गया है। यद्यपि इसकी विचार धारा पर जहाँ तहाँ समकालीन हिन्दी भाषा संबंधी विशेष परिस्थितियों और समस्याओं का प्रभाव

---

(१) हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सत्ताईसवें अधिवेशन शिमला के साहित्य परिषद् के सभापति के पद से दिया गया।

है, किन्तु अधिकांश प्रश्न तथा उनके सम्बन्ध में उपस्थित किया गया दृष्टिकोण स्थायी महत्व रखता है।]

अनेक वयोवृद्ध साहित्य महारथियों के रहते हुए हिन्दी प्रेमियों ने इस परिषद् के सभापति के रूप में जो मुझे चुनकर भेजा है इसका उद्देश्य कदाचित् नई पीढ़ी को प्रोत्साहित करना तथा उनके दृष्टिकोण को समझना मात्र है। कार्य भार उठाने के लिए बड़े-बूढ़े नवयुवकों को ऐसी ही युक्तियों से तैयार किया करते हैं। जो हो, गुरुजनों की आज्ञा शिरोधार्य है। मैं इस अवसर-प्रदान तथा आदरभाव के लिये साहित्य सेवियों का अभारी हूँ।

हमारी अत्यन्त प्राचीन भाषा का नया कलेवर—मेरा तात्पर्य यहाँ खड़ीबोली हिन्दी से है—तथा उसका साहित्य इस समय कुछ असाधारण परिस्थितियों में होकर गुजर रहा है। इन नवीन परिस्थितियां के परिणाम-स्वरूप अनेक नई समस्याएँ, नई उलझनें, नये भ्रम हमारी भाषा और साहित्य के सम्बन्ध में हिन्दुओं तथा अहिन्दुओं दोनों के ही बीच में फैल रहे हैं। अपनी भाषा और अपने साहित्य के भावी हित की दृष्टि से इनमें से कुछ प्रधान समस्याओं की ओर मैं आपका ध्यान आकर्षित करना चाहूँगा। बात जरा बचकानी-सी मालूम होती है किन्तु मेरी समझ में हिन्दी भाषा और साहित्य के सम्बन्ध में बहुत सी वर्त्तमान समस्याओं का प्रधान कारण हिन्दी की परिभाषा, नाम तथा स्थान के सम्बन्ध में भ्रम अथवा दृष्टिकोण का भेद है अतः सबसे पहले इनके विषय में यदि हम और आप सुथरे ढंग से सोच सकें तो उत्तम होगा।

आप कहेंगे कि हिंदी की परिभाषा के सम्बन्ध में मत भेद ही क्या हो सकता है किंतु वास्तव में मतभेद नहीं तो समझ का फेर कहीं पर अवश्य है। हिन्दी सेवियों का वर्ग हिन्दी भाषा शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में करता है दूसरा वर्ग उसका प्रयोग कदाचित् भिन्न अर्थ

में करता है। देश में हिन्दी भाषा के रूप के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न धारणाएँ फैली हुई हैं। क्योंकि हम लोग हिन्दी साहित्य परिषद् के रंगमंच पर बैठे हुए विचार विनिमय कर रहे हैं, अतः हमारे लिए हिन्दी भाषा का प्रधानतया वह रूप महत्वपूर्ण है जिसमें हमारा साहित्य लिखा गया था तथा आज भी लिखा जा रहा है। मेरा तात्पर्य चन्द, कबीर, तुलसी, सूर, नानक, विद्यापति, मीरा, केशव, बिहारी, भूषण, भारतेंदु, रत्नाकर, प्रेमचन्द, प्रसाद की भाषा से है। इनकी ही रचनाओं को ही तो आप हिन्दी साहित्य की श्रेणी में रखते हैं तथा इन रचनाओं की भाषा को ही तो आप साहित्य के क्षेत्र में हिन्दी भाषा नाम देते हैं। इस दृष्टिकोण से मैं हिन्दी भाषा की एक परिभाषा आपके सामने रख रहा हूँ। हिन्दी प्रेमियों से मेरा अनुरोध है कि वे इस परिभाषा के प्रत्येक अंश पर ध्यानपूर्वक विचार करें और यदि इसे ठीक पावें तो अपनावें, यदि अपूर्ण अथवा किसी अंश में त्रुटिपूर्ण पावें तो विचार-विनिमय के उपरांत उसे ठीक करें। हिन्दी के क्षेत्र में कार्य करनेवालों के पथप्रदर्शन के लिए यह नितांत आवश्यक है कि हम और आप स्पष्ट रूप में समझ रहें कि आखिर किसी हिन्दी के लिए हम और आप अपना तन मन धन लगा रहे हैं। हिन्दी भाषा की यह परिभाषा निम्नलिखित है—"व्यापक अर्थ में हिन्दी उस भाषा का नाम है जो अनेक बोलियों के रूप में आर्यादेश के मध्यदेश अर्थात् उत्तरप्रदेश, विहार, मध्यप्रदेश, विंध्यप्रदेश, राजस्थान, मध्यभारत, दिल्ली तथा पूर्वी पंजाब में हिन्दी भाषी भाग की मूल जनता की मातृभाषा है। इन प्रदेशों के प्रवासी भाई भारत के अन्य प्रान्तों तथा विदेशों में भी आपस में अपनी मातृभाषा का प्रयोग करते हैं। हिन्दी भाषा का आधुनिक प्रचलित साहित्यिक रूप खड़ी बोली हिन्दी है जो मध्यप्रदेश की पढ़ी-लिखी मूल जनता की शिक्षा, पत्र व्यवहार तथा पठनपाठन की भाषा है और साधारणतया

देवनागरी लिपि में लिखी व छापी जाती है। भारतवर्ष की अन्य प्रांतीय भाषाओं के समान खड़ी बोली हिन्दी तथा हिन्दी की लगभग समस्त बोलियों के व्याकरण, शब्दसमूह, लिपि तथा साहित्यिक आदर्श आदि का प्रधान आधार भारत की प्राचीन संस्कृति है जो संस्कृत, पाली, प्राकृत तथा अपभ्रंश आदि भाषाओं के रूप में सुरक्षित है। ब्रजभाषा, अवधी, मैथिली, मारवाड़ी, गढ़वाली, आदि हिन्दी के ही प्रादेशिक अथवा वर्गीय रूप हैं।"

इस तरह हम यह पाते हैं कि यद्यपि हिन्दी की प्रादेशिक तथा वर्गीय बोलियों में आपस में कुछ विभिन्नता है किन्तु आधुनिक समय में लगभग इन समस्त बोलियों के बोलने वालों ने हिन्दी के खड़ी बोली रूप को प्रधान साहित्यिक माध्यम के रूप में चुन लिया है और इसी साहित्यिक खड़ी बोली हिन्दी के द्वारा आज हमारे कवि, लेखक, पत्रकार, व्याख्याता आदि अपने-अपने विचार प्रकट कर रहे हैं। कभी-कभी मुझे यह उलाहना सुनने को मिलता है कि हिन्दी भाषा का रूप इतना अस्थिर है कि हिन्दी भाषा किसे कहा जाय यह समझ में नहीं आता। मेरा उत्तर है कि यह एक भ्रममात्र है। साहित्यिक दृष्टि से यदि आप आधुनिक हिन्दी के रूप को समझना चाहते है तो कामायनी, साकेत, प्रियप्रवास, रंगभूमि, गढ़कुंडार आदि किसी भी आधुनिक साहित्यिक कृति को उठा लें। व्यक्तिगत अभिरुचि तथा शैली के कारण छोटी छोटी विशेषताओं का रहना तो स्वाभाविक है किंतु यों आप इन सब में समान रूप से एक ऐसी विकसित, सुसंस्कृत तथा टकसाली भाषा पावेंगे कि जिसके व्याकरण, शब्दसमूह, लिपि तथा साहित्यिक आदर्श में आपको कोई प्रधान भेद नहीं मिलेगा। यह साहित्यिक हिन्दी प्राचीन भारत की संस्कृत पाली, प्राकृत तथा अपभ्रंश आदि भाषाओं की उत्तराधिकारिणी है और कम से कम अभी तक तो भारतीय भाषाओं के क्षेत्र में अपने ऐतिहासिक प्रति-

निधित्व को क़ायम रक्खे हुए है। संभव है कि आप में से कुछ लोग सोच रहे हों कि साहित्य परिषद् में भाषा सम्बन्धी इस विस्तार की क्या आवश्यकता थी। साहित्य के लिये भाषा का माध्यम अनिवार्य है अतः भाषा के रूप तथा आदर्शों के संबंध में भ्रम अथवा मतभेद अंत में साहित्य के विकास में घातक हो सकता है। इसीलिये सबसे पहले इस संभव भ्रम की ओर मुझे आपका ध्यान आकर्षित करना पड़ा।

हिन्दी के सम्बन्ध में दूसरी गड़बड़ी उसके नाम के विषय में कुछ दिनों से फैल रही है। कुछ लोग यह कहते सुने जाते हैं कि आख़िर नाम में क्या रखा है। एक हद तक यह बात ठीक है किंतु आप अपने पुत्र का नाम रहीम ख़ाँ रखें अथवा रामस्वरूप इससे कुछ तो अंतर हो ही सकता है। व्यक्तियों का प्रायः एक निश्चित नाम होता है। रहीम ख़ाँ उर्फ़ रामस्वरूप का चलन आपने कम देखा सुना होगा। इसके अतिरिक्त नामकरण संस्कार के उपरांत, अथवा आज-कल की परिस्थिति के अनुसार स्कूल में नाम लिखाने के बाद से, वही नाम आजीवन व्यक्ति के साथ चलता रहता है। व्यक्ति के जीवन में कई बार नाम बदलना अपवाद-स्वरूप है। यह बात भाषाओं के नाम पर भी लागू होती है। अभी कुछ दिन पहले तक जब मध्यदेशीय साहित्य की भाषा प्रधानतया ब्रज तथा अवधी थी उस समय हिन्दी के लिये 'भाषा' या 'भाखा' शब्द का प्रयोग प्रायः किया जाता था। इसके साथ प्रदेश का नाम जोड़कर अक्सर ब्रजभाषा, अवधी भाषा आदि रूपों का व्यवहार हमें मिलता है। गत सौ वर्ष से जब से हिंदी के खड़ी बोली रूप को हम मध्यदेशवासियों ने अपने साहित्य के लिये अपनाया तब से हमने अपनी भाषा के इस आधुनिक साहित्यिक रूप का नाम हिन्दी रखा। तब से अब तक इस नाम के साथ कितना इतिहास, कितना मोह, कितना आक-

कैसे बढ़ता गया इसे बतलाने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। भला हो या बुरा हो, अपना हो या व्युत्पत्ति की दृष्टि से पराया हो, हमारी भाषा का यह नाम चल गया और चल रहा है। स्वामी दयानंद सरस्वती का दिया आर्यभाषा नाम निःसंदेह अधिक वैज्ञानिक था तथा मध्यदेशीय संस्कृति के अधिक निकट था, किंतु वह नहीं चल सका और वह बात वहाँ ही समाप्त हो गई। किंतु इधर हमारी भाषा के नाम के संबंध में अनेक दिशाओं से प्रयास होते दिखलाई पड़ रहे हैं। मेरा संकेत यहाँ तीन नए नामों की ओर है—अर्थात् हिन्दी-हिन्दुस्तानी, हिन्दुस्तानी तथा राष्ट्रभाषा। यदि ये नाम इस श्रेणी के होते जैसे हम अपने पुत्र रामप्रसाद को प्रेमवश मुनुआ, पुतुआ और बेटा नामों से भी पुकार लेते हैं तब तो मुझे कोई आपत्ति नहीं थी। किन्तु, मुनुआ, पुतुआ तथा बेटा—रामप्रसाद के स्थान पर चलवाना मेरी समझ में अनुचित है। यह भी स्मरण रखने की बात है कि नाम परिवर्त्तन सम्बन्धी यह उद्योग हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रेम के कारण नहीं है। इनमें से कोई भी नाम किसी प्रसिद्ध हिन्दी साहित्य सेवी की ओर से नहीं आया है। इस विचार के सूत्रधार प्रायः देश के राजनीतिक हित-अनहित की चिंता रखने वाले महापुरुष हैं। हमारी भाषा के नाम के साथ यह खिलवाड़ करना अब उचित नहीं प्रतीत होता। हमारे राजनीतिक पंडित यदि यह सोचते हों कि हिन्दी का नाम बदल कर वे उसे किसी दूसरे वर्ग के गले उतार सकेंगे तो यह उनका भ्रम मात्र है। प्रत्येक हिन्दी का विद्यार्थी यह जानता है कि 'हिन्दी' नाम प्रारंभ में खड़ी बोली उर्दू भाषा के लिये प्रयुक्त होता था। हमने अपनी भाषा के लिये जब यह नाम अपनाया, तो दूसरे वर्ग ने हिन्दी छोड़कर हिन्दुस्तानी अथवा उर्दू नाम रख लिया। यदि हम हिन्दी-हिन्दुस्तानी; हिन्दुस्तानी अथवा उर्दू नाम से भी अपनी भाषा को पुकारने लगें तो दूसरा वर्ग हटकर कहीं और जा पहुँचेगा।

'राष्ट्रभाषा' जैसे ठेठ भारतीय नाम को तो दूसरे वर्ग द्वारा स्वीकृत करवाना असंभव है। समस्या वास्तव में नाम की नहीं है, भाषा-शैली की है। यदि आप खड़ी बोली उर्दू-शैली को तथा तत्सम्बन्धी सांस्कृतिक वातावरण को स्वीकृत करने को उद्यत हों तो मैं विश्वास दिलाता हूँ कि दूसरे वर्ग को हिंदी नाम भी फिर से स्वीकृत करने में आपत्ति नहीं होगी। किंतु क्या हम से अपनी भाषा-शैली तथा साहित्यिक संस्कृति छुड़ाई जा सकती है? इसका उत्तर स्पष्ट है। संभव है कि कुछ व्यक्ति छोड़ दें किंतु भारत जब तक भारत है तब तक देश नहीं छोड़ेगा। राजनीतिक सुविधाओं के कारण हमारी भाषा से सहानुभूति रखने वाले राजनीतिज्ञों से मेरा सादर अनुरोध है कि वे हमारी भाषा के सम्वन्ध में यह एक नई गड़बड़ी उपस्थित न करें। यदि इससे कोई लाभ होता तब तो इस पर विचार भी किया जा सकता था किन्तु वास्तव में हिन्दी को हिन्दी हिन्दुस्तानी, हिन्दुस्तानी अथवा राष्ट्रभाषा नामों से पुकारने से हिन्दी-उर्दू की समस्या हल नहीं होगी। इस समस्या को सुलझाने का एक ही उपाय था—या तो स्वर्गीय प्रसादजी से स्वर्गीय इक़बाल की भाषा में साहित्य रचना करवाना अथवा स्वर्गीय इक़बाल से स्वर्गीय प्रसाद की भाषा में रचना करवाना। यदि इसे आप असंभव समझते हों तो हिन्दी-उर्दू के बीच में एक नए नाम के गढ़ने से कोई फल नहीं। हिन्दुस्तानी अथवा राष्ट्रभाषा नाम के कारण हिन्दी की साहित्यिक-शैली के सम्बन्ध में कुछ लेखकों के हृदय में भ्रम फैलने लगा है इसी कारण मुझे अपनी साहित्यिक भाषा के नाम के सम्बन्ध में आपका इतना समय नष्ट करने का साहस हुआ।

तीसरी समस्या जिसका मैंने ऊपर उल्लेख किया है, हिन्दी भाषा और साहित्य के स्थान की समस्या है। जिस तरह प्रत्येक भाषा का एक घर होता है—बंगाली का घर बंगाल है, गुजराती का गुजरात, फारसी का ईरान, फ्रांसीसी का फ्रांस—उसी प्रकार हिन्दी भाषा और

साहित्य का भी कोई घर है या होना चाहिए यह बात प्रायः भुला दी जाती है। इधर कुछ दिनों से हिन्दी के राष्ट्रभाषा अर्थात् अखिल भारतवर्षीय अन्तर्प्रान्तीय भाषा होने के पहलू पर इतना अधिक जोर दिया गया है कि उसके घर की तरफ़ हमारा ध्यान ही नहीं जाता। वास्तव में हिन्दी भाषा और साहित्य के दो पहलू हैं—एक प्रादेशिक तथा दूसरा अन्तर्प्रान्तीय। हिन्दी भाषा का असली घर तो आर्यावर्त्त के मध्यदेश में गंगा घाटी में है जो आज विचित्र रूप से अनेक प्रदेशों में विभक्त है। हमारी भाषा और साहित्य की रचना के प्रधान केन्द्र उत्तर प्रदेश, विहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान, मध्यभारत, दिल्ली तथा पंजाव में हैं। यहाँ की पढ़ी-लिखी जनता की यह साहित्यिक भाषा है—और अव राजभाषा भी। इन प्रदेशों के वाहर शेष भारत की जनता की साहित्यिक भाषाएँ भिन्न हैं, जैसे वंगाल में वंगला, गुजरात में गुजराती, महाराष्ट्र में मराठी, आंध्र में तेलुगू आदि। इन अन्य प्रदेशों की जनता तो हिन्दी को प्रधानतया अन्तर्प्रान्तीय विचार-विनिमय से साधन स्वरूप ही देखती है। प्रत्येक की अपनी-अपनी साहित्यिक भाषा है किन्तु अन्तर्प्रान्तीय कार्यों के लिये कुछ लोगों के द्वारा उन्हें हिन्दी सीख लेने की आवश्यकता भी जान पड़ती है। हम हिन्दियों की साहित्यिक भाषा भी हिन्दी है और अन्तर्प्रान्तीय भाषा भी हिन्दी ही है। हिन्दी के वनने-विगड़ने से एक बंगाली, गुजराती मराठी या तेलुगू की भाषा या साहित्य पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता, इसलिये हिन्दी के सम्वन्ध में विचार करते समय उसका एक तटस्थ व्यक्ति के समान दृष्टिकोण होना स्वाभाविक है। किन्तु हिन्दी भाषा या साहित्य के वनने-विगड़ने पर हम हिन्दियों की भविष्य की पीढ़ियों का वनना-विगड़ना निर्भर है। उदाहरणार्थ अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों के लिये भारतीय, ईरान, जापानी आदि सभी कामचलाऊ अंग्रेजी सीख लेते हैं और योग्यतानुसार सही गलत

प्रयोग करते रहते हैं किन्तु एक अंग्रेज का अपनी भाषा के हित-अनहित के सम्बन्ध में विशेष चिंतित होना स्वाभाविक है। इस सम्बन्ध में एक आदरणीय विद्वान् ने एक निजी पत्र में अपने विचार बहुत जोरदार शब्दों में प्रकट किए हैं। उनके ये सदा स्मरण रखने योग्य वचन निम्नलिखित हैं—"मैं कहता हूँ क्यों हिन्दी को हिन्दी नहीं कहा जाता, क्यों मातृभाषा नहीं कहा जाता, क्यों इस बात को स्वीकार करने में हम हिचकते हैं कि उसके द्वारा करोड़ों का सुख दुख अभिव्यक्त होता है; राष्ट्रभाषा अर्थात् तिजारत की और भाषा, राजनीति की भाषा, काम चलाऊ भाषा यही चीज प्रधान होगई और मातृभाषा, साहित्य भाषा, हमारे रुदन-हास्य की भाषा गौण। हमारे साहित्यिक दारिद्र्य का इससे बढ़कर अन्य प्रदर्शन क्या होगा।"

वास्तव में हिन्दी भाषा और साहित्य का उत्थान-पतन प्रधानतया हिन्दी भाषियों पर निर्भर है। हिन्दी भाषा को जैसा रूप वे देंगे तथा उसके साहित्य को जितना ऊपर वे उठा सकेंगे उसके आधार पर ही अन्य प्रान्तवासी राष्ट्र भाषा हिन्दी को सीख सकेंगे व उसके सम्बन्ध में अपनी धारणा बना सकेंगे। इस समय भ्रमवश एक भिन्न परिस्थिति है। हिन्दी-भाषियों को अपनी भाषा का रूप स्थिर करके राष्ट्र-भाषा के हिमायतियों के सामने रखना चाहिए था। इस समय राष्ट्रभाषा-प्रचारक हिन्दी का रूप स्थिर करके हम हिन्दियों को भेंट करना चाहते हैं। इसका प्रधान कारण हमारा अपनी भाषा की ठीक सीमाओं को न समझना है। हिन्दी भाषा और साहित्य अक्षयवट के समान है। मैं इसे अक्षयवट इसलिये कहता हूँ कि वास्तव में संस्कृत पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदि पूर्वकालीन भाषाएँ तथा साहित्य प्रधानतया हिन्दी भाषा के ही पूर्व रूप हैं। हिन्दी इनकी ही आधुनिक प्रतिनिधि तथा सीधी उत्तराधिकारिणी है। इस अक्षयवट की जड़ें, तना तथा प्रधान शाखाएँ आर्यावर्त्त के मध्यदेश अथवा हिन्दी प्रदेश

में स्थित है, किन्तु इस विशाल वटवृक्ष के स्निग्ध-हरित पत्रों की छाया समस्त भारत को शीतलता प्रदान करती है। भारत के उपवन में इस अक्षयवट के चारों ओर बंगली, गुजराती, मराठी, आसामी, उड़िया, तेलुगू, तामिल आदि के रूप में अनेक छोटे-बड़े नए-पुराने वृक्ष भी हैं। हम सब के हितैषी हैं। किन्तु भारतीय संस्कृति का मूल प्रतिनिधि तो यह वटवृक्ष ही है इसके सींचने के लिये और सुदृढ करने के लिये वास्तव में इसकी जड़ों में पानी देने तथा इसके तने की रक्षा करने की आवश्यकता है। ऐसी अवस्था में, घर के मुखिया की तरह, इस सुदृढ वृक्ष की हरी-भरी पत्तिएँ उपवन के शेष वृक्षों की रक्षा, सूर्य के आतप तथा प्रचंड वायु के कोप से आप ही करती रहेंगी। आज हम मूल और शाखा में भेद नहीं कर पा रहे हैं। भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में पाया जाने वाला हिन्दी का राष्ट्रभाषा का स्वरूप तो अक्षयवट की शाखाओं और पत्तियों के समान है। यह शाखा-पत्र-समूह कपड़े लपेटने या पानी डालने से पुष्ट तथा हरा नहीं होगा, उसको पुष्ट करने का एक ही उपाय है—जड़ को सींचना और तने की रक्षा करना। मेरी समझ में हिन्दी भाषा और साहित्य के इन दो भिन्न क्षेत्रों को स्पष्ट रूप में समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है। हिन्दी के घर में हिन्दी को सुदृढ करना मुख्य कार्य है और हिन्दी हितैपियों की शक्ति का प्रधान अंश इसमें व्यय होना चाहिए—'नष्टे मूले नैव पत्रं न शाखा'। अन्तर्प्रान्तीय भाषा के रूप में हिन्दी का अन्य प्रांतों में प्रचार भावी भारत की दृष्टि से एक महत्व-पूर्ण समस्या है। यह क्षेत्र प्रधानतया राजनीतिज्ञों का है और इसका सम्बन्ध अन्य प्रान्तों के हित-अनहित से भी है, अतः इस क्षेत्र में इस वर्ग के लोगों को कार्य करने देना चाहिए। हिन्दी-भाषियों को तथा साहित्यिकों को इस क्षेत्र में काम करने वालों की सहायता करने के लिये सदा सहर्ष उद्यत रहना चाहिए, किन्तु इस

सम्बन्ध में हिन्दी-भाषियों तथा साहित्यिकों को अपनी शक्ति का अपव्यय नहीं करनी चाहिए।

हिन्दीभाषा और साहित्य के सम्बन्ध में सिद्धांत सम्बन्धी कुछ मूल समस्याओं की ओर मैंने आपका ध्यान आकर्षित किया है। यदि इन मूल भ्रमों का निवारण हो जावे तो हमारी अनेक कठिनाइयाँ सहसा स्वयं लुप्त हो जावेंगी। समयाभाव के कारण मैं विषय का विवेचन विस्तार के साथ तो नहीं कर सका किंतु मैंने अपने दृष्टिकोण को भरसक स्पष्ट शब्दों में रखने का उद्योग किया है। हमारी भाषा के उचित विकास तथा नव साहित्य निर्माण में और भी अनेक छोटी-छोटी बाधाएँ उपस्थित हैं। इनका सम्बन्ध प्रधानतया हिन्दीभाषियों से है। इनमें से भी कुछ के सम्बन्ध में मैं अपने विचार संक्षेप में आप के सामने विचारार्थ रखना चाहूँगा।

हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में बाधक एक प्रधान समस्या हिन्दी भाषी प्रदेश की द्विभाषा समस्या है। इस सत्य से आँख नहीं मीचना चाहिए कि साहित्य तथा संस्कृत की दृष्टि से हिन्दी प्रदेश में हिन्दी उर्दू के रूप में दो भाषाओं और साहित्यों की पृथक् धाराएँ वह रही हैं। पश्चिमी मध्यदेश अर्थात् पंजाब, दिल्ली, पश्चिमी उत्तरप्रदेश तथा राजस्थान के जयपुर आदि के राज्यों में तो उर्दू धारा आज भी पर्याप्त रूप में बलवती है किंतु शेष मध्यदेश में अर्थात् पूर्वी उत्तरप्रदेश, विहार, मध्यप्रदेश तथा मध्यभारत में हिन्दी का आधिपत्य जनता पर काफ़ी है। हिन्दी प्रदेश की यह द्विभाषा समस्या एक असाधारण समस्या है क्योंकि बंगाल, गुजरात, तामिल, कर्नाटक आदि भारत के किसी भी अन्य भाषा-प्रदेश के सामने यह संकट कम से कम अभी तो वर्तमान नहीं है। उदाहरण के लिए बंगाली भाषा प्रत्येक बंगाली की अपनी प्रादेशिक भाषा है चाहे वह हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, जैन कुछ भी हो। साहित्य और

संस्कृति के क्षेत्र में मैं हिन्दी-उर्दू मिलन को असम्भव समझता हूँ—वास्तव में दोनों में ज़मीन आसमान का अंतर है। हिन्दी लिपि, शब्दसमूह, तथा साहित्यिक आदर्श वैदिक-काल से लेकर अपभ्रंश-काल तक की भारतीय संस्कृति से ओत-प्रोत हैं। उर्दू लिपि, शब्द-समूह तथा साहित्यिक आदर्श हिन्दी प्रदेश में कल आए हैं और अभारतीय दृष्टिकोण से लबालब हैं। हिन्दियों की साहित्यिक सांस्कृतिक भाषा केवल हिन्दी है और हो सकती है। किन्तु हिन्दी के सम्बन्ध में एक भ्रम के निवारण की नितांत आवश्यकता है। वह यह कि हिन्दी हिन्दुओं की भाषा न होकर हिन्दियों की भाषा है। मध्यदेश अथवा हिन्दी प्रदेश में रहने वाले प्रत्येक हिन्दी को—चाहे वह वैष्णव हो या शैव मुसलमान हो या ईसाई, पारसी हो या बंगाली—हिंदी भाषा, साहित्य और लिपि को अपनी चीज़ समझ कर सबसे पहले और प्रधान रूप में सीखना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति अपनी वर्गीय, प्रादेशिक या सांप्रदायिक लिपि तथा भाषा को भी सीखे इसमें आपत्ति नहीं किन्तु उसका स्थान हिन्दी प्रदेश में द्वितीय रह सकेगा, प्रथम नहीं। मेरी समझ में जिनकी मातृभाषा हिन्दी है और जो यह समझते हैं कि वास्तव में हिन्दी ही हिन्दी प्रदेश की सच्ची साहित्यिक भाषा है उन्हें दूसरे पक्ष के सामने विनय के साथ, किंतु साथ ही दृढ़ता के साथ, अपने इस दृष्टिकोण को रखना चाहिए। आवश्य-कता इस बात की है कि विशेषतया पश्चिमी हिन्दी प्रदेश में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि प्रत्येक धर्म व जाति के लोगों में इस भावना का प्रचार करने का निरन्तर उद्योग हो। मैं उर्दू के विरुद्ध नहीं हूँ किन्तु मैं उर्दू को हिन्दी प्रदेश में हिन्दी के बराबर नहीं रख पाता हूँ। मैं उसे एक द्वितीय भाषा के रूप में ही सोच पाता हूँ। हिन्दी-उर्दू की समस्या को हल करने का यही एक उपाय है। दूसरा उपाय उर्दू भाषा और लिपि को अपने प्रदेश की साहित्यिक भाषा मान लेना

है। राजनीतिक प्रभावों से असम्भव भी सम्भव हो जाता है, किन्तु अब तो देश की प्रगति स्वाभाविक अवस्था की ओर लौट रही है अतः इस अस्वाभाविक परिस्थिति की कल्पना करना भी व्यर्थ है।

हिन्दी भाषा और साहित्य की त्रुटियों में से एक त्रुटि यह बताई जाती है कि वह सर्व-साधारण की भाषा और साहित्यिक आदर्श से बहुत दूर है। उसे जनता के निकट लाना चाहिए। इसमें अंशतः सार है किंतु यह पूर्ण सत्य नहीं है। साहित्यिक वर्ग तथा सर्व-साधारण में अंतर का कम होना देश के लिये सदा हितकर है; किन्तु समस्त समाज को, फलतः समस्त साहित्य को, एक श्रेणी के अंतर्गत ला सकना मेरी समझ में एक स्वप्न मात्र है। साहित्य को सर्व-साधारण के निकट ले चलने के उद्योग के साथ-साथ सर्व-साधारण की अभिरुचि तथा ज्ञान को ऊपर उठाना भी साहित्यिकों का कर्त्तव्य है। साहित्यकार सिनेमा और थियेटर कंपनियों की श्रेणी के व्यक्ति नहीं हैं जिनका प्रधान उद्देश्य सर्व-साधारण की मांग को पूरा करना मात्र होता है। साहित्यिकों का चरम उद्देश्य तो समाज को ऊपर उठाना है। मैं मानता हूँ कि अनावश्यक रूप से भाषा और साहित्य को क्लिष्ट बनाना उचित नहीं है किंतु साथ ही शैली का नाश करके तथा साहित्यिक अभिरुचि को तिलांजलि देकर साहित्य को नीचे उतारने के पक्ष में भी मैं नहीं हूँ। भारतीय समाज के उच्चतम और निम्नतर वर्गों में भाषा और साहित्य के अतिरिक्त संस्कृति सम्बन्धी सभी बातों में पर्याप्त अन्तर है। जैसे-जैसे यह संस्कृति सम्बन्धी अन्तर कम होता जावेगा, वैसे-वैसे हमारी सुसंस्कृत भाषा और हमारा उच्चसाहित्य भी सर्व-साधारण के निकट पहुँचता जावेगा। ऊपर के लोगों को नीचे झुकाने से अधिक महत्त्वपूर्ण समस्या नीचे के लोगों को ऊपर लाने की है—'कामायनी' को 'बनारसी कजलियों' के निकट ले जाने की अपेक्षा 'बनारसी कजली' पढ़ने वालों की

अभिरुचि को 'कामायनी' की साहित्यिक अभिरुचि की ओर उठाने की विशेष आवश्यकता है।

हमारे साहित्य की प्रगति में बाधक तीसरा प्रधान कारण हमारे साहित्य निर्माताओं की आजीविका की समस्या है तथा प्रकाशकों के सामने पुस्तकों के खपत की समस्या है—'भूखे भजन न होय गोपाला'। वास्तव में हिन्दी साहित्यकार जिस त्याग और तपस्या के साथ अपना जीवन निर्वाह कर रहे हैं वह किसी से छिपा नहीं है। देश के सर्वोत्तम मस्तिष्कों में से बहुत से तो सरकारी नौकरियों के प्रलोभन में फँस कर उस ओर खिंच जाते हैं और अपना बहुमूल्य जीवन विदेशी यन्त्र के चलाने में एक निर्जीव पुर्जे के समान व्यतीत कर देते हैं। देश के बचे-खुचे मस्तिष्क राष्ट्रीय सेवा की ओर झुकते हैं और इन सेवाओं में से एक अपने साहित्य की सेवा भी है। हिन्दी साहित्यकार को सरकारी वेतनों के टक्कर की आमदनी नहीं चाहिये—लक्ष्मी और सरस्वती का साथ कब हुआ है—किन्तु साधारण रोटी-मकान-कपड़े की चिन्ता से मुक्त होना तो आवश्यक ही है चाहे ज्वार की रोटी, छप्पर का मकान और खादी का कपड़ा ही क्यों न हो। बच्चों की शिक्षा और बीमारी, मात-पिता की असहाय अवस्था तथा स्त्री के कार्य भार बाँटने का कुछ साधारण उपाय तो होना ही चाहिये। निकट भविष्य में इस कठिनाई से निस्तार होता दिखलाई नहीं पड़ता, किन्तु साहित्य की खपत के बढ़ने तथा सुसंगठित प्रकाशन संस्थाओं के पैदा होने से यह समस्या धीरे-धीरे दूर हो सकेगी। प्रकाशकों से मुझे एक निवेदन करना है। अमीर इंगलैंड की अंग्रेजी किताबों का ठाट-बाट हम लोगों के यहाँ नहीं निभ सकता। मैंने फ्रांस जैसे सुसम्पन्न देश तक में यह देखा कि किताबों को सस्ता रखने के उद्देश्य से छपाई काग़ज तथा जिल्द आदि पर वे लोग कम से कम व्यय करते हैं—हाँ पुस्तक शुद्ध तथा कलापूर्ण ढंग से छापने में वे

किसी प्रकार की कमी नहीं होने देते। हमें भी अपनी पुस्तकों को बहुत सस्ता करने की जरूरत है। अपने देश की गरीबी को देखकर आदर्श रूप में तो एक पैसे का दैनिक पत्र तथा एक आने की एक साधारण पुस्तक मिलनी चाहिये। मैं जानता हूँ कि अभी यह बात असंभव है, किन्तु -) आने का अच्छा दैनिक तथा चार आने मूल्य तक की अच्छी पुस्तक संभव है। २) मूल्य रखकर—जिसे हम लोग प्रायः कम समझते हैं—हम अपने साहित्य को ६०) मासिक वाले क्लर्क तक भला कैसे पहुँचा सकते हैं। फिर हमारी अधिकांश जनता की आमदनी तो ६०) मासिक न होकर कदाचित् ६०) वार्षिक है। जो हो हमारी पुस्तकों के सस्ते से सस्ते, किन्तु साथ ही शुद्ध संस्करण, निकलने चाहिये। इसमें प्रकाशक, लेखक तथा जनता सब ही का हित है।

मैंने साहित्य के आदर्शों तथा मनोरम रहस्यों की ओर आपका ध्यान जान-बूझकर नहीं दिलाया है। इस प्रकार की वार्त्तालाप का स्थान तो शिक्षालयों और विद्यापीठों में है, साहित्यिकों का यह मेला इसके लिए उपयुक्त स्थान नहीं है। गत वर्षों में प्रकाशित हिन्दी साहित्य की आलोचना भी मैंने आपके सामने जान-बूझकर ही नहीं रखी है। यह कार्य हमारी पत्र-पत्रिकाएँ आलोचनात्मक ग्रंथ तथा साहित्यिक संस्थाओं के वार्षिक विवरण करते ही रहते हैं, अतः हम और आप साधारणतया इससे परिचित हैं ही। फिर हमारे पास इतना अवकाश भी तो नहीं है। इसी कारण मैंने कुछ मूल कठि-नाइयों और समस्याओं तक अपने वक्तव्य को सीमित रखा है।

संभव है कि मेरे इस भाषण से कुछ लोगों को यह भ्रम हुआ हो कि हम साहित्यिक लोग देश की राजनीतिक समस्याओं तथा उस क्षेत्र में कार्य करने वालों की सेवाओं को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। ऐसा कदापि नहीं है। वास्तव में देश की राजनीतिक समस्या भी

हमारे जीवन-मरण की समस्या है, किन्तु साथ ही भाषा और साहित्य की समस्या भी कम गंभीर समस्या नहीं है। सुसाहित्य तथा उसकी शिक्षा के अभाव में ही हमारी दीर्घकालीन राजनीतिक परतंत्रता के कारण संनिहित है। वास्तव में साहित्य मनुष्य की संस्कृति का विधाता है, और राजनीति इस व्यापक संस्कृति का एक अंग मात्र है। मैं राष्ट्र के सिपाही को अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखता हूँ, किन्तु मैं देश के साहित्यकार को और भी अधिक सम्मान की दृष्टि से देखता हूँ। सिपाही देश के धन जन की रक्षा या नाश करने वाला है, किन्तु साहित्यकार तो राष्ट्र के मन, मस्तिष्क और आत्मा को बनाने-बिगाड़ने वाला है। राजनीतिज्ञ का महत्व देश काल से सीमित है, किन्तु, साहित्यकार के हाथ में तो संसार का भूत, वर्त्तमान तथा भविष्य सब ही कुछ है। अपने देश की स्वतन्त्रता के प्रयास के इस असाधारण युग में हमें 'यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।' आदि इस वेद वाक्य को और भी स्मरण रखने की आवश्यकता है, नहीं तो यूरोपीय परिस्थिति की पुनरावृत्ति होने की अपने यहाँ भी पूर्ण आशंका है। ब्रह्म अर्थात् साहित्य मस्तिष्क और आँख हैं, क्षत्र अर्थात् राजनीति स्कंध और बाहु-बल हैं। दोनों ही का सदुपयोग तथा दुरुपयोग हो सकता है, किन्तु साहित्य का दुरुपयोग बहुत अधिक भयंकर परिणाम वाला होता है इसे कभी भी नहीं भुलाना चाहिए।

अन्त में मैं हिन्दी प्रेमियों और हिन्दी साहित्यकारों का ध्यान अपनी भाषा और साहित्य के सम्बन्ध में आत्मनिर्भरता की भावना की ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ। घमंड और उचित गर्व तथा आत्मविश्वास में अन्तर है। मैं दूसरी बात चाहता हूँ, पहली नहीं। हमें अपनी भाषा और अपने साहित्य का आदर करना सीखना चाहिए। उसकी त्रुटियों को समझते हुए और उनके दूर करने का यत्न करते हुए, उसके गुणों का हमें प्रकाशन करना चाहिए, एक दूसरे को ऊपर

उठाने का यत्न करना चाहिए। परम्परा तथा अज्ञान के कारण अपने साहित्य के निंदकों का हमें मुँह बंद करना चाहिए। हमारी खड़ी बोली हिन्दी साहित्य अभी है ही कितने दिनों का, किन्तु इतने अल्प काल में ही वह कितना आगे बढ़ गया है इस पर वास्तव में अभी प्रकाश ही नहीं डाला गया है। इधर कुछ वर्षों के अन्दर जो ग्रन्थ निकले हैं उनमें दर्जनों ऐसे हैं जो उच्चतम साहित्य की श्रेणी में स्थान पाने योग्य हैं। मैं बड़े-बड़े लेखकों के नामों और बड़े-बड़े ग्रन्थों को यहाँ नहीं गिनाना चाहता। मुझे तो अपने साहित्य में अपनी और आगे की पीढ़ी के लेखकों की रचनाओं में ही ऐसे अनेक ग्रन्थों का स्मरण आ रहा है जिनके रस-सौंदर्य तथा शैली-सौंदर्य का लोहा बड़े से बड़े साहित्यिकों को मानना पड़ेगा। जैनेन्द्रकुमार की 'परख' को जिसने पढ़ा होगा वह क्या कट्टो को कभी भी भुला सकता है। भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' की कल्पना में कितनी उड़ान और पूर्णता है, हरिकृष्ण प्रेमी के 'अनंत के पथ पर' शीर्षक खंड-काव्य की रसानुभूति और प्रवाह असाधारण श्रेणी में रखने योग्य हैं। सुमित्रानंदन पंत की एक-एक रचना की बारीकी साँची के तोरणों की नक्काशी का स्मरण दिलाती है। यदि मैं इस तरह गिनाता चलूं तो कदाचित् इस सूची का कभी अंत ही न हो। वास्तव में इस समय आलोचना करने की अपेक्षा हमें अपने साहित्य के रसास्वादन के अभ्यास की बहुत अधिक आवश्यकता है।

कठिनाइयों के रहते हुए भी हमें क्षण भर भी हताश नहीं होना चाहिए। हिन्दी भाषा और साहित्य ने तो जन्म से ही अपने पैरों पर खड़ा होना सीखा है। असाधारण विरोधी परिस्थितियों तक में हम अपनी पताका फहराते रहे हैं। शासक-वर्ग की सहायता तो हमें कभी मिली ही नहीं। हिन्दी प्रदेश के दरबारों में जब फ़ारसी राजभाषा थी उस समय हमने सूर, कबीर और तुलसी पैदा किए थे। फ़ारसी

आइ और चली गइ किन्तु सूर-तुलसी-कबीर अमर हैं। हमारे प्रदेश में अंग्रेजी राजभाषा हुई तब हमने अपनी तपस्या से रत्नाकर, प्रसाद और प्रेमचन्द जैसे रत्न उत्पन्न किए। अंग्रेजी जा रही है किन्तु यह निश्चय है कि हमारे इन रत्नों की चमक दिन-दिन बढ़ती जावेगी। आज भी राजनीतिक परिस्थिति हमारी भाषा और साहित्य के लिये पूर्णतया अनुकूल नहीं है किन्तु हमें इसकी क्षण भर भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। यदि हमारा आत्मविश्वास कायम रहा, यदि हमारे हृदय में भारतीय संस्कृति का चिराग़ जलता रहा तो मध्यदेश के इस बलवान स्रोत के नित्य प्रवाह को संसार की कोई भी शक्ति रोक नहीं सकती।

खंड २—कहानी

पाठ १

सुजान भगत

[श्री धनपतराय प्रेमचन्द]

[स्वर्गीय श्री धनपतराय प्रेमचन्दजी (१८८०-१९३६ ई०) बी. ए. करने के बाद कुछ दिनों अध्यापक रहे तथा शिक्षा-विभाग में इन्स्पेक्टर हो गए थे। आपने साहित्य सेवा उर्दू से आरम्भ की थी किन्तु बाद में हिन्दी में लिखने लगे, और हिन्दी के मौलिक उपन्यास तथा कहानी क्षेत्र में शीघ्र ही आपका स्थान सर्वोपरि होगया। आपने भारतीय ग्रामीण जीवन तथा मध्यवर्ग के जीवन को जिस गहराई से समझा था हिन्दी का कोई भी अन्य लेखक शायद ही समझ सका है। उपदेशात्मक तथा घटनाप्रधान होते हुए भी प्रेमचन्दजी की कहानियाँ अत्यन्त रोचक और उत्सुकता पूर्ण होती हैं। आपका चरित्रों का विश्लेषण भी अत्यन्त स्वाभाविक रहता है।

ग्रामीण जीवन के यथातथ्य वर्णन की दृष्टि से प्रस्तुत कहानी प्रेमचन्द की उत्कृष्ट कहानियों में से एक है। जिम्मेदारियाँ कम होने के साथ मनुष्य को धीरे धीरे दूसरों का अधिकाधिक सहारा लेना पड़ता है तो भी वह अनादर नहीं सहन कर सकता। आदर के लिये वह उस अवस्था में भी फिर कठिन से कठिन परिश्रम करने के लिए तैयार रहता है। प्रस्तुत कहानी में प्रेमचंदजी ने एक भारतीय ग्रामीण वृद्ध के उपर्युक्त मानसिक परिस्थिति का चित्रण अत्यन्त सफलता के साथ किया है। कहानी की घटना, वर्णन, कथोपकथन, तथा पात्रों का चरित्र-चित्रण भारतीय ग्रामीण वातावरण का जीता जागता चित्र आँखों के सामने ले आता है।]

सीधे-साधे किसान धन आते ही कर्म और कीर्ति की ओर झुकते हैं। दिव्य समाज की भाँति पहले अपने भोग विलास की ओर नहीं दौड़ते। सुजान की खेती में कई साल से कंचन बरस रहा था। मेहनत तो गाँव के सभी किसान करते थे, पर सुजान के चन्द्रमा बली थे, ऊसर में भी दाना छींट आता, तो कुछ न कुछ पैदा हो जाता था। तीन साल लगातार ऊख लखती गई। उधर गुड़ का भाव तेज था, कोई दो ढ़ाई हज़ार हाथ में आगए। बस चित की वृत्ति धर्म की ओर झुक पड़ी। साधु-सन्तों का सत्कार होने लगा, द्वार पर धूनी जलने लगी क़ानूनगो इलाके में आते, तो सुजान महतो की चौपाल में ठहरते। हल्के के हेड कॉन्स्टेबल, थानेदार, शिक्षा-विभाग के अफ़सर, एक न एक उस चौपाल में पड़ा ही रहता। महतो मारे खुशी के फूले न समाते। धन्य भाग! उनके द्वार पर अब इतने बड़े-बड़े हाकिम आ कर ठहरते हैं। जिन हाकिमों के सामने उनका मुँह न खुलता था, उन्हीं की अब महतो-महतो कहते जबान सूखती थीं। कभी-कभी भजन-भाव हो जाता एक महात्मा ने डौल अच्छा देखा, तो गाँव में आसन जमा दिया। गांजे और चरस की बहार उठने लगी। एक ढोलक आई, मंजीरे मंगवाये गये, सत्संग होने लगा। यह सब सुजान के दम का जलूस था। घर में सेरों दूध होता, मगर सुजान के कंठतले एक बूँद जाने की भी क़सम थी। कभी हाकिम लोग चखते, कभी महात्मा लोग। किसान को दूध घी से क्या मतलब, उसे तो रोटी ओर साग चाहिये। सुजान की नम्रता का अब वारापार न था। सबके सामने सिर झुकाये रहता, कहीं लोग यह न कहने लगें कि धन पाकर इसे घमंड हो गया है। गाँव में कुल तीन ही कुंए थे, बहुत से खेतों में पानी न पहुँचता था, खेती मारी जाती थी। सुजान ने एक पक्का कुंआ बनवा दिया। कुंए का विवाह हुआ, यज्ञ हुआ, ब्रह्म भोज हुआ। जिस दिन कुंए पर पहली बार

पुर चला, सुजान को मानो चारों पदार्थ मिल गये। जो काम गाँव में किसी ने न किया था, बाप-दादों के पुण्य प्रताप से सुजान ने कर दिखाया।

एक दिन गाँव में गया के यात्री आकर ठहरे। सुजान ही के द्वार पर उनका भोजन बना। सुजान के मन में भी गया करने की बहुत दिनों से इच्छा थी। यह अच्छा अवसर देख कर वह भी चलने को तैयार होगया।

उसकी स्त्री बुलाकी ने कहा—अभी रहने दो, अगले साल चलेंगे।

सुजान ने गंभीर भाव से कहा—अगले साल क्या होगा कौन जानता है? धर्म के काम में मीन मेष निकालना अच्छा नहीं। जिन्दगी का क्या भरोसा!

बुलाकी—हाथ खाली हो जायेगा।

सुजान—भगवान् की इच्छा होगी, तो फिर रुपये हो जायेंगे। उनके यहाँ किस बात की कमी है।

बुलाकी इसका क्या जवाब देती। सत्कार्य में बाधा डाल कर अपनी मुक्ति क्यों बिगाड़ती? प्रातःकाल स्त्री और पुरुष गया करने चले। वहाँ से लौटे तो यज्ञ और ब्रह्म भोज की ठहरी। सारी बिरादरी निमन्त्रित हुई। ग्यारह गाँव में सुपारी बटी। इस धूमधाम से कार्य हुआ कि चारों ओर वाह-वाह मच गई। सब कहते थे कि भगवान् धन दे तो दिल भी ऐसा दे। घमंड तो छू नहीं गया है। अपने हाथ से पत्तल उठाता फिरता है। कुल का नाम जगा दिया। बेटा हो तो ऐसा हो। बाप मरा तो घर में भूनी भांग भी न थी, अब लक्ष्मी घुटने तोड़ कर आ बैठी है।

एक द्वेषी ने कहा—कहीं गढ़ा हुआ धन पा गया है। इस पर

चारों ओर से बौछार पड़ने लगी—हों तुम्हारे बाप-दादा जो खजाना छोड़ गये थे वही उनके हाथ लग गया है। अरे भैया यह धर्म की कमाई है। तुम भी तो छाती फाड़ कर काम करते हो, क्यों ऐसी फ़सल नहीं होती? भगवान् आदमी का दिल देखते हैं; जो खर्च करना जानते है उन्हीं को देते है।

सुजान महतो सुजान भगत हो गये। भगतों के आचार विचार कुछ और ही होते हैं। वह बिना स्नान किये कुछ नहीं खाता। गंगाजी अगर दूर हो और रोज़ स्नान करके दोपहर को न लौट सकता हो तो पर्वों के दिन तो उसे अवश्य ही न्हाना चाहिये। भजन भाव उसके घर अवश्य होना चाहिये। पूजा-अर्चा उसके लिये अनिवार्य है। खान पान में भी उसे बहुत विचार करना पड़ता है। भगत झूठ नहीं बोल सकता। साधारण मनुष्य को अगर झूठ का दण्ड एक मिले, तो भगत को एक लाख से कम नहीं मिल सकता। अज्ञान की अवस्था में कितने ही अपराध क्षम्य हो जाते हैं। ज्ञानी के लिये क्षमा नहीं है प्रायश्चित नहीं है, या है तो बहुत ही कठिन सुजान को अब भगतों की मर्यादा को निभाना पड़ा। अब तक उसका जीवन मजूर का जीवन था। अपना कोई आदर्श, कोई मर्यादा उसके सामने न थी। अब उसके जीवन में विचार का उदय हुआ जहाँ का मार्ग काँटों से भरा हुआ है। स्वार्थ-सेवा ही पहले उसके जीवन का लक्ष्य था, इसी कांटे से वह परिस्थितियों को तोलता था, वह अब उन्हें औचित्य के कांटे पर तोलने लगा। यों कहो कि उसने जड़ जगत से निकल कर चेतन जगत में प्रवेश किया। उसने कुछ लेन-देन शुरू किया था; उसे ब्याज लेते आत्मग्लानि-सी-होती थी। यहाँ तक कि गउओं को दुहाते समय उसे बछड़ों का ध्यान बना रहता था—कहीं बछड़ा भूखा न रह जाय, कहीं उसका रोयाँ दुखी होगा! वह गाँव का मुखिया था, कितने ही मुक़दमों में उसने

झूठी शहादतें बनवाई थीं, कितने ही डाँड लेकर मामले को रफ़ा-दफा करवाया था। अब इन व्यापारों से उसे घृणा होती थी। झूठ और प्रपंच से दूर भागता था। पहले उसकी यह चेष्टा होती थी कि मजूरों से जितना काम किया जा सके लो और मजूरी जितनी कम दी जा सके दो, पर अब उसे मजूरों के काम की कम, मजदूरी की अधिक चिन्ता रहती थी—कहीं विचारे मजदूर का रोयाँ न दुखी हो जाय। उसके दोनों जवान बेटे वात-बात पर फब्तियाँ कसते, यहाँ तक कि अब बुलाकी भी उसे कोरा भगत समझने लगी थी; जिसे घर के भले-बुरे से कोई प्रयोजन न था। चेतन जगत में आकर भगत कोरे भगत रह गये।

भगत के हाथों से धीरे धीरे अधिकार छिनने लगे। किस खेत में क्या बोना है, किस को क्या देना है, किससे क्या लेना है, किस भाव क्या चीज़ बिकी, ऐसी महत्वपूर्ण बातों में भी भगत जी की सलाह न ली जाती। भगत के पास कोई जाने ही न पाता। दोनों लड़के या स्वयं बुलाकी दूर ही से मामला रफा दफ़ा कर दिया करती। गांव भर में सुजान का मान सम्मान बढ़ता था, अपने घर में घटता था। लड़के उसका सत्कार अब भी करते। उसे चारपाई उठाते देख लपक कर खुद उठा लाते, उसे चिलम न भरने देते, यहाँ तक कि उसकी धोती तक छांटने के लिये भी आग्रह करते थे। मगर अधिकार उसके हाथ में न था। वह अब घर का स्वामी नहीं, मन्दिर का देवता था।

एक दिन बुलाकी ओखली में दाल छाँट रही थी। एक भिखमंगा द्वार पर आकर चिल्लाने लगा। बुलाकी ने सोचा दाल छाँट लूँ, तो उसे दे दूँ। इतने में लड़का भोला आकर बोला—अम्मां एक महात्मा द्वार पर खड़े गला फाड़ रहे हैं। कुछ दे दो। नहीं उनका रोयाँ दुखी हो जायगा।

बुलाकी ने उपेक्षा-भाव से कहा—भगत के पाँव में क्या मेंहदी लगी है, क्यों कुछ ले जाकर नहीं दे देते। क्या मेरे चार हाथ हैं? किस किस का रोयाँ सुखी करें, दिन भर तो ताँता लगा रहता है।

भोला—चौपट करने पर लगे हुए हैं, और क्या? अभी महंगू बेंग देने आया था। हिसाब से सात मन हुए। तौला तो पौने सात ही मन निकले। मैंने कहा—दस सेर और ला, तो आप बैठे-बैठे कहते हैं, अब इतनी दूर कहाँ लेने जायेगा। भर पाई लिख दो, नहीं उसका रोयाँ दुखी होगा। मैंने भरपाई नहीं लिखी दस सेर बाकी लिखदी।

बुलाकी—बहुत अच्छा किया तुमने, बकने दिया करो, दस-पाँच दफ़े मुँह की खायेंगे, तो आप ही बोलना छोड़ देंगे।

भोला—दिन भर एक न एक खुचड़ निकाले रहते हैं। सौ दफ़े कह दिया तुम घर गृहस्थी के मामले में न बोला करो, पर इनसे बोले बिना रहा ही नहीं जाता।

बुलाकी—मैं जानती कि इनका यह हाल होगा, तो गुरु-मन्त्र न लेने देती।

भोला—भगत क्या हुए दीन-दुनियाँ दोनों से गये। सारा दिन पूजा पाठ में ही उड़ जाता है। अभी ऐसे बूढ़े नहीं हो गये हैं कि कोई काम ही न कर सकें।

बुलाकी ने आपत्ति की—भोला यह तो तुम्हारा कुन्याय है। फावड़ा-कुदाल तो अब उनसे नहीं हो सकता, लेकिन कुछ न कुछ तो करते ही रहते हैं। बैलों को सानी-पानी देते, गाय दुहते हैं, और भी जो हो सकता है, करते हैं।

भिक्षुक अभी तक खड़ा चिल्ला रहा था। सुजान ने घर में से कुछ लाते न देखा, तो उठ कर अन्दर गया और कठोर स्वर में

बोला—तुम लोगों को कुछ सुनाई नहीं देता कि द्वार पर कौन घंटे-भर से खड़ा भीख माँग रहा है? अपना काम तो दिन भर ही करना है, एक क्षण भगवान का भी तो किया करो।

बुलाकी—तुम तो भगवान का काम करने को बैठे ही हो, क्या घर भर भगवान का ही काम करेगा?

सुजान—कहाँ आटा रखा है? लाओ, मैं ही निकाल कर दे आऊँ, तुम रानी बन कर बैठो।

बुलाकी—आटा मैंने मर-मर कर पीसा है, अनाज दे दो। ऐसे मुडचिरों के लिये पहर रात से उठ कर चक्की नहीं चलाती हूँ।

सुजान भंडार-घर में गये और छोटी सी छावड़ी को जौ से भरे हुये निकले। जौ सेर भर से कम न था। सुजान ने जान बूझ कर बुलाकी और भोला को चिड़ाने के लिये भिक्षा-परम्परा का उल्लंघन किया था। तिस पर भी यह दिखाने के लिये कि छावड़ी में बहुत ज्यादा जौ नहीं है, वह उसे चुटकी से पकड़े हुये थे। चुटकी इतना बोझा न सम्भाल सकती थी। हाथ काँप रहा था। एक क्षण विलम्ब होने से छावड़ी हाथ से गिर पड़ने की सम्भावना थी, इस लिये वे जल्दी से बाहर निकल जाना चाहते थे। सहसा भोला ने छावड़ी उनके हाथ से छीन ली और त्योरियाँ बदल कर बोला—सेंत का माल नहीं है, जो लुटाने चले हो? छाती फाड़-फाड़ कर काम करते हैं, तब दाना घर में आता है।

सुजान ने खिसिया कर कहा—मैं तो बैठा नहीं रहता।

भोला—भीख-भीख की तरह दी जाती है लुटाई नहीं जाती। हम तो एक बेला खाकर दिन काटते हैं कि पति-पानी बना रहे और तुम्हें लुटाने की सूझती है। तुम्हें क्या मालूम कि घर में क्या हो रहा है।

सुजान ने उसका कोई जवाब नहीं दिया। बाहर आकर भिखारी से कह दिया—बाबा, इस समय जाओ, किसी का हाथ खाली नहीं है और पेड़ के नीचे बैठ कर विचार में मग्न हो गया। अपने ही घर में उसका यह अनादर। अभी वह अपाहिज नहीं है, हाथ पाँव थके नहीं हैं, घर का कुछ न कुछ काम करता ही रहता है। उस पर यह अनादर। उसी ने यह बनाया—यह सारी विभूति उसी के श्रम का फल है, पर अब इस घर पर उसका कोई अधिकार न रहा। अब वह द्वार का कुत्ता है, पड़ा रहे और घर वाले जो रूखा-सूखा दे दें, वह खाकर पेट भर लिया करे। ऐसे जीवन को धिक्कार है। सुजान ऐसे घर में नहीं रह सकता।

संध्या हो गई थी। भोला का छोटा भाई शंकर नारियल भर कर लाया। सुजान ने नारियल दीवार से टकराकर रख दिया। धरे धरे तम्बाकू जल गई। जरा देर में भोला ने द्वार पर चारपाई डाल दी। सुजान पेड़ के नीचे से न उठा।

कुछ देर और गुजरी। भोजन तैयार हुआ। भोला बुलाने आया। सुजान ने कहा—भूख नहीं है। बहुत मनावन करने पर भी न उठा। अब बुलाकी ने आकर कहा—खाना खाने क्यों नहीं चलते? जी तो अच्छा है?

सुजान को सबसे अधिक क्रोध बुलाकी पर था। यह भी लड़कों के साथ है। यह बैठी देखती रही और भोला ने मेरे हाथ से अनाज छीन लिया। इसके मुँह से इतना न निकला कि ले जाते हैं तो ले जाने दो। लड़कों को न मालूम हो कि मैंने कितने श्रम से गृहस्थी जोड़ी है, पर यह तो जानती है। दिन को दिन और रात को रात नहीं समझा। भादों की अंधेरी रातों में मड़ैया लगाये जुआर की रखवाली करता था। जेठ वैसाख की दोपहरी में भी दम नहीं लेता

था और अब मेरा घर पर इतना भी अधिकार नहीं है कि भीख तक दे सकूँ। माना कि भीख इतनी नहीं दी जाती, लेकिन इनको तो चुप रहना चाहिये था, चाहे घर में मैं आग ही क्यों न लगा देता। कानून से भी तो मेरा कुछ होता है। मैं अपना हिस्सा नहीं खाता, दूसरों को खिला देता हूँ, इसमें किसी के बाप का क्या साझा। अब इस वक्त मनाने आई है। इसे मैंने फूल की छड़ी से भी नहीं छुआ, नहीं तो गाँव में ऐसी कौन औरत है, जिसने खसम की लातें न खाई हों। कभी कड़ी निगाह से देखा तक नहीं। रुपये, पैसे, लेना, देना सब इसी के हाथ में दे रखा है सब रुपये जमा कर लिये हैं तो मुझी से घमंड करती है। अब इसे बेटे प्यारे हैं, मैं तो निखट्टू, लुटाऊ, घर फूँकू, घोंघा हूँ। मेरी इसे क्या परवाह। तब लड़के न थे जब बीमार पड़ी थी और मैं गोद में उठा कर वैद के घर ले गया था, आज इसके बेटे हैं। और यह उनकी माँ है। मैं तो बाहर का आदमी हूँ, मुझसे घर से मतलब ही क्या। बोला—मैं अब खा-पीकर क्या करूँगा, हल जोतने से फावड़ा चलाने से रहा। मुझे खिला कर दाने क्यों खराब करोगी। रख दो बेटे दूसरी बार खायेंगे।

बुलाकी—तुम तो जरा-जरा सी बात पर तिनक जाते हो। कहा है, बुढ़ापे में आदमी की बुद्धि मारी जाती है। भोला ने इतना ही तो कहा था कि इतनी भीख मत ले जाओ या और कुछ?

सुजान—हाँ, बेचारा इतना ही कह कर रह गया। तुम्हें तो तब मजा आता, जब ऊपर से दो चार डंडे लगा देता, क्यों, अगर यही अभिलाषा है, तो पूरी करलो। भोला खा चुका होगा बुला लाओ। नहीं, भोला को क्यों नहीं बुलाती हो, तुम्हीं न जमादो दो चार हाथ। इतनी कसर है वह भी पूरी हो जाय।

बुलाकी—हाँ और क्या, यही तो नारी का धर्म है। अपना भाग

सराहो जो मुझ जैसी सीधी औरत पा ली। जिस बल चाहते हो, बिठाते हो। ऐसी कमज़ोर न होती तो तुम्हारे घर में एक दिन निबाह न होता।

सुजान—हाँ भाई यह तो मैं ही कह रहा हूँ कि तुम देवी थीं और हो। मैं तो राक्षस था और अब तो दैत्य हो गया हूँ। बेटे कमाऊ हैं उनकी सी न कहोगी तो क्या मेरी सी कहोगी, मुझसे अब क्या लेना देना है।

बुलाकी—तुम झगड़ा करने पर तुले बैठे हो और मैं झगड़ा बचाती हूँ कि चार आदमी हँसेंगे। चलकर खाना खालो सीधे से, नहीं तो मैं भी जाकर सो रहूँगी।

सुजान—तुम भूखी क्यों सो रहोगी, तुम्हारे बेटे की तो कमाइ है। हाँ मैं बाहरी आदमी हूँ।

बुलाकी—बेटे तुम्हारे भी तो हैं ?

सुजान—नहीं, ऐसे बेटों से बाज़ आया। किसी और के बेटे होंगे। मेरे बेटे होते तो क्या मेरी यह दुर्गति होती ?

बुलाकी—गालियाँ दोगे तो मैं भी कुछ कह बैठूँगी। सुनती थी कि मर्द समझदार होते हैं, पर तुम सबसे न्यारे हो। आदमी को चाहिये जैसा समय देखे, वैसा काम करे। अब हमारा और तुम्हारा निवाह इसी में है कि नाम के मालिक बने रहें और वही करें जो लड़कों को अच्छा लगे। मैं तो यह बात समझ गई तुम क्यों नहीं समझ पाते। जो कमाता है उसी का घर में राज होता है, यही दुनिया का दस्तूर है। मैं बिना पूछे लड़कों से कुछ काम नहीं करती, तुम क्यों अपने मन की करते हो ? इतने दिनों तो राज कर लिया, अब क्यों तुम माया में पड़े हो, आधी रोटी खाओ, भगवान् का भजन करो, और पड़े रहो। चलो खाना खालो।

सुजान—अब मैं द्वार का कुत्ता हूँ ?

बुलाकी—बात जो थी वह मैंने कह दी। अब अपने को जो चाहो समझो।

सुजान न उठे। बुलाकी हार कर चली गई।

सुजान के सामने अब एक नई समस्या खड़ी हो गई थी। वह बहुत दिनों से घर का स्वामी था, और अब भी ऐसा ही समझता था। परिस्थिति में कितना उलट फेर हो गया था, इसकी उसे खबर न थी। लड़के उसकी सेवा और सम्मान करते हैं यह बात उसे भ्रम में डाले हुई थी। लड़के सामने चिलम न पीते, खाट पर नहीं बैठते, क्या यह सब उसके गृह-स्वामी होने का प्रमाण न था ? पर आज उसे ज्ञात हुआ कि यह केवल श्रद्धा थी, उसके स्वामित्व का प्रमाण नहीं। क्या इस श्रद्धा के बदले वह अपना अधिकार छोड़ सकता है ? कदापि नहीं। अब तक जिस घर में राज्य किया, उसी घर में पराधीन बनकर वह नहीं रह सकता। उसको श्रद्धा की चाह नहीं, सेवा की भूख नहीं। उसे अधिकार चाहिये। वह इस घर पर दूसरों का अधिकार नहीं देख सकता। मन्दिर का पुजारी बन कर वह नहीं रह सकता।

न जाने कितनी रात बाकी थी। सुजान ने उठकर गडांसे से चारा काटना शुरू कर दिया। सारा गाँव सोता था। पर सुजान करवी काट रहे थे। इतना श्रम उन्होंने अपने जीवन में कभी न किया था। जब से उन्होंने काम करना छोड़ा था, बराबर चारे की हाय-हाय पड़ी रहती थी। शंकर भी करता था, भोला भी करता था, पर चारा पूरा न पड़ता था। आज वह इन लौडों को दिखा देंगे कि चारा कैसे काटना चाहिये। उनके सामने कटिया (कुटी) का

पहाड़ खड़ा हो गया। और टुकड़े (गड़ेले) कितने महीन और सुडौल थे, मानो साँचे में ढाले गये हों।

मुँह अंधेरे में बुलाकी उठी, तो कटिया का ढेर देखकर दंग रह गई। बोली—क्या भोला आज रात भर कटिया ही काटता रह गया ? कितना कहा कि बेटा, जी से जहान है, पर मानता ही नहीं। रात को सोया ही नहीं।

सुजान भगत नें ताने से कहा—वह सोता ही कब है। जब देखता हूँ काम ही करता रहता है। ऐसा कमाऊ संसार में और कौन होगा ?

इतने में भोला आँखें मलता हुआ बाहर निकला। उसे भी यह ढेर देखकर आश्चर्य हुआ। भोला बोला—क्या शकर आज बड़ी रात से उठा था ? अम्मा !

बुलाकी—वह तो पड़ा सो रहा है। मैंने तो समझा तुमने काटी होगी।

भोला—मैं तो सबेरे उठ ही नहीं पाता। दिन भर चाहे जितना काम करलूँ, रात में मुझसे उठा नहीं जाता।

बुलाकी—तो क्या तुम्हारे दादा ने काटी है ?

भोला—हाँ, मालूम तो होता है। रात-भर सोए नहीं। मुझसे कल बड़ी भूल हुई। अरे ! वह तो हल लेकर जारहे हैं ? जान देने पर उतारू हो गए हैं क्या ?

बुलाकी—क्रोधी तो सदा के हैं। अब किसी की सुनेंगे थोड़े ही।

भोला—शंकर को जगा दो, मैं भी जल्दी से मुँह-हाथ धोकर हल ले जाऊँ।

जब और किसानों के साथ हल लेकर भोला खेत में पहुँचा तो

सुजान आधा खेत जोत चुके थे । भोला ने चुपके से काम करना शुरू कर दिया। सुजान से कुछ बोलने की हिम्मत न पड़ी।

दोपहर हुआ सभी किसानों ने हल छोड़ दिए। पर सुजान भगत अपने काम में मग्न हैं। भोला थक गया है, उसकी बार-बार इच्छा होती है कि बैलों को खोल दे, मगर डर के मारे कुछ नहीं कह सकता। उसको आश्चर्य हो रहा है, दादा कैसे इतनी मेहनत कर रहे हैं।

भोला ने मड़ैया में लेटे-लेटे पिता को हल ले जाते देखा, पर उठ न सका। उसकी हिम्मत टूट गई। उसने कभी इतना परिश्रम नहीं किया था। उसे बनी बनाई गृहस्थी मिल गई थी। उसे ज्यों-त्यों चला रहा था। इन दामों में वह घर का स्वामी बनने का इच्छुक न था। जवान आदमी को बीस धन्धे होते हैं। हँसने-बोलने के लिए, गाने-बजाने के लिए उसे कुछ समय चाहिए। पड़ोस के गाँव में दंगल हो रहा है। जवान आदमी कैसे अपने आप को वहाँ जाने से रोकेगा ? किसी गाँव में बरात आई है, नाच-गाना हो रहा है, जवान आदमी क्यों उसके आनन्द से वंचित रह सकता है ? वृद्ध जनों के लिए यह बाधायें नहीं। उन्हें न नाच गाने से मतलब, न खेल तमाशे से गरज, केवल अपने काम से काम है।

आखिर डरते डरते बोला—दादा, अब तो दोपहरी होगई। हम बैल खोल दें ?

सुजान—हाँ खोल दो। तुम बैलों को लेकर चलो, मैं डाँड फेंक कर आता हूँ।

भोला—मैं साँझ को डाँड फेंक दूँगा।

सुजान—तुम क्यों फेंक दोगे। देखते नहीं हो, खत कटोरे की तरह गहरा हो गया है। तभी तो बीच में पानी जम जाता है।

इसी गोडंड के खेत में बीस मन का बीघा होता था। तुम लोगों ने इसका सत्यानाश कर दिया।

बैल खोल दिए गये। भोला बैलों को लेकर घर चला, पर सुजान डाँड फेंकते रहे। आधे घण्टे बाद डाँड फेंककर घर आये, मगर थकान का नाम न था। नहा-खाकर आराम करने के बदले उन्होंने बैलों को सुहलाना शुरू किया। उनकी पीठ पर हाथ फेरा, उनके पैर मले, पूँछ सुहलाई। बैलों की पूँछे खड़ी थीं। सुजान की गोद में सिर रखकर उन्हें अकथनीय सुख मिल रहा था। बहुत दिनों के बाद आज उन्हें यह आनन्द प्राप्त हुआ था। उनकी आँखों में कृतज्ञता भरी हुई थी, मानो वे कह रहे थे, हम तुम्हारे साथ रात दिन काम करने को तैयार हैं।

अन्य कृषकों की भाँति अभी भोला कमर सीधी कर रहा था कि सुजान ने फिर हल उठाया और खेत की ओर चले। दोनों बैल उमंग से भरे दौड़े चले जाते थे, मानों उन्हें स्वयं खेत में पहुँचने की जल्दी थी।

बुलाकी ने कहा—भोला, तुम्हारे दादा हल लेकर गये।

भोला—जाने दो अम्मा मुझसे यह नहीं हो सकता।

सुजान भगत के इस नवीन उत्साह पर गाँव में टीकाएँ हुईं। निकल गई सारी भगती। बना हुआ था। माया में फँसा हुआ है। आदमी काहे को भूत है।

मगर भगतजी के द्वार पर अब फिर साधु-सन्त आसन जमाये देखे जाते हैं। उनका आदर सम्मान होता है। अब की उनकी खेती ने सोना उगल दिया है। बखारी में पाँच मन मुश्किल से होता था, उसी खेत में अब की दस मन की उपज हुई है।

चैत का महीना था। खलिहानों में सतयुग का राज था।

जगह-जगह अनाजों के ढेर लगे हुए थे। यही समय है कि कृषकों को भी थोड़ी देर के लिये अपना जीवन सफल मालूम होता है, जब गर्व से उनका हृदय उछलने लगता है। सुजान भगत टोकरों में अनाज भर-भर कर देते थे और दोनों लड़के अनाज घर में रख-कर आते थे। कितने ही भाट और भिक्षुक भगत जी को घेरे हुए थे। उनमें वह भिक्षुक भी था जो आठ महीने पहले भगत के द्वार से निराश होकर लौट गया था।

सहसा भगत ने उस भिक्षुक से पूछा—क्यों बाबा, आज कहाँ-चक्कर लगा आए?

भिक्षुक—अभी तो कहीं नहीं गया भगतजी, पहले तुम्हारे पास आया हूँ।

भगत—अच्छा तुम्हारे सामने यह ढेर है, इसमें से जितना अनाज उठा ले जा सको ले जाओ।

भिक्षुक ने लुब्ध नेत्रों से ढेर की ओर देख कर कहा—जितना अपने हाथ से उठा कर दे दोगे ले लूँगा।

भगत—नहीं, तुमसे जितना उठ सके, उठा लो।

भिक्षुक के पास एक चादर थी। उसने कोई दस सेर अनाज भरा और उठाने लगा। संकोच के मारे और अधिक भरने का उसे साहस न हुआ।

भगत उसके मन का भाव समझ कर आश्वासन देते हुए बोले—बस! इतना तो एक बच्चा उठा ले सकता है।

भिक्षुक ने भोला की ओर संदिग्ध नेत्रों से देखकर कहा—मेरे पास इतना बहुत है।

नहीं तुम सकुचाते हो। अभी और भरो।

भिक्षुक ने एक पंसेरी अनाज और भरा और फिर भोला की ओर सशंक दृष्टि से देखने लगा।

भगत—उसकी ओर क्या देखते हो, बाबाजी, मैं जो कहता हूँ वह करो। तुमसे जितना उठाया जा सके, उठा लो।

भिक्षुक डर रहा था कि कहीं उसने अनाज भर लिया और भोला ने गठरी न उठाने दी, तो कितनी भद्दी होगी। और भिक्षुकों को हँसने का अवसर मिल जायेगा। सब यही कहेंगे कि भिक्षुक कितना लोभी है। उसे और अनाज भरने की हिम्मत न पड़ी। तब सुजान ने चादर लेकर उसमें अनाज भरा और गठरी बाँध कर बोले—इसे उठा ले जाओ।

भिक्षुक—बाबा, इतना मुझसे न उठ सकेगा।

भगत—अरे! इतना भी न उठा सकेगा। बहुत होगा तो मन भर! भला ज़ोर तो लगाओ, देखूँ उठा सकते हो, या नहीं।

भिक्षुक ने गठरी को अज़माया। भारी थी। जगह से हिली भी नहीं। बोला—भगतजी, यह मुझसे न उठेगी।

भगत—अच्छा बताओ, किस गाँव में रहते हो?

भिक्षुक—बड़ी दूर है भगत जी, अमोला का नाम तो सुना होगा।

भगत—अच्छा, आगे-आगे चलो, मैं पहुँचा दूँगा।

यह कह भगत ने ज़ोर लगा कर गठरी उठाई और सिर पर रख कर भिक्षुक के पीछे हो लिये। देखने वाले भगत का यह पौरुष देख कर चकित रह गये। इन्हें क्या मालूम था कि इस समय भगत पर कौन सा नशा था। आठ महीने के अविरल परिश्रम का आज उन्हें फल मिला था। आज उन्होंने खोया हुआ अधिकार फिर पाया था।

वही तलवार जो केले को भी नहीं काट सकती, शान पर चढ़कर लोहे को भी काट देती है। मानव जीवन में लाग बड़े महत्व की वस्तु है। जिसमें लाग हैं, वह बूढ़ा भी हो तो जवान है। जिसमें लाग नहीं, ग़ैरत नहीं, वह जवान भी हो तो मृतक है। सुजान भगत में लाग थी और उसी ने उन्हें अमानुषीय बल प्रदान कर दिया था। चलते समय उन्होंने भोला की ओर सगर्व नेत्रों से देखा और बोले—ये भाट और भिक्षुक खड़े हैं, कोई खाली हाथ न लौटने पावे।

भोला सिर झुकाये खड़ा था। उसे कुछ बोलने का हौसला न हुआ। वृद्ध पिता ने उसे परास्त कर दिया था।

———

पाठ २

रोज

[श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय']

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन का जन्म सन् १९११ में हुआ। आपने मद्रास से इन्टर तथा पंजाब से बी० एस-सी० किया। क्रान्तिकारी आन्दोलन में भाग लेने के कारण आपने कई वर्ष जेल में काटे। इसके अतिरिक्त दूसरे महायुद्ध में आसाम में भी कार्य किया। अज्ञेय जी अनेक पत्रिकाओं के संपादक रहे हैं। आजकल आप 'प्रतीक' का संपादन कर रहे हैं। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के अनुभव प्राप्त करने के कारण आपकी रचनाओं में व्यापकता आ गई है। मानव स्वभाव के सूक्ष्मतम विश्लेषण का कलात्मक वर्णन आपकी कृतियों को ऊँचा उठा देता है। आपका उपन्यास 'शेखर एक जीवनी' हिन्दी उपन्यास साहित्य में अपने ढंग का अकेला है। अज्ञेयजी उच्च श्रेणी के कवि भी हैं। आप के मुख्य कहानी संग्रह 'परंपरा 'कोठरी की बात' 'विपथगा' हैं।

प्रस्तुत कहानी मध्यम वर्ग के परिवार का एक चित्र है, जिसमें न घटनाओं का घात प्रतिघात है और न उससे उत्पन्न जिज्ञासा। कुछ परिवार ऐसे होते हैं जिनमें आर्थिक अथवा कोई अन्य विशेष समस्या न होते हुये भी एक अजीब नीरस तथा आकर्षणहीन वातावरण बना रहता है। परिवार के सदस्य अपने कर्त्तव्यों में इतने व्यस्त रहते हैं कि पारिवारिक जीवन उनके लिये नहीं के बराबर हो जाता है। उत्साह और उल्लास से वे दूर हटते जाते हैं। दिनों, महीनों और वर्षों के साथ उलझनें, धीरे धीरे, बढ़ती जाती हैं। इन परिवारों का परिवर्तनहीन जीवन एक सीधी लकीर के समान होता है जिसमें कोई मोड़ नहीं होता है

अज्ञेय जी ने इस वातावरण का अंकन बड़ी सफलता तथा सुन्दरता से किया है। कहानी की भाषा सरल है तथा भावों के उपयुक्त है।

दोपहर में उस घर के सूने आँगन में पैर रखते ही मुझे ऐसा जान पड़ा, मानों उस पर किसी शाप की छाया मँडरा रही हो, उसके वातावरण में कुछ ऐसा अकथ्य, अस्पृश्य, किन्तु फिर भी बोझल और प्रकम्पमय और घना-सा फैल रहा था....।

मेरी आहट सुनते ही मालती बाहर निकली। मुझे देख कर, पहचान कर उसकी मुरझाई हुई मुख-मुद्रा तनिक-से मीठे विस्मय से जागी-सी और पूर्ववत् हो गई। उसने कहा—आ जाओ।—और बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये भीतर की ओर चली। मैं भी उसके पीछे हो लिया।

भीतर पहुँच कर मैंने पूछा—वे यहाँ नहीं हैं?

अभी आये नहीं, दफ़्तर में हैं। थोड़ी देर में आ जाएँगे। कोई डेढ़-दो बजे आया करते हैं।

कब के गए हुये हैं?

सवेरे उठते ही चले जाते हैं—

मैं 'हूँ' कह कर पूछने को हुआ, और तुम इतनी देर क्या करती हो? पर फिर सोचा, आते ही एकाएक यह प्रश्न ठीक नहीं है। मैं कमरे के चारों ओर देखने लगा।

मालती एक पंखा उठा लाई, और मुझे हवा करने लगी। मैंने आपत्ति करते हुए कहा—नहीं, मुझे नहीं चाहिए।—पर वह नहीं मानी, बोली—वाह! चाहिए कैसे नहीं? इतनी धूप में तो आए हो। यहाँ तो—

मैंने कहा—अच्छा लाओ मुझे दे दो।

वह शायद 'ना' करने को थी; पर तभी दूसरे कमरे से शिशु के रोने की आवाज़ सुनकर उसने चुपचाप पंखा मुझे दे दिया और घुटनों पर हाथ टेक कर थकी हुई 'हुँह' करके उठी और भीतर चली गई।

मैं उसके जाते हुए दुबले शरीर को देखकर सोचता रहा—यह क्या है....यह कैसी छाया-सी इस घर पर छाई हुई है....

मालती मेरी दूर के रिश्ते की बहिन है, किन्तु उसे सखी कहना ही उचित है, क्योंकि हमारा परस्पर सम्बन्ध सख्य का ही रहा है। हम बचपन से इकट्ठे खेले हैं, इकट्ठे लड़े और पिटे हैं, और हमारी पढ़ाई भी बहुत-सी इकट्ठे ही हुई थी। और हमारे व्यवहार में सदा सख्य की स्वेच्छा और स्वच्छन्दता रही है, वह कभी भ्रातृत्व के या बड़े-छोटेपन के बन्धनों में नहीं घिरा।

मैं आज कोई चार वर्ष बाद उसे देखने आया हूँ। जब मैंने उसे इससे पूर्व देखा था, तब वह लड़की ही थी; अब वह विवाहिता है, एक बच्चे की माँ भी है। इससे कोई परिवर्तन उसमें आया होगा और यदि आया होगा तो क्या, यह मैंने अभी तक सोचा नहीं था; किन्तु अब उसकी पीठ की ओर देखता हुआ मैं सोच रहा था, यह कैसी छाया इस घर पर छाई हुई है और विशेषतया मालती पर....

मालती बच्चे को लेकर लौट आई और फिर मुझसे कुछ दूर नीचे बिछी हुई दरी पर बैठ गई। मैंने अपनी कुर्सी घुमा कर कुछ उसकी ओर उन्मुख होकर पूछा,—इसका नाम क्या है ?

मालती ने बच्चे की ओर देखते हुए उत्तर दिया—नाम तो कोई निश्चित नहीं किया, वैसे टिटी कहते हैं।

मैंने उसे बुलाया—टिटी ! टिटी ! आजा !—पर वह अपनी

बड़ी-बड़ी आँखों से मेरी ओर देखता हुआ अपनी माँ से चिपट गया, और रुआँसा-सा होकर कहने लगा—उहुँ-उहुँ-उहुँ-ऊँ....।

मालती नें फिर उसी ओर एक नज़र देखा, और फिर बाहर आँगन की ओर देखने लगी।

काफ़ी देर मौन रहा। थोड़ी देर तक तो वह मौन आकस्मिक ही था, जिसमें मैं प्रतीक्षा में था कि मालती कुछ पूछे; किन्तु उसके बाद एकाएक मुझे ध्यान हुआ, मालती ने कोई बात ही नहीं की—यह भी नहीं पूछा कि मैं कैसा हूँ, कैसे आया हूँ....चुप बैठी है, क्या विवाह के दो वर्ष में ही वे बीते दिन भूल गई ? या अब मुझे दूर—इस विशेष अन्तर पर—रखना चाहती है ? क्योंकि वह निर्बाध स्वच्छन्दता अब तो नहीं हो सकती....पर फिर भी, ऐसा मौन, जैसा अजनबी से भी नहीं होना चाहिए....

मैंने कुछ खिन्न-सा होकर, दूसरी ओर देखते हुए कहा—जान पड़ता है, तुम्हें मेरे आने से विशेष प्रसन्नता नहीं हुई।

उसने एकाएक चौंककर कहा—हूँ ?

यह 'हूँ' प्रश्नसूचक था; किन्तु इसलिए नहीं कि मालती ने मेरी बात सुनी नहीं थी, केवल विस्मय के कारण। इसलिए मैंने अपनी बात दुहराई नहीं, चुप बैठ रहा। मालती कुछ बोली ही नहीं, तब थोड़ी देर बाद मैंने उसकी ओर देखा। वह एकटक मेरी ओर देख रही थी; किन्तु मेरे उधर उन्मुख होते ही उसने आँखें नीची कर लीं। फिर भी मैंने देखा—उन आँखों में कुछ विचित्र-सा भाव था; मानों मालती के भीतर कहीं कुछ चेष्टा कर रहा हो, किसी बीती हुई बात को याद करने की, किसी बिखरे हुए वायुमण्डल को पुनः जगाकर गतिमान करने की, किसी टूटे हुए व्यवहार-तन्तु को पुनरुज्जीवित करने की, और चेष्टा में सफल न हो रहा हो....वैसे जैसे

बहुत देर से प्रयोग में न लाए हुए अंग को कोई व्यक्ति एकाएक उठाने लगे और पाए कि वह उठता ही नहीं है, चिर-विस्मृति में मानों मर गया है, उतने क्षीण बल से (यद्यपि वह सारा प्राप्य बल है) उठ नहीं सकता......मुझे ऐसा जान पड़ा, मानों किसी जीवित प्राणी के गले में किसी मृत जन्तु का तौक डाल दिया गया हो, वह उसे उतार कर फेंकना चाहे, पर उतार न पाए।

तभी किसी ने किवाड़ खटखटाए। मैंने मालती की ओर देखा; पर वह हिली नहीं। जब किवाड़ दूसरी बार खटखटाए गये, तब वह शिशु को अलग करके उठी और किवाड़ खोलने गई।

वे, यानी मालती के पति आए। मैंने उन्हें पहली ही बार देखा था, यद्यपि फोटो से उन्हें पहचानता था। परिचय हुआ। मालती खाना तैयार करने आँगन में चली गई, और हम दोनों भीतर बैठ कर बातचीत करने लगे। उनकी नौकरी के बारे में, उनके जीवन के बारे में, उस स्थान के बारे में, आबोहवा के बारे में और ऐसे अन्य विषयों के बारे में जो पहले परिचय पर उठा करते हैं, एक तरह का स्वरक्षात्मक कवच बनकर......।

मालती के पति का नाम है महेश्वर। वे एक पहाड़ी गाँव में सरकारी डिस्पेंसरी के डाक्टर हैं। उसी हैसियत से इन क्वार्टर्स में रहते हैं। प्रातःकाल सात बजे डिस्पेंसरी चले जाते हैं और डेढ़ या दो बजे लौटते हैं। उसके बाद दोपहर भर छुट्टी रहती है, केवल शाम को एक-दो घण्टे फिर चक्कर लगाने के लिए जाते हैं, डिस-पेंसरी के साथ के छोटे-से अस्पताल में पड़े हुए रोगियों को देखने और अन्य ज़रूरी हिदायतें करने...उनका जीवन भी बिल्कुल एक निर्दिष्ट ढर्रे पर चलता है। नित्य वही काम, उसी प्रकार के मरीज़, वही हिदायतें, वही नुस्खे, वही दवाइयाँ...वे स्वयं उकताए हुए हैं,

और इसलिए और साथ ही इस भयंकर गर्मी के कारण वे अपने फ़ुरसत के समय में भी सुस्त ही रहते हैं........।

मालती हम दोनों के लिए खाना ले आई। मैंने पूछा—तुम नहीं खाओगी ? या खा चुकीं ?

महेश्वर बोले, कुछ हँसकर—वह पीछे खाया करती हैं....।

पति ढाई बजे खाना खाने आते हैं; इस लिए पत्नी तीन बजे तक भूखी बैठी रहेगी !

महेश्वर खाना आरम्भ करते हुए मेरी ओर देख कर बोले—

आपको तो खाने का मजा क्या ही आयगा, ऐसे बेवक्त खा रहे हैं।

मैंने उत्तर दिया—वाह ! देर से खाने पर तो और भी अच्छा लगता है—भूख बढ़ी हुई होती है ! पर शायद मालती बहिन को कष्ट होगा।

मालती टोककर बोली—ऊँहु, मेरे लिए तो यह नई बात नहीं है रोज़ ही ऐसा होता है........।

मालती बच्चे को गोद में लिए हुए थी। बच्चा रो रहा था; पर उसकी ओर कोई भी ध्यान नहीं दे रहा था।

मैंने कहा—यह रोता क्यों है ?

मालती बोली—हो ही गया है चिड़चिड़ा-सा, हमेशा ही ऐसा रहता है !—फिर बच्चे को डाँट कर कहा—चुप कर ! जिससे वह और भी रोने लगा। मालती ने भूमि पर बिठा दिया और बोली—अच्छा ले, रो ले, ! और रोटी लेने आँगन की ओर चली गई।

जब हमने भोजन समाप्त किया, तब तीन बजने वाले थे। महेश्वर ने बताया कि उन्हें आज जल्दी अस्पताल जाना है, वहाँ

एक-दो चिन्ता-जनक केस आए हुए हैं, जिनका आपरेशन करना पड़ेगा—दो की शायद टाँगें काटनी पड़ें, Gangrene हो गया है····थोड़ी ही देर में वे चले गये। मालती किवाड़ बन्द कर आई और मेरे पास बैठने ही लगी थी कि मैंने कहा—अब आप खाना तो खा लो, मैं उतनी देर टिटी से खेलता हूँ।

वह बोली—खा लूँगी मेरे खाने की कौन बात है,—किन्तु चली गई। मैं टिटी को हाथ में लेकर झुलाने लगा, जिससे वह कुछ देर के लिए शान्त हो गया।

दूर—शायद अस्पताल में ही, तीन खड़के। एकाएक मैं चौंका। मैंने सुना, मालती वहीं आँगन में बैठी, अपने-आप ही, एक लम्बी-सी थकी हुई साँस के साथ कह रही है तीन बज गए········मानों बड़ी तपस्या के बाद कोई कार्य सम्पन्न हो गया हो········।

थोड़ी ही देर में मालती फिर आ गई। मैंने पूछा—तुम्हारे लिए कुछ बचा भी था ? सब कुछ तो····।

'बहुत सा—'।

हाँ बहुत था ! भाजी तो सारी मैं ही खा गया था, वहाँ बचा कुछ होगा नहीं, यों ही रोब तो न जमाओ कि बहुत था !— मैंने हँसकर कहा।

मालती मानों किसी और विषय की बात कहती, हुई बोली—यहाँ सब्जी-वब्जी तो कुछ होती नहीं, कोई आता-जाता है, तो नीचे से मँगा लेते हैं। मुझे आए पन्द्रह दिन हुए हैं, जो सब्जी साथ लाए थे, वही अभी बर्ती जा रही है....।

मैंने पूछा—नौकर कोई नहीं है ?

'कोई ठीक मिला नहीं, शायद दो-एक दिन में हो जाय।'

'बर्तन भी तुम्हीं माँजती हो ?'

और कौन ?— कह कर मालती क्षण-भर आँगन में जाकर लौट आई।

मैंने पूछा—कहाँ गई थीं ?

'आज पानी ही नहीं है, बर्तन कैसे मँजेंगे !'

'क्यों, पानी को क्या हुआ ?'

'रोज़ ही होता है—कभी वक्त पर तो आता नहीं। आज शाम को सात बजे आएगा, तब बर्तन मँजेंगे।'

चलो तुम्हें सात बजे तक छुट्टी तो हुई—कहते हुए मैं मन ही मन सोचने लगा, 'अब इसे रात के ग्यारह बजे तक काम करना पड़ेगा, छुट्टी क्या ख़ाक हुई !'

यही उसने कहा। मेरे पास कोई उत्तर नहीं था; पर मेरी सहायता टिटी ने की, एकाएक फिर रोने लगा और मालती के पास जाने की चेष्टा करने लगा। मैंने उसे दे दिया।

थोड़ी देर फिर मौन रहा। मैंने जेब से अपनी नोटबुक निकाली, और पिछले दिनों के लिखे हुए नोट देखने लगा। तब मालती को याद आया कि उसने मेरे आने का कारण तो पूछा नहीं, और बोली—यहाँ आए कैसे ?

मैंने कहा ही तो—अच्छा, अब याद आया ? तुमसे मिलने आया था, और क्या करने ?

'तो दो-एक दिन रहोगे न ?'

'नहीं, कल चला जाऊँगा, जरूरी जाना है।'

मालती कुछ नहीं बोली, कुछ खिन्न-सी हो गई। मैं फिर नोटबुक की तरफ़ देखने लगा।

थोड़ी देर बाद मुझे भी ध्यान हुआ, मैं आया तो हूँ मालती से

मिलने, किन्तु यहाँ वह बात करने को बैठी है और मैं पढ़ रहा हूँ! पर बात भी क्या की जाय? मुझे ऐसा लग रहा था कि इस घर पर जो छाया घिरी हुई है, वह अज्ञात रह कर भी मानों मुझे भी वश कर रही है, मैं भी वैसा ही नीरस निर्जीव-सा हो रहा हूँ, जैसे—हाँ, जैसे यह घर, जैसे मालती........

मैंने पूछा—तुम कुछ पढ़ती-लिखती नहीं?—मैं चारों ओर देखने लगा कि कहीं किताबें दीख पड़ें।

यहाँ!—कह कर मालती थोड़ा-सा हँस दी। वह हँसी कह रही थी—यहाँ पढ़ने को है क्या?

मैंने कहा—अच्छा, मैं वापस जाकर जरूर कुछ पुस्तकें भेजूँगा ....और वार्तालाप फिर समाप्त हो गया....।

थोड़ी देर बाद मालती ने फिर पूछा,—आये कैसे हो, लारी में!

'पैदल।'

'आखिर तुमसे मिलने आया हूँ।'

'ऐसे ही आए हो?'

नहीं, कुली पीछे आ रहा है, सामान लेकर।—मैंने सोचा—बिस्तरा ले ही चलूँ।

अच्छा किया, यहाँ तो बस....कह कर मालती चुप रह गई। फिर बोली—तब तुम थके होगे, लेट जाओ।

'नहीं, बिलकुल नहीं थका।'

'रहने भी दो, थके नहीं हैं! भला थके हैं?'

'और तुम क्या करोगी?'

'बर्तन माँज रखती हूँ, पानी आएगा तो धुल जायँगे!'

मैंने कहा,—वाह !—क्योंकि और कोई बात मुझे सूझी नहीं....।

थोड़ी देर में मालती उठी और चली गई, टिटी को साथ लेकर। तब मैं भी लेट गया और छत की ओर देखने लगा, और सोचने लगा....मेरे विचारों के साथ आँगन से आती हुई बर्तनों के घिसने की खन-खन ध्वनि मिल कर एक विचित्र एकस्वरता उत्पन्न करने लगी, जिसके कारण मेरे अंग धीरे-धीरे ढीले पड़ने लगे, मैं ऊँघने लगा....।

एकाएक वह एकस्वरता टूट गई—मौन हो गयी। इससे मेरी तन्द्रा भी टूटी, मैं उस मौन में सुनने लगा—

चार खड़क रहे थे, और इसी का पहला घण्टा सुन कर मालती रुक गई थी....।

वही तीन बजे वाली बात मैंने फिर देखा, अब की बार और भी उग्र रूप में। मैंने सुना, मालती एक बिल्कुल अनैच्छिक, अनुभूतिहीन, नीरस, यन्त्रवत्—वह भी थके हुए यन्त्र की भाँति—स्वर में कह रही है—'चार बज गए........' मानों इस अनैच्छिक समय गिनने-गिनने में ही उसका मशीन-तुल्य जीवन बीतता हो, वैसे ही, जैसे मोटर का स्पीडॉमीटर यंत्रवत् फासला नापता जाता है; और यन्त्रवत् विश्रान्त-स्वर में कहता है (किससे !) कि मैंने अमित शून्य-पथ का इतना अंश तय कर लिया....।

न जाने कब, कैसे मुझे नींद आ गई....।

❀ ❀ ❀ ❀

तब छः कभी के बज चुके थे, जब किसी के आने की आहट से मेरी नींद खुली, और मैंने देखा कि महेश्वर लौट आये हैं, और उनके साथ ही बिस्तर लिए हुए मेरा कुली। मैं मुँह धोने को पानी माँगने

ही को था कि मुझे याद आया, पानी नहीं होगा। मैंने हाथों से मुँह पोंछते-पोंछते महेश्वर से पूछा—आप ने बड़ी देर की ?

उन्होंने किञ्चित् ग्लानि-भरे स्वर में कहा—हाँ, आज वह Gangrene का आपरेशन करना ही पड़ा। एक कर आया हूँ, दूसरे को एम्बुलेन्स में बड़े अस्पताल भिजवा दिया है।

मैंने पूछा—Gangrene कैसे हो गया ?

'एक काँटा चुभा था, उसी से हो गया। बड़े लापरवाह लोग होते हैं यहाँ के.......'

मैंने पूछा—यहाँ आप को केस अच्छे मिल जाते हैं ? आय के लिहाज से नहीं, डाक्टरी के अभ्यास के लिए ?

बोले—हाँ, मिल ही जाते हैं। यही Gangrene, हर दूसरे-चौथे दिन एक केस आ जाता है। नीचे बड़े अस्पतालों में भी....

मालती आँगन से ही सुन रही थी, अब आ गई, बोली—हाँ, केस बनाते देर क्या लगती है ? काँटा चुभा था, उस पर टाँग काटनी पड़े, यह भी कोई डॉक्टरी है ? हर दूसरे दिन किसी की टाँग, किसी की बाँह काट आते हैं, इसी का नाम है अच्छा अभ्यास !

महेश्वर हँसे। बोले—न काटें तो उसकी जान गवाएँ ?

'हाँ ! पहले तो दुनिया में काँटे ही नहीं होते होंगे ? आज तक तो सुना नहीं था कि काँटों के चुभने से मर जाते हों।'

महेश्वर ने उत्तर नहीं दिया, मुस्करा दिए। मालती मेरी ओर देख कर बोली—ऐसे ही होते हैं डॉक्टर ! सरकारी अस्पताल है न, क्या परवाह है। मैं तो रोज ही ऐसी बातें सुनती हूँ। अब कोई मर-मुर जाय तो ख़याल ही नहीं होता। पहले तो रात-रात भर नींद नहीं आया करती थी !

तभी आँगन में खुले हुए नल ने कहा—टिप, टिप, टिप, टटटिप........

मालती ने कहा—पानी !—और उठ कर चली गई। 'खनखन' शब्द से हमने जाना, बर्तन धोए जाने लगे हैं।

टिटी महेश्वर की टाँगों के सहारे खड़ा मेरी ओर देख रहा था। अब एकाएक उन्हें छोड़ कर मालती की ओर खिसकता हुआ चला। महेश्वर ने कहा—उधर मत जा !—और उसे गोद में उठा लिया। वह मचलने और चिल्ला-चिल्ला कर रोने लगा।

महेश्वर बोले—अब रो-धोकर सो जायगा, तभी घर में चैन पड़ेगी !

मैंने पूछा—आप लोग भीतर ही सोते हैं ? गर्मी तो बहुत होती है ?

होने को तो मच्छर भी बहुत होते हैं; पर ये लोहे के पलंग उठा कर बाहर कौन ले जाए ! अब की नीचे जाएंगे, तो चारपाइयाँ ले आएँगे।—फिर कुछ रुक कर बोले—आज तो बाहर ही सोएँगे। आप के आने का इतना लाभ ही होगा !

टिटी अभी तक रोता ही जा रहा था। महेश्वर ने उसे एक पलंग पर बिठा दिया, और पलंग बाहर खींचने लगे। मैंने कहा—मैं मदद करता हूँ—और दूसरी ओर से पलंग उठाकर बाहर निकलवा दिए।

अब हम तीनों—महेश्वर, टिटी और मैं, दो पलंगों पर बैठ गए और वार्त्तालाप के लिए उपयुक्त विषय न पाकर उस कमी को छिपाने के लिए टिटी से खेलने लगे। बाहर आकर वह कुछ चुप हो गया था; किन्तु बीच-बीच में जैसे एकाएक कोई भूला हुआ कर्त्तव्य याद करके रो उठता था और फिर एक दम चुप हो जाता

था…और तब कभी-कभी हम हँस पड़ते थे, या महेश्वर उसके बारे में कुछ बात कह देते थे…………

मालती बर्तन धो चुकी थी। जब वह उन्हें लेकर आँगन के एक ओर रसोई के छप्पर की ओर चली, तब महेश्वर ने कहा—थोड़े से आम लाया हूँ, वे भी धो लेना।

'कहाँ हैं ?'

'अंगीठी पर रखे हैं—कागज में लिपटे हुए।'

मालती ने भीतर जाकर आम उठाए और अपने आँचल में डाल लिए। जिस कागज में वे लिपटे हुए थे, वह किसी पुराने अखबार का टुकड़ा था। मालती चलती-चलती सन्ध्या के उस क्षीण प्रकाश में उसी को पढ़ती जा रही थी……वह नल के पास जाकर खड़ी उसे पढ़ती रही, जब दोनों ओर पढ़ चुकी, तब एक लम्बी साँस लेकर उसे फेंक कर आम धोने लगी।

मुझे एकाएक याद आया…बहुत दिनों की बात थी—जब हम अभी स्कूल में भरती हुए ही थे। जब हमारा सब से बड़ा सुख, सब से बड़ी विजय थी, हाजिरी हो चुकने के बाद चोरी से क्लास से निकल भागना और स्कूल से कुछ दूर पर आम के बगीचे में पेड़ों पर चढ़ कर कच्ची आमियाँ तोड़-तोड़ कर खाना। मुझे याद आया—कभी जब मैं भाग आता था और मालती नहीं आ पाती थी, तब मैं भी खिन्नमन लौट जाया करता था…

मालती कुछ नहीं पढ़ती थी, उसके माता-पिता तंग थे। एक दिन उसके पिता ने उसे एक पुस्तक लाकर दी, और कहा कि इसके बीस पेज रोज़ पढ़ा करो। हफ्ते भर बाद मैं देखूँ कि इसे समाप्त कर चुकी हो। नहीं तो मार-मार कर चमड़ी उधेड़ दूँगा। मालती ने चुपचाप किताब ले ली; पर क्या उसने पढ़ी ? वह नित्य ही उसके

दस पन्ने, बीस पेज, फाड़ कर फेंक देती, अपने खेल में किसी भाँति फर्क न पड़ने देती। जब आठवें दिन उसके पिता ने पूछा, 'किताब समाप्त कर ली ? तो उत्तर दिया—'हाँ, कर लीं।' पिता ने कहा, लाओ, मैं प्रश्न पूछूँगा।'—तो चुप खड़ी रही। पिता ने फिर कहा, तो उद्धत स्वर में बोली—किताब मैंने फाड़कर फेंक दी है। मैं नहीं पढ़ूँगी !

उसके बाद वह बहुत पिटी, पर वह अलग बात है....इस समय मैं यही सोच रहा था कि वही उद्धत और चञ्चल मालती आज कितनी सीधी हो गई है, कितनी शान्त, और एक अखबार के टुकड़े को तरसती है....यह क्या है, यह—

तभी महेश्वर ने पूछा—रोटी कब बनेगी ?

'बस, अभी बनाती हूँ।'

पर, अब की बार जब मालती रसोई की ओर चली, तब टिटी की कर्तव्यभावना बहुत विस्तीर्ण हो गई। वह मालती की ओर हाथ बढ़ाकर रोने लगा और नहीं माना, नहीं माना। मालती उसे भी गोद में लेकर चली गई। रसोई में बैठकर एक हाथ से उसे थपकने और दूसरे से कई एक छोटे-छोटे डिब्बे उठाकर अपने सामने रखने लगी....

और हम दोनों चुपचाप रात्रि की, और भोजन की, और एक दूसरे के कुछ कहने की, और न जाने किस-किस न्यूनता की पूर्त्ति की, प्रतीक्षा करने लगे।

❀ ❀ ❀

हम भोजन कर चुके थे, और बिस्तरों पर लेट गये थे। टिटी सो गया था, मालती उसे अपने पलंग के एक ओर मोमजामा बिछा-कर उस पर लिटा गई थी। वह सो तो गया था, पर नींद में कभी-

कभी चौंक उठता था। एक बार तो उठकर बैठ भी गया था; तुरन्त ही लेट गया।

मैंने महेश्वर से पूछा—आप तो थके होंगे, सो जाइए।

वे बोले—थके तो आप अधिक होंगे—अठारह मील पैदल चल कर आए हैं।—किन्तु उनके स्वर ने मानो जोड़ दिया—थका तो मैं भी हूँ।

मैं चुप हो रहा। थोड़ी ही देर में किसी अपर संज्ञा ने मुझे बताया, वे ऊँघ रहे हैं।

तब लगभग साढ़े दस बजे थे। मालती भोजन कर रही थी।

मैं थोड़ी देर मालती की ओर देखता रहा, वह किसी विचार में (यद्यपि बहुत गहरे विचार में नहीं) लीन हुई धीरे-धीरे खाना खा रही थी। फिर मैं इधर-उधर खिसक कर, पलंग पर आराम से होकर, आकाश की ओर देखने लगा।

पूर्णिमा थी। आकाश अनभ्र था।

मैंने देखा—उस सरकारी क्वार्टर की दिन में अत्यन्त शुष्क और नीरस लगनेवाली, स्लेट की छत की स्लेटें भी चाँदनी में चमक रही हैं, अत्यन्त शीतलता और स्निग्धता से छलक रही हैं, मानों चन्द्रिका उन पर से बहती हुई आरही हो, झर रही हो....

मैंने देखा—पवन में चीड़ के वृक्ष—गर्मी से सूख कर मटमैले हुए चीड़ के वृक्ष—धीरे-धीरे गारहे हैं—कोई राग जो कोमल है किन्तु करुण नहीं; अशान्तिमय है, किन्तु उद्वेगमय नहीं....

मैंने देखा—प्रकाश से धुंधले नील आकाश के पट पर जो चमकदार नीरव उड़ान से चक्कर काट रहे हैं, वे भी सुन्दर दीखते हैं...

मैंने देखा—दिन भर की तपन, अशान्ति, थकान, दाह, पहाड़ों

में से भाप की नाईं उठ कर वातावरण में सोए जारहे हैं, और ऊपर से एक कोमल, शीतल, सम्मोहन, अह्लाद-सा बरस रहा है, जिसे ग्रहण करने के लिए पर्वत-शिशुओं ने अपनी चीड़-वृत्त रूपी भुजाएँ आकाश की ओर बढ़ा रखी हैं....

पर वह सब मैंने ही देखा, अकेले मैंने....महेश्वर ऊँघ रहे थे, और मालती उस समय भोजन से निवृत्त होकर, दही जमाने के लिए मिट्टी का बर्त्तन गर्म पानी से धो रही थी और कह रही थी, 'बस, अभी छुट्टी हुई जाती है।' और मेरे कहने पर कि 'ग्यारह बजनेवाले हैं,' धीरे से सिर हिलाकर जता रही थी कि रोज ही इतने बज जाते हैं....मालती ने यह सब कुछ नहीं देखा। मालती का जीवन अपनी रोज की नियत गति से बहा जारहा था और एक चन्द्रमा की चन्द्रिका के लिए, एक संसार के सौन्दर्य के लिए, रुकने को तैयार नहीं था....

चाँदनी में शिशु कैसा लगता है, इस अलस जिज्ञासा से मैंने टिटी की ओर देखा। और वह एकाएक मानों किसी शैशवोचित वामता से उठा और खिसककर पलंग से नीचे गिर पड़ा, और चिल्ला चिल्लाकर रोने लगा। महेश्वर ने चौंक कर कहा—'क्या हुआ?' मैं झपट कर उसे उठाने दौड़ा, मालती रसोई से बाहर निकल आई, मैंने उस 'खट्!' शब्द को याद करके, धीरे से करुणा-भरे स्वर में कहा—चोट बहुत लग गई बिचारे के....!

यह सब मानों एक ही क्षण में, एक ही क्रिया की गति में हो गया।

मालती ने रोते हुए शिशु को मुझसे लेने के लिए हाथ बढ़ाते हुए कहा—इसके चोटें लगती ही रहती हैं, रोज ही गिर पड़ता है।

एक छोटे क्षण-भर के लिए, मैं स्तब्ध हो गया। फिर एकाएक

मेरे मन ने, मेरे समूचे अस्तित्व ने, विद्रोह के स्वर में कहा—कहा मेरे मन के भीतर ही, बाहर एक शब्द भी नहीं निकला!—माँ, युवती माँ! यह तुम्हारे हृदय को क्या हो गया है, जो तुम अपने एकमात्र बच्चे के गिरने पर ऐसी बात कह सकती हो....और यह अभी, जब तुम्हारा सारा जीवन तुम्हारे आगे है!

और, तब यकायक मैंने जाना कि वह भावना मिथ्या नहीं है। मैंने देखा कि सचमुच उस कुटुम्ब में कोई गहरी, भयङ्कर छाया घर कर गई है, उनके जीवन के इस पहले ही यौवन में घुन की तरह लग गई, उसका इतना अभिन्न अङ्ग हो गई है कि वे उसे पहचानते ही नहीं, उसी की परिधि में घिरे हुए चले जा रहे हैं। इतना ही नहीं, मैंने उस छाया को देख भी लिया।

इतनी देर में, पूर्ववत् शान्ति हो गई थी। महेश्वर फिर लेट कर ऊँघ रहे थे। टिटी मालती के लेटे हुए शरीर से चिपट कर चुप हो गया था यद्यपि कभी एक-आध सिसकी उसके छोटे-से शरीर को हिला देती थी। मैं भी अनुभव करने लगा था कि बिस्तर अच्छा-सा लग रहा है। मालती चुपचाप ऊपर आकाश में देख रही थी; किन्तु क्या चंद्रिका को? या तारों को?....

तभी ग्यारह का घंटा बजा। मैंने अपनी भारी हो रही पलकें उठा कर अकस्मात् किसी अस्पष्ट प्रतीक्षा से मालती की ओर देखा। ग्यारह के पहले घंटे की खड़कन के साथ ही मालती की छाती एकाएक फफोले की भाँति उठी और धीरे-धीरे बैठने लगी और घण्टाध्वनि के कम्पन के साथ ही मूक हो जानेवाली आवाज में उसने कहा—ग्यारह बज गए!....

———

पाठ २[illegible]

पुरस्कार

(रच० श्री जयशंकर 'प्रसाद')

[श्री जयशंकर 'प्रसाद' (जन्म १८८९-१९३६ ई०) की प्रारम्भिक शिक्षा घर पर तथा बाद को क्वींस कालेज में केवल आठवीं कक्षा तक हो सकी थी। फिर भी आप अंग्रेजी, संस्कृत, फारसी और [illegible] के विद्वान् थे। प्रारम्भ से ही साहित्य की ओर आपकी रुचि थी। इतने छोटे से जीवन काल में प्रसादजी ने साहित्य भण्डार की जो वृद्धि की वह सराहनीय है। हिन्दी में मौलिक नाटकों की रचना की दृष्टि से आपका महत्त्व अत्यधिक है। काव्य की छायावादी धारा को भी प्रसादजी ने ही जन्म दिया। प्रसादजी की अन्य रचनाएँ—कहानी, उपन्यास आदि भी उच्च-कोटि की हैं। प्रायः आपके प्रमुख, कहानी संग्रह, 'छाया', 'आकाशदीप', आंधी, 'प्रतिध्वनि', 'इन्द्रजाल' आदि हैं। मानव हृदय के सूक्ष्म चित्रण तथा स्वभाविकता के लिए प्रसादजी की कहानियाँ प्रसिद्ध हैं।

प्रसादजी की इस कहानी का कथानक प्राचीन भारत से सम्बन्धित है, और उस समय के वैभव तथा रीति रिवाजों की सुन्दर झांकी है। कुल मर्यादा के प्रति जागरूकता, तथा उसको निभाने के लिए उस समय की नारी तत्पर है। इसके लिए वह सब प्रकार का कष्ट सह सकती है। धन का मोह उसके लिए शून्य है। देश प्रेम तथा देश की रक्षा के लिए व्यक्तिगत सुख की ओर ध्यान न देना भारतीय आदर्श रहा है और यह कहानी इस आदर्श का सुन्दर चित्रण करती है।

कहानी की भाषा संस्कृत गर्भित होने के कारण प्राचीन भारत के

वातावरण को उपस्थित करने और कहानी को सफल बनाने में सहायक है। चरित्र की दृढ़ता का कलात्मक चित्रण, कथोपकथन की स्वाभाविकता कौतूहल की उत्तरोत्तर वृद्धि कहानी की महत्त्वपूर्ण विशेषतायें हैं और उसके सौंदर्य को बढ़ाती है।]

आर्द्रा नक्षत्र; आकाश में काले-काले बादलों की घुमड़, जिसमें देव-दुन्दुभी का गम्भीर घोष। प्राचीर के एक निरभ्र कोने से स्वर्ण-पुरुष झाँकने लगा था—देखने लगा महाराज की सवारी। शैलमाला के अंचल में समतल उर्वरा भूमि से सोंधी बास उठ रही थी। नगर-तोरण से जय-घोष हुआ, भीड़ में गजराज का चामरधारी शुंड उन्नत दिखाई पड़ा। वह हर्ष और उत्साह का समुद्र हिलोरें भरता हुआ आगे बढ़ने लगा।

प्रभात की हेम किरणों से अनुरंजित नन्हीं-नन्हीं बूँदों का एक झोंका स्वर्ण-मल्लिका के समान बरस पड़ा। मंगल-सूचना से जनता से हर्ष-ध्वनि की।

रथों, हाथियों और अश्वारोहियों की पंक्ति जम गई। दर्शकों की भीड़ भी कम न थी। गजराज बैठ गया, सीढ़ियों से महाराज उतरे। सौभाग्यवती और कुमारी सुन्दरियों के दो दल, आम्र-पल्लवों से सुशोभित मंगल-कलश और फूल, कुंकुम तथा खीलों से भरे थाल लिए, मधुर गाना गाते हुए आगे बढ़े।

महाराज के मुख पर मधुर मुसकान थी। पुरोहित-वर्ग ने स्वस्त्ययन किया। स्वर्ण-रंजित हल की मूठ पकड़ कर महाराज ने जुते हुए सुन्दर पुष्ट बैलों को चलने का संकेत किया। बाजे बजने लगे। किशोरी कुमारियों ने खीलों और फूलों की वर्षा की।

कोशल का यह उत्सव प्रसिद्ध था। एक दिन के लिए महाराज को कृषक बनना पड़ा—उस दिन इंद्र-पूजन धूमधाम से होती; गोठ

होती। नगर-निवासी उस पहाड़ी भूमि में आनन्द मनाते। प्रतिवर्ष कृषि का यह महोत्सव उत्साह से संपन्न होता, दूसरे राज्यों से भी युवक राजकुमार इस उत्सव में बड़े चाव से आकर योग देते।

मगध का एक राजकुमार अरुण अपने रथ पर बैठ बड़े कौतूहल से यह दृश्य देख रहा था।

बीजों का एक थाल लिए कुमारी मधूलिका महाराज के साथ थी। बीज बोते हुए महराज जब हाथ बढ़ाते तब मधूलिका उनके सामने थाल कर देती। यह खेत मधूलिका का था, जो इस साल महाराज की खेती के लिए चुना गया था। इसलिए बीज देने का सम्मान मधूलिका को ही मिला। वह कुमारी थी। सुन्दरी थी। कौशेय वसन उसके शरीर पर इधर उधर लहराता हुआ स्वयं शोभित होरहा था। वह कभी उसे सम्हालती और कभी अपने रूखे अलकों को। कृषक-बालिका के शुभ्र भाल पर श्रमकणों की भी कमी न थी। वे सब बरौनियों में गुँथे जा रहे थे, सम्मान और लज्जा उसके अधरों पर मंद मुस्कराहट के साथ सिहर उठते, किन्तु महाराज के बीज देने में शिथिलता न दिखलाई। सब लोग महाराज का हल चलाना देख रहे थे—विस्मय से, कुतूहल से। और अरुण देख रहा था कृषक-कुमारी मधूलिका को। आह कितना भोला सौंदर्य! कितनी सरल चितवन!

उत्सव का प्रधान कृत्य समाप्त हो गया। महाराज ने मधूलिका के खेत का पुरस्कार दिया थाल में कुछ स्वर्ण-मुद्राएँ। वह राजकीय अनुग्रह था। मधूलिका ने थाली सिर से लगा ली, किन्तु साथ ही उसमें की स्वर्ण-मुद्राओं को महाराज पर न्योछावर करके बिखेर दिया। मधूलिका की उस समय की ऊर्जस्वित मूर्त्ति लोग आश्चर्य से देखने लगे। महाराज की भृकुटि भी जरा चढ़ी ही थी कि मधू-लिका ने सविनय कहा—"देव! यह मेरे पितृ-पितामहों की भूमि

है। इसे बेचना अपराध है, इसलिए मूल्य स्वीकार करना मेरी सामर्थ्य के बाहर है।" महाराज के बोलने के पहले ही वृद्ध मंत्री ने तीखे स्वर से कहा—"अबोध! क्या बक रही है? राजकीय अनुग्रह का तिरस्कार! तेरी भूमि से चौगुना मूल्य है; फिर कोशल का यह सुनिश्चित राष्ट्रीय नियम है। तू आज से राजकीय रक्षण की अधिकारिणी हुई; इस धन से अपने को सुखी बना।"

महाराज के संकेत करने पर मंत्री ने कहा—"देव! वाराणसी-युद्ध के अन्यतम वीर सिंहमित्र की यह एकमात्र कन्या है।" महाराज चौंक उठे—"सिंहमित्र की कन्या! जिसने मगध के सामने कोशल की लाज रख ली थी, उसी वीर की मधूलिका कन्या है?"

"हाँ देव!" सविनय मंत्री ने कहा।

इस उत्सव के परंपरागत नियम क्या हैं, मंत्रिवर?" महाराज ने पूछा।

"देव, नियम तो बहुत साधारण हैं। किसी भी भूमि को इस उत्सव के लिए चुनकर नियमानुसार पुरस्कार-स्वरूप उसका मूल्य दे दिया जाता है। वह भी अत्यन्त अनुग्रहपूर्वक अर्थात् भूसंपत्ति का चौगुना मूल्य उसे मिलता है। उस खेती को वही व्यक्ति वर्ष भर देखता है। वह राजा का खेत कहा जाता है।"

महाराज को विचार-संघर्ष की अत्यन्त आवश्यकता थी। महाराज चुप रहे। जय-घोष के साथ सभा विसर्जित हुई। सब अपने-अपने शिविरों में चले गये। किन्तु मधूलिका को उत्सव में फिर किसी ने न देखा। वह अपने खेत की सीमा पर विशाल मधूक-वृक्ष के चिकने हरे पत्तों की छाया में अनमनी चुपचाप बैठी रही।

रात्रि का उत्सव अब विश्राम ले रहा था। राजकुमार अरुण उसमें सम्मिलित नहीं हुआ—वह अपने विश्राम-भवन में जागरण कर

रहा था। आँख में नींद न थी। प्राची में कैसी गुलाली खिल रही थी, वही रंग उसकी आँखों में था। सामने देखा तो मुँडेर पर एक कपोती एक पैर पर खड़ी पंख फैलाए अँगड़ाई ले रही थी। अरुण उठ खड़ा हुआ। द्वार पर सुसज्जित अश्व था, वह देखते-देखते नगर-तोरण पर जा पहुँचा। रक्षकगण ऊँघ रहे थे; अश्व के पैरों के शब्द से चौंक उठे।

युवक कुमार तीर-सा निकल गया। सिन्धु देश का तुरंग प्रभात के पवन से पुलकित हो रहा था। घूमता-घूमता अरुण उसी मधूक वृक्ष के नीचे पहुँचा, जहाँ मधूलिका अपने हाथ पर सिर धरे हुए खिन्न-निद्रा का सुख ले रही थी।

अरुण ने देखा, एक छिन्न माधवी-लता वृक्ष की शाखा से च्युत होकर पड़ी है। सुमन मुकुलित थे, भ्रमर निस्पंद। अरुण ने अपने अश्व को मौन रहने का संकेत किया, उस सुषमा को देखने के लिए। परन्तु कोकिल बोल उठा। उसने अरुण से प्रश्न किया—"छिः, कुमारी के सोए हुए सौन्दर्य पर दृष्टिपात करने वाले धृष्ट, तुम कौन?" मधूलिका की आँखें खुल पड़ीं। उसने देखा, एक अपरिचित युवक। वह संकोच से उठ बैठी। "भद्रे! तुम्हीं न कल के उत्सव की संचालिका रही हो?"

"उत्सव! हाँ, उत्सव ही तो था।"

"कल उस सम्मान............"

"क्यों आपको कल का स्वप्न सता रहा है? भद्र! आप क्या मुझे इस अवस्था में संतुष्ट न रहने देंगे?"

"मेरा हृदय तुम्हारी उस छवि का भक्त बन गया है देवि!"

"मेरे उस अभिनय का—मेरी विडम्बना का। आह! मनुष्य कितना निर्दय है, अपरिचित! क्षमा करो, जाओ अपने मार्ग।"

"सरलता की देवि! मैं मगध का राजकुमार तुम्हारे अनुग्रह का

प्रार्थी हूँ—मेरे हृदय की भावना अवगुंठन में रहना नहीं जानती। उसे अपनी..............."

"राजकुमार! मैं कृषक-बालिका हूँ। आप नंदनविहारी और मैं पृथ्वी पर परिश्रम करके जीने वाली। आज मेरी स्नेह की भूमि पर से मेरा अधिकार छीन लिया गया है। मैं दुःख से विकल हूँ; मेरा उपहास न करो।"

"मैं कोशल-नरेश से तुम्हारी भूमि तुम्हें दिलवा दूँगा।"

"नहीं, वह कोशल का राष्ट्रीय नियम है। मैं उसे बदलना नहीं चाहती—चाहे उससे मुझे कितना ही दुःख हो?"

"तब तुम्हारा रहस्य क्या है?"

"यह रहस्य मानव-हृदय का है, मेरा नहीं। राजकुमार, नियमों से यदि मानव-हृदय बाध्य होता तो आज मगध के राजकुमार का हृदय किसी राजकुमारी की ओर न खिंचकर एक कृषक-बालिका का अपमान करने न आता।" मधूलिका उठ खड़ी हुई।

चोट खाकर राजकुमार लौट पड़ा। किशोर किरणों में उसका रत्न-किरीट चमक उठा। अश्व वेग से चला जा रहा था और मधूलिका निष्ठुर प्रहार करके क्या स्वयं आहत न हुई? उसके हृदय में टीस-सी होने लगी। वह सजल नेत्रों से उड़ती हुई धूल देखने लगी।

❀ ❀ ❀ ❀

मधूलिका ने राजा का प्रतिदान, अनुग्रह नहीं लिया। वह दूसरे खेतों में काम करती और चौथे पहर रूखी-सूखी खाकर पड़ रहती। मधूक-वृक्ष के नीचे छोटी-सी पर्ण-कुटीर थी। सूखे डंठलों से उसकी दीवार बनी थी। मधूलिका का वही आश्रम था। कठोर परिश्रम से जो रूखा अन्न मिलता वही उसकी साँसों को बढ़ाने के लिए पर्याप्त था। दुबली होने पर भी उसके अंग पर तपस्या की कान्ति थी।

आसपास के कृषक उसका आदर करते। वह एक आदर्श बालिका थी। दिन, सप्ताह, महीने और वर्ष बीतने लगे।

शीतकाल की रजनी, मेघों से भरा आकाश, जिसमें बिजली की दौड़-धूप। मधूलिका का छाजन टपक रहा था; ओढ़ने की कमी थी। वह ठिठुरकर एक कोने में बैठी थी। मधूलिका अपने अभाव को आज बढ़ाकर सोच रही थी। जीवन से सामंजस्य बनाए रखने वाले उपकरण तो अपनी सीमा निर्धारित रखते हैं, परन्तु उनकी आवश्यकता और कल्पना भावना के साथ बढ़ती-घटती रहती है। आज बहुत दिनों पर उसे बीती हुई बात स्मरण हुई—"दो, नहीं-नहीं तीन वर्ष हुए होंगे, इसी मधूक के नीचे, प्रभात में—तरुण राजकुमार ने क्या कहा था ?"

वह अपने हृदय से पूछने लगी—उन चाटुकी के शब्दों को सुनने के लिए उत्सुक-सी वह पूछने लगी—"क्या कहा था ?" दुख-दग्ध हृदय उन स्वप्न-सी बातों का स्मरण रख सकता और स्मरण ही होता तो भी कष्टों की इस काली निशा में वह कहने का साहस करता। हाय री, विडम्बना !

आज मधूलिका उस बीते हुए क्षण को लौटा लेने के लिए विकल थी। असहाय दारिद्र्य की ठोकरों ने उसे व्यथित और अधीर कर दिया है। मगध की प्रासाद-माला के वैभव का काल्पनिक चित्र—उन सूखे डंठलों की रंध्रों से नीचे नभ में—बिजली के आलोक में नाचता हुआ दिखाई देने लगा। खिलवाड़ी शिशु जैसे श्रावण की सन्ध्या में जुगनू को पकड़ने के लिए हाथ लपकाता है वैसे ही मधूलिका 'अभी वह निकल गया' मन-ही-मन कह रही थी। वर्षा ने भीषण रूप धारण किया। गड़गड़ाहट बढ़ने लगी, ओले पड़ने की सम्भावना थी। मधूलिका अपनी जर्जर झोंपड़ी के लिए काँप उठी। सहसा बाहर कुछ शब्द हुआ—

"कौन है यहाँ ? पथिक को आश्रय चाहिए।"

मधूलिका ने डंठलों का कपाट खोल दिया। बिजली चमक उठी। उसने देखा, एक पुरुष घोड़े की डोर पकड़े खड़ा है। सहसा वह चिल्ला उठी—"राजकुमार !"

"मधूलिका !" आश्चर्य से युवक ने कहा।

एक क्षण के लिए सन्नाटा छा गया। मधूलिका अपनी कल्पना को सहसा प्रत्यक्ष देखकर चकित हो गई, "इतने दिनों के बाद आज फिर !"

अरुण ने कहा—"कितना समझाया मैंने—परन्तु............"

मधूलिका अपनी दयनीय अवस्था पर संकेत करने देना नहीं चाहती थी। उसने कहा—"और आज आपकी यह क्या दशा है ?"

सिर झुकाकर अरुण ने कहा—मैं मगध का विद्रोही निर्वासित कोशल में जीविका खोजने आया हूँ।"

मधूलिका उस अंधकार में हँस पड़ी—"मगध के विद्रोही राजकुमार का स्वागत करे एक अनाथिनी कृषक-बालिका, यह भी एक विडम्बना है; तो भी मैं स्वागत के लिए प्रस्तुत हूँ।"

❀ ❀ ❀ ❀

शीतकाल की निस्तब्ध रजनी, कुहरे से धुली हुई चाँदनी, हाड़ कँपा देने वाला समीर तो भी अरुण और मधूलिका दोनों पहाड़ी गह्वर के द्वार पर वट-वृक्ष के नीचे बैठे हुए बातें कर रहे हैं। मधूलिका की वाणी में उत्साह था, किन्तु अरुण जैसे अत्यन्त सावधान होकर बोलता।

मधूलिका ने पूछा—"जब तुम इतनी विपन्न अवस्था में हो तो फिर इतने सैनिकों को साथ रखने की क्या आवश्यकता है ?"

"मधूलिका ! बाहुबल ही तो वीरों की आजीविका है। ये मेरे जीवन-मरण के साथी हैं भला मैं इन्हें कैसे छोड़ देता ? और करता ही क्या ?"

क्यों ? हम लोग परिश्रम से कमाते और खाते। अब तो तुम······।"

"भूल न करो, मैं अपने बाहुबल पर भरोसा करता हूँ। नए राज्य की स्थापना कर सकता हूँ, निराश क्यों हो जाऊँ ?"—अरुण के शब्दों में कम्पन था; वह जैसे कुछ कहना चाहता था, पर कह न सकता था।

"नवीन राज्य ! ओहो,तुम्हारा उत्साह तो कम नहीं। भला कैसे? कोई ढंग बताओ तो मैं भी कल्पना का आनन्द ले लूँ।"

"कल्पना का आनन्द नहीं मधूलिका, मैं तुम्हें राजरानी के सम्मान में सिंहासन पर बिठाऊँगा। तुम अपने छिने हुए खेत की चिन्ता करके भयभीत न हो।"

एक क्षण में सरला मधूलिका के मन में प्रमाद का अंधड़ बहने लगा—द्वन्द्व मच गया। उसने सहसा कहा—"आह, मैं सचमुच आज तक तुम्हारी प्रतीक्षा करती थी, राजकुमार !"

अरुण ढिठाई से उसके हाथों को दबाकर बोला—"तो मेरा भ्रम था, तुम सचमुच मुझे प्यार करती हो ?"

युवती का वक्षस्थल फूल उठा, वह हाँ भी नहीं कह सकी, ना भी नहीं। अरुण ने उसकी अवस्था का अनुभव कर लिया। कुशल मनुष्य के समान उसने अवसर को हाथ से न जाने दिया। तुरन्त बोल उठा—तुम्हारी इच्छा हो तो प्राणों से प्राण लगाकर मैं तुम्हें इसी कोशल-सिंहासन पर बिठा दूँ। मधूलिका ! अरुण के खड्ग का आतंक देखोगी ?" मधूलिका एक बार काँप उठी। वह कहना चाहती थी, नहीं—किन्तु उसके मुह से निकला "क्या ?"

"सत्य मधूलिका, कोशल-नरेश तभी से तुम्हारे लिए चिन्तित हैं। यह मैं जानता हूँ, तुम्हारी साधारण-सी प्रार्थना वह अस्वीकार न करेंगे। और मुझे यह भी विदित है कि कोशल के सेनापति अधि-

कांश सैनिकों के साथ पहाड़ी दस्युओं का दमन करने के लिए बहुत दूर चले गए हैं।"

मधूलिका की आँखों के आगे बिजलियाँ हँसने लगीं। दारुण भावना से उसका मस्तक विकृत हो उठा। अरुण ने कहा—"तुम बोलती नहीं हो ?"

"जो कहोगे वही करूँगी"—मंत्रमुग्ध-सी मधूलिका ने कहा।

× × ×

स्वर्णमंच पर कोशल-नरेश अधलेटी अर्द्धनिद्रित अवस्था में आँखें मुकुलित किए हैं। एक चामरधारिणी युवती पीछे खड़ी अपनी कलाई बड़ी कुशलता से घुमा रही है। चामर के शुभ्र आंदोलन उस प्रकोष्ठ में धीरे-धीरे संचलित हो रहे हैं। ताम्बूल-वाहिनी प्रतिमा के समान दूर खड़ी है।

प्रतिहारी ने आकर कहा—"जय हो देव ! एक स्त्री कुछ प्रार्थना करने आई है।"

आँखें खोलते हुए महाराज ने कहा—"स्त्री ! प्रार्थना करने आई है ? आने दो।"

प्रतिहारी के साथ मधूलिका आई। उसने प्रणाम किया। महाराज ने स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखा और कहा—"तुम्हें कहीं देखा है।"

"तीन बरस हुए देव ! मेरी भूमि खेती के लिए ली गई थी।"

"ओह, तो तुमने इतने दिन कष्ट में बिताए, आज उसका मूल्य माँगने आई हो, क्यों ? अच्छा-अच्छा तुम्हें मिलेगा। प्रतिहारी !"

"नहीं महाराज, मुझे मूल्य नहीं चाहिए।"

"मूर्ख ! फिर क्या चाहिए ?"

"उतनी ही भूमि, दुर्ग के दक्षिणी नाले के समीप की जंगली

भूमि। वहीं मैं अपनी खेती करूँगी। मुझे एक सहायक मिल गया है। वह मनुष्यों से मेरी सहायता करेगा; भूमि को समतल भी तो बनाना होगा।"

महाराज ने कहा—"कृषक-बालिके! वह बड़ी ऊबड़-खाबड़ भूमि है। तिस पर वह दुर्ग के समीप एक सैनिक महत्व रखती है।"

"तो फिर निराश लौट जाऊँ?"

"सिंहमित्र की कन्या! मैं क्या करूँ, तुम्हारी यह प्रार्थना....।"

"देव! जैसी आज्ञा हो।"

"जाओ, तुम श्रमजीवियों को उसमें लगाओ। मैं अमात्य को आज्ञापत्र देने का आदेश करता हूँ।"

"जय हो देव!" कह कर प्रणाम करती हुई मधूलिका राजमन्दिर के बाहर आई।

❀ ❀ ❀

दुर्ग के दक्षिण, भयावने नाले के तट पर, घना जंगल है। आज वहाँ मनुष्यों के पद-संचार से शून्यता भंग हो रही थी। अरुण के छिपे हुए मनुष्य स्वतंत्रता से इधर-उधर घूमते थे। झाड़ियों को काटकर पथ बन रहा था। नगर दूर था; फिर उधर यों ही कोई नहीं आता था। फिर अब तो महाराज की आज्ञा से वहाँ मधूलिका का अच्छा खेत बन रहा था। किसी को इसकी चिन्ता थी?

एक घने कुंज में अरुण और मधूलिका एक दूसरे को हर्षित नेत्रों से देख रहे थे। संध्या हो चली थी। उस निविड़ वन में उन नवागत मनुष्यों को देख कर पक्षीगण अपने नीड़ को लौटते हुए अधिक कोलाहल कर रहे थे।

प्रसन्नता से अरुण की आँखें चमक उठीं। सूर्य की अंतिम किरणें झुरमुट से घुसकर मधूलिका के कपोलों से खेलने लगीं।

अरुण ने कहा—"चार पहर और विश्वास करो और प्रभात में ही इस जीर्ण-कलेवर कोशल-राष्ट्र की राजधानी श्रावस्ती में तुम्हारा अभिषेक होगा। और मगध से निर्वासित मैं, एक स्वतंत्र राष्ट्र का अधिपति बनूँगा, मधूलिके !"

"भयानक ! अरुण तुम्हारा साहस देखकर मैं चकित हो रही हूँ। केवल सौ सैनिकों से तुम..................."

"रात के तीसरे पहर मेरी विजय-यात्रा होगी मधूलिके !"

"तो तुमको इस विजय पर विश्वास है !"

"अवश्य ! तुम अपनी झोपड़ी में यह रात बिताओ, प्रभात से तो राजमंदिर ही तुम्हारा लीला-निकेतन बनेगा।"

मधूलिका प्रसन्न थी, किन्तु अरुण के लिए उसकी कल्याण-कामना सशंक थी। वह कभी-कभी उद्विग्न-सी होकर बालकों के समान प्रश्न कर बैठती। अरुण उसका समाधान कर देता।

सहसा कोई संकेत पाकर उसने कहा—"अच्छा, अंधकार अधिक हो गया। अभी तुम्हें दूर जाना है और मुझे भी प्राणपण से इस अभियान के प्रारंभिक कार्यों को अर्ध-रात्रि तक पूरा कर लेना चाहिये। इसलिए रात्रि भर के लिए विदा !"

मधूलिका उठ खड़ी हुई। कटीली झाड़ियों से उलझती हुई, क्रम से बढ़ने वाले अंधकार में, वह अपनी झोपड़ी की ओर चली।

❀ ❀ ❀

पथ अंधकारमय था और मधूलिका का हृदय भी निबिड़ तम से घिरा था। उसका मन सहसा विचलित हो उठा, मधुरता नष्ट हो गई। जितनी सुख-कल्पना थी, वह जैसे अंधकार में विलीन होने लगी। वह भयभीत थी, पहला भय उसे अरुण के लिए उत्पन्न हुआ, यदि वह सफल न हुआ तो ? फिर सहसा सोचने लगी, वह क्यों

सफल हो ? श्रावस्ती-दुर्ग एक विदेशी के अधिकार में क्यों चला जाय ? मगध कोशल का चिर शत्रु ! ओह, उसकी विजय ! कोशल-नरेश ने क्या कहा था—'सिंहमित्र की कन्या ।' सिंहमित्र कोशल का रक्षक वीर, उसी की कन्या आज क्या करने जा रही है ? नहीं, नहीं । 'मधूलिका !' 'मधूलिका !' जैसे उसके पिता उस अंधकार में पुकार रहे थे । वह पगली की तरह चिल्ला उठी । रास्ता भूल गइ ।

रात एक पहर बीत चली, पर मधूलिका अपनी झोपड़ी तक न पहुँची । वह उधेड़-बुन में विक्षिप्त सी चली जा रही थी । उसकी आँखों के सामने कभी सिंहमित्र और कभी अरुण की मूर्ति अंधकार में चित्रित हो जाती । उसे सामने आलोक दिखाई पड़ा । वह बीच पथ में खड़ी हो गई । प्रायः एक सौ उल्काधारी अश्वारोही चले आ रहे थे और आगे-आगे एक वीर अधेड़ सैनिक था । उसके बाएँ हाथ में अश्व की वल्गा और दाहिने हाथ में नग्न खड्ग । अत्यंत धीरता से वह टुकड़ी अपने पथ पर चल रही थी । परन्तु मधूलिका बीच पथ से हिली नहीं । प्रमुख सैनिक पास आ गया, पर मधूलिका अब भी नहीं हटी । सैनिक ने अश्व रोककर कहा—"कौन ?" कोई उत्तर नहीं मिला । तब तक दूसरे अश्वारोही ने कड़क कर कहा—"तू कौन है स्त्री ? कोशल के सेनापति को उत्तर शीघ्र दे ।"

रमणी जैसे विकारग्रस्त स्वर में चिल्ला उठी—"बाँध लो मुझे, बाँध लो ! मेरी हत्या करो । मैंने अपराध ही ऐसा किया है ।"

सेनापति हँस पड़े और बोले—"पगली है ।"

"पगली ! नहीं यदि वही होती तो इतनी विचार-वेदना क्यों होती ? सेनापति ! मुझे बाँध लो । राजा के पास ले चलो ।"

"क्या है ? स्पष्ट कह !"

"श्रावस्ती का दुर्ग एक प्रहर में दस्युओं के हस्तगत हो जायगा ।

दक्षिणी नाले के पार उनका आक्रमण होगा।"

सेनापति चौंक उठे। उन्होंने आश्चर्य से पूछा—"तू क्या कह रही है ?"

"मैं सत्य कह रही हूँ; शीघ्रता करो।"

सेनापति ने अस्सी सैनिकों को नाले की ओर धीरे-धीरे बढ़ने की आज्ञा दी और स्वयं बीस अश्वारोहियों के साथ दुर्ग की ओर बढ़े। मधूलिका एक अश्वारोही के साथ बाँध दी गई।

❀ ❀ ❀

श्रावस्ती का दुर्ग, कोशल राष्ट्र का केन्द्र, इस रात्रि में अपने विगत वैभव का स्वप्न देख रहा था। भिन्न राजवंशों ने उसके प्रान्तों पर अधिकार जमा लिया है। अब वह कई गाँवों का अधिपति है। फिर भी उसके साथ कोशल के अतीत की स्वर्ण-गाथाएँ लिपटी हैं। वही लोगों की ईर्षा का कारण है। दुर्ग के प्रहरी चौंक उठे, जब थोड़े से अश्वारोही बड़े वेग से आते हुए दुर्ग-द्वार पर रुके। जब उल्का के आलोक में उन्होंने सेनापति को पहचाना, तब द्वार खुला। सेनापति घोड़े की पीठ से उतरे। उन्होंने कहा—"अग्निसेन! दुर्ग में कितने सैनिक होंगे ?"

सेनापति की जय हो! दो सौ"

"उन्हें शीघ्र एकत्र करो परन्तु बिना किसी शब्द के। १०० को लेकर तुम शीघ्र ही चुपचाप दुर्ग के दक्षिण की ओर चलो। आलोक और शब्द न हो।"

सेनापति ने मधूलिका की ओर देखा। वह खोल दी गई। उसे अपने पीछे आने का संकेत कर सेनापति राजमंदिर की ओर बढ़े। प्रतिहारी ने सेनापति को देखते ही महाराज को सावधान किया।

वह अपनी सुख-निद्रा के लिए प्रस्तुत हो रहे थे। किन्तु सेनापति और साथ में मधूलिका को देखते ही चंचल हो उठे। सेनापति ने कहा—"जय हो देव! इस स्त्री के कारण मुझे इस समय उपस्थित होना पड़ा है।"

महाराज ने स्थिर नेत्रों से देखकर कहा—"सिंहमित्र की कन्या, फिर यहाँ क्यों?—क्या तुम्हारा क्षेत्र नहीं बन रहा है? कोई बाधा? सेनापति! मैंने दुर्ग के दक्षिणी नाले के समीप की भूमि इसे दी है। क्या उसी सम्बन्ध में तुम कहना चाहते हो?"

"देव! किसी गुप्त शत्रु ने उसी ओर से आज की रात में दुर्ग पर अधिकार कर लेने का प्रबंध किया है। और इसी स्त्री ने मुझे पथ में यह संदेशा दिया है।"

राजा ने मधूलिका की ओर देखा। वह काँप उठी। घृणा और लज्जा से वह गड़ी जा रही थी। राजा ने पूछा—"मधूलिका, यह सत्य है?"

"हाँ देव!"

राजा ने सेनापति से कहा—"सैनिकों को एकत्र करके तुम चलो, मैं अभी आता हूँ।" सेनापति के चले जाने पर राजा ने कहा—"सिंहमित्र की कन्या! तुमने एक बार फिर कोशल का उपकार किया। यह सूचना देकर तुमने पुरस्कार का काम किया है। अच्छा, तुम यहीं ठहरो। पहले उन आततायियों का प्रबंध कर लूँ।"

❀ ❀ ❀

अपने साहसिक अभियान में अरुण बंदी हुआ और दुर्ग उल्का के आलोक में अतिरंजित हो गया। भीड़ ने जय-घोष किया।

सबके मन में उल्लास था। श्रावस्ती दुर्ग आज एक दस्यु के हाथ में जाने से बचा। आबाल-वृद्ध-नारी आनन्द से उन्मत्त हो उठे।

उषा के आलोक में सभा-मंडप दर्शकों से भर गया। बंदी अरुण को देखते ही जनता ने रोष से हुंकार की—"वध करो!" राजा ने सहमत होकर कहा—"प्राणदंड।" मधूलिका बुलाइ गई। वह पगली-सी आकर खड़ी हो गई। कोशल-नरेश ने पूछा—"मधूलिका तुझे जो पुरस्कार लेना हो, माँग।" वह चुप रही।

राजा ने कहा—"मेरे निज की जितनी खेती है, मैं सब तुझे देता हूँ।" मधूलिका ने एक बार वंदी अरुण की ओर देखा। उसने कहा—"मुझे कुछ न चाहिए।" अरुण हँस पड़ा। राजा ने कहा—"नहीं, मैं तुझे अवश्य दूँगा। माँग ले।"

"तो मुझे भी प्राण दंड मिले।" कहती हुई वह वंदी अरुण के पास जा खड़ी हुई।

—— ——

पाठ ११

दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी

[श्री चतुरसेन शास्त्री]

[यद्यपि श्री चतुरसेन शास्त्री (जन्म १८८८ ई०) को आयुर्वेद को आजीविका का साधन बनाना पड़ा किन्तु आपकी अभिरुचि प्रारम्भ से ही साहित्य की ओर रही है। अपने उपन्यासों तथा कहानियों ही के लिए शास्त्रीजी ने बौद्धकालीन तथा मुग़लकालीन विषयों को प्रायः लिया है, जिनका चित्रण हिन्दी कथा साहित्य में कम हुआ है। इन कालों का आपने इतना सजीव वर्णन किया है कि आँखों के सामने चित्र सा खिंच जाता है, और कथा के पात्र साकार हो उठते हैं। इधर आपने कुछ मनोवैज्ञानिक कहानियाँ भी लिखी हैं। आपके प्रमुख कहानी संग्रह 'अक्षत' और 'रजकण' हैं।

प्रस्तुत कहानी में लेखक ने मुग़लकालीन शाही हरम का चित्रण किया है। कथानक के औत्सुक्यपूर्ण उत्तरोत्तर विकास में लेखक की कला व्यक्त होती है। कथा के वातावरण कथोपकथन की शैली, तथा उर्दू के समावेश से मुगलकालीन जीवन जीते जागते रूप में सामने आ जाता है। शीर्षक स्वरूप दी गई ग्राम्यगीत की प्रसिद्ध कड़ी से कहानी में मार्मिकता आ गई है।]

गर्मी के दिन थे। बादशाह ने उसी फागुन में सलीमा से नई शादी की थी। सल्तनत के सब झंझटों से दूर रहकर नई दुलहिन के साथ प्रेम और आनन्द की कलोल करने, वह सलीमा को लेकर काश्मीर के दौलतख़ाने में चले आये थे।

रात दूध में नहा रही थी। दूर के पहाड़ों की चोटियाँ बर्फ़ से सफ़ेद होकर चाँदनी में बहार दिखा रही थीं। आरामबाग़ के महलों के नीचे पहाड़ी नदी बल खाकर बह रही थी।

मोती महल के एक कमरे में शमादान जल रहा था, और उसकी खुली खिड़की के पास बैठी सलीमा रात का सौन्दर्य निहार रही थी। खुले हुए बाल उसकी फ़ीरोज़ी रंग की ओढ़नी पर खेल रहे थे। चिकन के काम से सजी और मोतियों से गुथी हुई उस फ़ीरोज़ी रंग की ओढ़नी पर, कसी हुई कमख़ाब की कुरती और पन्नों की कमरपेटी पर, अंगूर के बराबर बड़े मोतियों की माला झूम रही थी। सलीमा का रंग भी मोती के समान था। उसकी देह की गठन निराली थी। संगमर्मर के समान पैरों में ज़री के काम के जूते पड़े थे, जिन पर दो हीरे धक्-धक् चमक रहे थे।

कमरे में एक क़ीमती ईरानी क़ालीन का फ़र्श बिछा हुआ था, जो पैर रखते ही हाथ-भर नीचे धँस जाता था। सुगंधित मसालों से बने हुए शमादान जल रहे थे। कमरे में चार पूरे क़द के आईने लगे थे। संगमर्मर के आधारों पर सोने-चाँदी के फूलदानों में, ताज़े फूलों के गुलदस्ते रक्खे थे। दीवारों और दरवाज़ों पर चतुराई से गूँथी हुई नागकेशर और चम्पे की मालायें झूल रही थीं, जिनकी सुगन्ध से कमरा महक रहा था। कमरे में अनगिनत बहुमूल्य कारीगरी की देश-विदेश की वस्तुएँ क़रीने से सजी हुई थीं।

बादशाह दो दिन से शिकार को गये थे। आज इतनी रात हो गई, अभी तक नहीं आए। सलीमा चाँदनी में दूर तक आँखें बिछाये सवारों की गर्द देखती रही। आख़िर उससे स्थिर न रहा गया। वह खिड़की से उठकर, अनमनी-सी होकर मसनद पर आ बैठी। उम्र और चिन्ता की गर्मी जब उससे सहन न हुई, तब उसने

अपनी चिकन की ओढ़नी भी उतार फेंकी, और आप ही आप झुँझलाकर बोलीं—"कुछ भी अच्छा नहीं लगता। अब क्या करूँ?" इसके बाद उसने पास रक्खी बीन उठा ली। दो-चार उँगली चलाईं, मगर स्वर न मिला। उसने भुनभुना कर कहा—"मर्दों की तरह यह भी मेरे बस में नहीं है।" सलीमा ने उकताकर उसे रखकर दस्तक दी। एक बाँदी दस्तबस्ता हाज़िर हुई।

बाँदी अत्यन्त सुन्दरी और कमसिन थी। उसके सौंदर्य में एक गहरे विषाद की रेखा और नेत्रों में नैराश्य की स्याही थी। उसे पास बैठने का हुक्म देकर सलीमा ने कहा—"साक़ी, तुझे बीन अच्छी लगती है या बाँसुरी?"

बाँदी ने नम्रता से कहा—"हुज़ूर जिसमें ख़ुश हों।"

सलीमा ने कहा—"पर तू किसमें ख़ुश है?"

बाँदी ने कम्पित स्वर में कहा—"सरकार! बाँदियों की ख़ुशी ही क्या?"

क्षण-भर सलीमा ने बाँदी के मुँह की तरफ देखा—वैसा ही विषाद, निराशा और व्याकुलता का मिश्रण हो रहा था।

सलीमा ने कहा—"मैं क्या तुझे बाँदी की नज़र से देखती हूँ?"

"नहीं, हज़रत की तो लौंडी पर ख़ास मेहरबानी है।"

"तब तू इतनी उदास, झिझकी हुई और एकान्त में क्यों रहती है? जब से तू नौकर हुई है, ऐसी ही देखती हूँ! अपनी तकलीफ़ मुझसे तो कह प्यारी साक़ी!"

इतना कहकर सलीमा ने उसके पास खिसक कर उसका हाथ पकड़ लिया।

बाँदी काँप गई पर बोली नहीं।

सलीमा ने कहा—"क़समिया! तू अपना दर्द मुझसे कह, तू इतनी उदास क्यों रहती है?"

बाँदी ने कम्पित स्वर से कहा—"हुज़ूर क्यों इतनी उदास रहती हैं?"

सलीमा ने कहा—"इधर जहाँपनाह कुछ कम आने लगे हैं। इसीसे तबीयत ज़रा उदास रहती है।"

बाँदी—"सरकार! प्यारी चीज़ न मिलने से इन्सान को उदासी आ ही जाती है, अमीर और ग़रीब, सभी का दिल तो दिल ही है।"

सलीमा हँसी। उसने कहा—"समझी; अब तू किसी को चाहती है? मुझे उसका नाम बता मैं उसके साथ तेरी शादी करा दूँगी।

साक़ी का सिर घूम गया। एकाएक उसने बेगम की आँखों से आँख मिलाकर कहा—"मैं आपको चाहती हूँ।"

सलीमा हँसते-हँसते लोट गई। उस मदमाती हँसी के वेग में उसने बाँदी का कम्पन नहीं देखा। बाँदी ने वंशी लेकर कहा—"क्या सुनाऊँ?"

बेगम ने कहा—"ठहर, कमरा बहुत गर्म मालूम देता है। इसके तमाम दरवाज़े और खिड़कियाँ खोल दे। चिराग़ों को बुझा दे, चटखती चाँदनी का लुत्फ़ उठाने दे, और वे फूल-मालाएँ मेरे पास रखदे।"

बाँदी उठी। सलीमा बोली—"सुन, पहले एक ग्लास शरबत दे, बहुत प्यासी हूँ।"

बाँदी ने सोने के ग्लास में खुशबूदार शरबत बेगम के सामने ला धरा। बेगम ने कहा—"ऊफ़्, यह तो बहुत गर्म है। क्या इसमें गुलाब नहीं दिया?"

बाँदी ने नम्रता से कहा—"दिया तो है सरकार!"

"अच्छा, इसमें थोड़ा-सा इस्तम्बोल और मिला।"

साक़ी ग्लास लेकर दूसरे कमरे में चली गई। इस्तम्बोल मिलाया,

और भी एक चीज़ मिलाई। फिर वह सुवासित मदिरा का पात्र बेगम के सामने ला धरा।

एक ही साँस में उसे पीकर बेगम ने कहा—"अच्छा, अब सुना। तूने कहा था कि तू मुझे प्यार करती है; सुना, कोई प्यार का गाना सुना।"

इतना कह और ग्लास को ग़लीचे पर लुढ़का कर मदमाती सलीमा उस कोमल मख़मली मसनद पर ख़ुद ही लुढ़क गई, और रसभरे नेत्रों से साक़ी की ओर देखने लगी। साक़ी ने वंशी का सुर मिलाकर गाना शुरू किया—

"दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी...."

बहुत देर तक साक़ी की वंशी और कंठ-ध्वनि कमरे में घूम-घूमकर रोती रही। धीरे-धीरे साक़ी खुद रोने लगी। सलीमा मदिरा और यौवन के नशे में होकर झूमने लगी।

गीत ख़तम करके साक़ी ने देखा, सलीमा बेसुध पड़ी है। शराब की तेजी से उसके गाल एकदम सुर्ख़ हो गए हैं, और ताम्बूल-राग-रंजित होंठ रह-रहकर फड़क रहे हैं। साँस की सुगंध से कमरा महक रहा है। जैसे मंद पवन से कोमल पत्ती काँपने लगती है, उसी प्रकार सलीमा का वक्षःस्थल धीरे-धीरे काँप रहा है। प्रस्वेद की बूँदें ललाट पर दीपक के उज्ज्वल प्रकाश में, मोतियों की तरह चमक रही हैं।

वंशी रखकर साक़ी क्षण भर बेगम के पास आकर खड़ी हुई। उसका शरीर काँपा, आँखें जलने लगीं, कंठ सूख गया। वह घुटने के बल बैठकर बहुत धीरे-धीरे अपने आँचल से बेगम के मुख का पसीना पोंछने लगी। इसके बाद झुककर बेगम का मुँह चूम लिया।

इसके बाद ज्योंही उसने अचानक आँख उठाकर देखा, खुद

दीन-दुनिया के मालिक शाहजहाँ खड़े उसकी यह करतूत अचरज और क्रोध से देख रहे हैं।

साक़ी को साँप डस गया। वह हत-बुद्धि की तरह बादशाह का मुँह ताकने लगी। बादशाह ने कहा—"तू कौन है? और यह क्या कर रही थी?"

साक़ी चुप खड़ी रही। बादशाह ने कहा—"जवाब दे!"

साक़ी ने धीमे स्वर में कहा—"जहाँपनाह! कनीज़ अगर कुछ जवाब न दे, तो?"

बादशाह सन्नाटे में आ गए। बाँदी की इतनी स्पर्द्धा!

उन्होंने कहा—"मेरी बात का जवाब नहीं? अच्छा तुझे नंगी करके कोड़े लगाए जायँगे!"

साक़ी ने कम्पित स्वर में कहा—"मैं मर्द हूँ!"

बादशाह की आँखों में सरसों फूल उठी, उन्होंने अग्निमय नेत्रों से सलीमा की ओर देखा। वह बेसुध पड़ी सो रही थी। उसी तरह उसका भरा यौवन खुला पड़ा था। उनके मुँह से निकला—"उफ् फ़ाहशा!" और तत्काल उनका हाथ तलवार की मूठ पर गया। फिर नीचे को उन्होंने घूम कर कहा—"दोज़ख के कुत्ते! तेरी यह मजाल!"

फिर कठोर स्वर से पुकारा—"मादूम!"

क्षण-भर में एक भयङ्कर रूप वाली तातारी औरत बादशाह के सामने अदब से आ खड़ी हुई। बादशाह ने हुक्म दिया—"इस मर्दूद को तहख़ाने में डाल दे, ताकि बिना खाए-पिए मर जाय।"

मादूम ने अपने कर्कश हाथों में युवक का हाथ पकड़ा और ले चली। थोड़ी देर में दोनों एक लोहे के मज़बूत दरवाज़े के पास आ

खड़े हुए। तातारी बाँदी ने चावी निकाल कर दरवाज़ा खोला, और क़ैदी को भीतर ढकेल दिया। कोठरी की गच क़ैदी का बोझ ऊपर पड़ते ही काँपती हुई नीचे को धसकने लगी।

२

प्रभात हुआ। सलीमा की बेहोशी दूर हुई। चौंक कर उठ बैठी। बाल सँवारे, ओढ़नी ठीक की, और चोली के बटन कसने को आईने के सामने जा खड़ी हुई। खिड़कियाँ बन्द थीं। सलीमा ने पुकारा—"साक़ी! प्यारी साक़ी! बड़ी गर्मी है, ज़रा खिड़की तो खोल दे। निगोड़ी नींद ने तो आज ग़जब ढा दिया। शराब कुछ तेज़ थी।"

किसी ने सलीमा की बात न सुनी। सलीमा ने ज़रा ज़ोर से पुकारा—"साक़ी!"

जवाब न पाकर सलीमा हैरान हुई। वह खुद खिड़की खोलने लगी। मगर खिड़कियाँ बाहर से बन्द थीं। सलीमा ने विस्मय से मन-ही-मन कहा—"बात क्या है? लौंडियाँ सब क्या हुईं?"

वह द्वार की तरफ़ चली। देखा, एक तातारी बाँदी नंगी तलवार लिए पहरे पर मुस्तैद खड़ी है। बेगम को देखते ही उसने सिर झुका लिया।

सलीमा ने क्रोध से कहा—"तुम लोग यहाँ क्यों हो?"

"बादशाह के हुक्म से।"

"क्या बादशाह आ गए?"

"जी हाँ।"

"मुझे इत्तिला क्यों नहीं की ?"

"हुक्म नहीं था।"

"बादशाह कहाँ हैं ?"

"ज़ीनतमहल के दौलतख़ाने में।"

सलीमा के मन में अभिमान हुआ। उसने कहा—"ठीक है, ख़ूबसूरती की हाट में जिनका कारबार है, वे मुहब्बत को क्या समझेंगे ? तो अब ज़ीनतमहल की क़िस्मत खुली ?"

तातारी स्त्री चुपचाप खड़ी रही। सलीमा फिर बोली—"मेरी साक़ी कहाँ है ?"

"क़ैद में।"

"क्यों ?"

"जहाँपनाह का हुक्म।"

"उसका क़ुसूर क्या था ?"

"मैं अर्ज़ नहीं कर सकती।"

"क़ैदख़ाने की चाबी मुझे दे, मैं अभी उसे छुड़ाती हूँ।"

"आपको अपने कमरे से बाहर जाने का हुक्म नहीं है।"

"तब क्या मैं भी क़ैद हूँ ?"

"जी हाँ।"

सलीमा की आँखों में आँसू भर आए। वह लौटकर मसनद पर पड़ गई, और फूट-फूटकर रोने लगी। कुछ ठहर कर उसने एक ख़त लिखा—

"हुज़ूर मेरा क़ुसूर माफ़ फ़र्मावें। दिन-भर की थकी होने से ऐसी बेसुध सो गई कि हुज़ूर के इस्तक़बाल में हाज़िर न रह सकी। और मेरी उस प्यारी लौंडी की भी जाँ-बख़्शी की जाय। उसने हुज़ूर के दौलतख़ाने में लौट आने की इत्तिला मुझे वाजिबी तौर पर न देकर बेशक भारी क़ुसूर किया है। मगर वह नई, कमसिन, ग़रीब और दुखिया है।

कनीज़

सलीमा।"

चिट्ठी बादशाह के पास भेज दी गई। बादशाह की तबीयत बहुत ही नासाज़ थी। तमाम हिन्दुस्तान के बादशाह की औरत फ़ाहशा निकले! बादशाह अपनी आँखों से पर पुरुष को उसका मुँह चूमते देख चुके थे। वह ग़ुस्से से तलमला रहे थे, और ग़म ग़लत करने को अंधाधुंध शराब पी रहे थे। जीनतमहल मौक़ा देखकर सौतियाडाह का बुखार निकाल रही थी। तातारी बाँदी को देखकर बादशाह ने आग होकर कहा—"क्या लाई है?"

बाँदी ने दस्तबस्ता अर्ज़ की—"ख़ुदावंद! सलीमा बीबी की अर्ज़ी है।" इतना कहकर उसने सामने ख़त रख दिया।

बादशाह ने ग़ुस्से से होंठ चबाकर कहा—"उससे कह दे कि मर जाय।" इसके बाद ख़त में एक ठोकर मारकर उन्होंने उधर से मुँह फेर लिया।

बाँदी लौट आई। बादशाह का जवाब सुनकर सलीमा धरती पर बैठ गई। उसने बाँदी को बाहर जाने का हुक्म दिया और दरवाज़ा बन्द करके फूट-फूटकर रोई। घंटों बीत गए, दिन छिपने लगा। सलीमा ने कहा—"हाय! बादशाहों की बेगम होना भी क्या बद-नसीबी है! इन्तज़ारी करते-करते आँख फूट जाँय, मिन्नतें करते-करते

ज़बान घिस जाय, अदब करते-करते जिस्म टुकड़े-टुकड़े हो जाय, फिर भी इतनी सी बात पर कि मैं ज़रा सो गई, उनके आने पर जाग न सकी, इतनी सज़ा ? इतनी बेइज़्ज़ती ?"

"तब मैं बेगम क्या हुई ? ज़ीनत और बाँदियाँ सुनेंगी तो क्या कहेंगी ? इस बेइज्जती के बाद मुँह दिखाने लायक़ कहाँ रही ? अब तो मरना ही ठीक है। अफ़सोस मैं किसी ग़रीब किसान की औरत क्यों न हुई !"

धीरे-धीरे स्त्रीत्व का तेज उसकी आत्मा में उदय हुआ। गर्व और दृढ़ प्रतिज्ञा के चिह्न उसके नेत्रों में छा गए। वह साँपिन की तरह चपेट खाकर उठ खड़ी हुई। उसने एक और ख़त लिखा—

"दुनिया के मालिक ! आपकी बीवी और कनीज़ होने की वजह से, मैं आपके हुक्म को मानकर मरती हूँ। इतनी बेइज़्ज़ती पाकर एक मलिका का मरना ही मुनासिब है। मगर इतने बड़े बादशाह को औरतों को इस क़दर नाचीज़ तो न समझना चाहिए कि एक अदना-सी बेवकूफ़ी की इतनी बड़ी सज़ा दी जाय। मेरा क़ुसूर सिर्फ़ इतना ही था कि मैं बेख़बर सो गई थी। ख़ैर, फिर एक बार हुज़ूर को देखने की ख़्वाहिश लेकर मरती हूँ। मैं उस पाक परवरदिगार के पास जाकर अर्ज़ करूँगी कि वह मेरे शौहर को सलामत रक्खे।

सलीमा"

ख़त को इत्र से सुवासित करके ताज़े फूलों के एक गुलदस्ते में इस तरह रख दिया कि जिससे किसी की उस पर फ़ौरन ही नज़र पड़ जाय। इसके बाद उसने जवाहरात की पेटी से एक बहुमूल्य अँगूठी निकाली, और कुछ देर तक आँख गड़ा-गड़ाकर उसे देखती रही। फिर उसे चाट गई।

३

बादशाह शाम की हवाख़ोरी को नज़र-बाग़ में टहल रहे थे। दो-तीन खोजे घबराए हुए आए, और चिट्ठी पेश करके अर्ज़ की—"हुज़ूर, ग़ज़ब हो गया! सलीमा बीबी ने ज़हर खा लिया है, और वह मर रही हैं।"

क्षण-भर में बादशाह ने ख़त पढ़ लिया। झपटे हुए सलीमा के महल में पहुँचे। प्यारी दुलहिन सलीमा ज़मीन में पड़ी है। आँखें ललाट पर चढ़ गई हैं। रंग कोयले के समान हो गया है। बादशाह से रहा न गया। उन्होंने घबरा कर कहा—"हकीम, हकीम को बुलाओ!" कई आदमी दौड़े।

बादशाह का शब्द सुनकर सलीमा ने उनकी तरफ़ देखा, और धीमे स्वर में कहा—"ज़हे क़िस्मत।"

बादशाह ने नज़दीक बैठकर कहा—"सलीमा, बादशाह की बेगम होकर क्या तुम्हें यही लाज़िम था?"

सलीमा ने कष्ट से कहा—"हुज़ूर मेरा क़ुसूर बहुत मामूली था।"

बादशाह ने कड़े स्वर में कहा—"बदनसीब! शाही ज़नानख़ाने में मर्द को वेष बदलकर रखना मामूली क़ुसूर समझती है? कानों पर यक़ीन कभी न करता, मगर आँखों देखी को भी झूठ मान लूँ!"

जैसे हज़ारों बिच्छुओं के एक साथ डंक मारने से आदमी तड़फता है, उसी तरह तड़फकर सलीमा ने कहा—"क्या?"

बादशाह डरकर पीछे हट गए। उन्होंने कहा—"सच कहो, इस वक्त तुम ख़ुदा की राह पर हो, यह जवान कौन था?"

सलीमा ने अकचका कर पूछा—"कौन जवान?"

बादशाह ने गुस्से से कहा—"जिसे तुमने साक़ी बनाकर पास रक्खा था।"

सलीमा ने घबराकर कहा—"हैं! क्या वह मर्द है?"

बादशाह—"तो क्या तुम सचमुच यह बात नहीं जानतीं?"

सलीमा के मुँह से निकला—"या ख़ुदा?"

फिर उसके नेत्रों से आँसू बहने लगे। वह सब मामला समझ गई। कुछ देर बाद बोली—"ख़ाविन्द! तब तो कुछ शिकायत ही नहीं, इस क़ुसूर की तो यही सज़ा मुनासिब थी। मेरी बदगुमानी माफ़ फ़र्माई जाय। मैं अल्लाह के नाम पर पड़ी कहती हूँ, मुझे इस बात का कुछ भी पता नहीं है।"

बादशाह का गला भर आया। उन्होंने कहा—"तो प्यारी सलीमा! तुम बेक़ुसूर ही चलीं?" बादशाह रोने लगे।

सलीमा ने उनका हाथ पकड़कर अपनी छाती पर रखकर कहा—"मालिक मेरे! जिसकी उम्मीद न थी, मरते वक्त वह मज़ा मिल गया। कहा-सुना माफ़ हो, और एक अर्ज़ लौंडी की मंजूर हो।"

बादशाह ने कहा—"जल्दी कहो सलीमा!"

सलीमा ने साहस से कहा—"उस जवान को माफ़ कर देना।"

इसके बाद सलीमा की आँखों से आँसू बह चले, और थोड़ी देर में वह ठंडी हो गई!

बादशाह ने घुटनों के बल बैठकर उसका ललाट चूमा, और फिर बालक की तरह रोने लगे।

४

ग़जब अँधेरे और सर्दी में युवक भूखा-प्यासा पड़ा था। एकाएक घोर चीत्कार करके किवाड़े खुले। प्रकाश के साथ ही एक गम्भीर शब्द तहख़ाने में भर गया—'बदनसीब नौजवान! क्या होश हवाश में है?"

युवक ने तीव्र स्वर में पूछा—"कौन?"

जवाब मिला—"बादशाह।"

युवक ने कुछ भी अदब किये बिना कहा—"यह जगह बादशाहों के लायक़ नहीं है—क्यों तशरीफ़ लाए हैं?"

"तुम्हारी कैफ़ियत नहीं सुनी थी, उसे सुनने आया हूँ।"

कुछ देर चुप रहकर युवक ने कहा—"सिर्फ़ सलीमा को झूठी बदनामी से बचाने के लिए कैफ़ियत देता हूँ, सुनिए—सलीमा जब बच्ची थी, मैं उसके बाप का नौकर था। तभी से मैं उसे प्यार करता था। सलीमा भी प्यार करती थी, पर वह बचपन का प्यार था। उम्र होने पर सलीमा परदे में रहने लगी, और फिर वह शाहंशाह की बेगम हुई। मगर मैं उसे भूल न सका। पाँच साल तक पागल की तरह भटकता रहा अंत में वेष बदल कर बाँदी की नौकरी कर ली। सिर्फ़ उसे देखते रहने और ख़िदमत करके दिन गुजार देने का इरादा था। उस दिन उज्ज्वल चाँदनी, सुगंधित पुष्प-राशि, शराब की उत्तेजना और एकांत ने मुझे बेबस कर दिया। उसके बाद मैंने आँचल से उसके मुँह का पसीना पोंछा, और मुँह चूम लिया। मैं इतना ही ख़तावार हूँ। सलीमा इसकी बाबत कुछ नहीं जानती।"

बादशाह कुछ देर चुप-चाप खड़े रहे। इसके बाद वह दरवाज़ा बन्द किए बिना ही धीरे-धीरे चले गए।

५

सलीमा की मृत्यु को दस दिन बीत गये। बादशाह सलीमा के कमरे में ही रात-दिन रहते हैं। सामने नदी के उस पार, पेड़ों के झुरमुट में सलीमा की सफ़ेद क़ब्र बनी है। जिस खिड़की के पास सलीमा बैठी उस दिन रात को बादशाह की प्रतीक्षा कर रही थी, उसी खिड़की में, उसी चौकी पर बैठे हुए बादशाह उसी तरह सलीमा की क़ब्र दिन-रात देखा करते हैं। किसी को पास आने का हुक्म नहीं। जब आधी रात हो जाती है, तो उस गंभीर रात्रि के सन्नाटे में एक मर्म-भेदिनी गीत-ध्वनि उठ खड़ी होती है। बादशाह साफ़-साफ़ सुनते हैं, कोई करुण-कोमल स्वर में गा रहा है—

"दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी !"

पाठ ५

मुग़लों ने सल्तनत बख्श दी

[श्री भगवतीचरण वर्मा]

[श्री भगवतीचरण वर्मा (जन्म १९०३ ई०) ने प्रयाग विश्वविद्यालय से बी. ए. तथा एल-एल. बी. की परीक्षायें पास की थीं। विद्यार्थी जीवन से ही आपने हिन्दी में लिखना आरम्भ कर दिया था। प्रायः अनेक पत्रों के संपादक रहे हैं और आपने बम्बई में हिन्दी फ़िल्मों में सीनरियों लेखन का कार्य भी कई वर्षों तक किया। आजकल आप ऑलइंडिया रेडियो के साहित्यिक सलाहकार के पद पर प्रायः लखनऊ में काम कर रहे हैं। वर्माजी की शैली अत्यन्त सजीव, आकर्षक तथा प्रवाहमयी है। वे हिन्दी के एक सफल कवि, उपन्यासकार तथा कहानी लेखक हैं। आपके निम्नलिखित उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं—'तीन वर्ष', 'चित्रलेखा' और 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' इनमें से 'चित्रलेखा' की फिल्म भी बनी है। आपकी दो कहानी संग्रह 'इन्स्टलमेण्ट', तथा 'दो बाँके' प्रकाशित हुए हैं।

प्रस्तुत कहानी व्यङ्गात्मक शैली का एक उत्कृष्ट उदाहरण है जिसमें जर्जर मुग़ल साम्राज्य तथा अंग्रेज़ी कूटनीति का सुन्दर साहित्यिक चित्रण मिलता है।]

हीरोजी को आप नहीं जानते, और यह दुर्भाग्य की बात है। इसका यह अर्थ नहीं कि केवल आपका दुर्भाग्य है, दुर्भाग्य हीरोजी का भी है। कारण, वह बड़ा सीधा-सादा है। यदि आपका हीरोजी से परिचय हो जाय तो आप निश्चय समझ लें कि आपका संसार

के एक बहुत बड़े विद्वान् से परिचय हो गया। हीरोजी को जानने वालों में अधिकांश का मत है कि हीरोजी पहले जन्म में विक्रमादित्य के नवरत्नों में एक अवश्य रहे होंगे और अपने किसी पाप के कारण उनको इस जन्म में हीरोजी की योनि प्राप्त हुई। अगर हीरोजी का आपसे परिचय हो जाय तो आप यह समझ लीजिए कि उन्हें एक मनुष्य अधिक मिल गया, जो उन्हें अपने शौक़ में प्रसन्नतापूर्वक एक हिस्सा दे सके।

हीरोजी ने दुनिया देखी है। यहाँ यह जान लेना ठीक होगा कि हीरोजी की दुनिया मौज और मस्ती की ही बनी है। शराबियों के साथ बैठकर उन्होंने शराब पीने की बाज़ी लगाई है और हरदम जीते हैं। अफ़ीम के आदी नहीं हैं, पर अगर मिल जाय तो इतनी खा लेते हैं, जितने से एक ख़ानदान का ख़ानदान स्वर्ग की या नरक की यात्रा कर सके। भंग पीते हैं तब तक, जब तक उनका पेट न भर जाय। चरस और गाँजे के लोभ में तो साधू बनते-बनते बच गये। एक बार एक आदमी ने उन्हें संखिया खिला दी थी, इस आशा से कि संसार एक पापी के भार से मुक्त हो जाय। पर दूसरे ही दिन हीरोजी उसके यहाँ पहुँचे। हँसते हुए उन्होंने कहा—"यार कल का नशा नशा था। राम दुहाई, अगर आज भी वह नशा करवा देते तो तुम्हें आशीर्वाद देता।" लेकिन उस आदमी के पास संखिया मौजूद न थी।

हीरोजी के दर्शन प्रायः चाय की दुकान पर ही हुआ करते हैं। जो पहुँचता है, वह हीरोजी को एक प्याला चाय का अवश्य पिलाता है। उस दिन जब हम लोग चाय पीने पहुँचे तो हीरोजी एक कोने में आँखें बन्द किए हुए बैठे कुछ सोच रहे थे। हम लोगों में बातें शुरू हो गईं और हरिजन आन्दोलन से घूमते-फिरते बात आ

पहुँची दानवराज बलि पर। पंडित गोवर्द्धन शास्त्री ने आमलेट का टुकड़ा मुँह में डालते हुए कहा—"भाई, यह तो कलियुग है। न किसी में दीन है न ईमान। कौड़ी-कौड़ी पर लोग बेइमानी करने लग गये हैं। अरे अब तो लिखकर भी लोग मुकर जाते हैं। एक युग था, जब दानव तक अपना वचन निभाते थे, सुरों और नरों की तो बात ही छोड़ दीजिए। दानवराज बलि ने वचनबद्ध होकर सारी पृथ्वी दान कर दी थी। पृथ्वी ही काहे को, स्वयं अपने को भी दान कर दिया था।"

हीरोजी चौंक उठे। खाँसकर उन्होंने कहा—"क्या बात है? ज़रा फिर से तो कहना!"

सब लोग हीरोजी की ओर घूम पड़े। कोई नई बात सुनने को मिलेगी, इस आशा से मनोहर ने शास्त्रीजी के शब्दों को दुहराने का कष्ट उठाया—"हीरोजी! ये गोवर्द्धन शास्त्री जो हैं, सो कह रहे हैं कि कलियुग में धर्म-कर्म सब लोप हो गया। त्रेता में तो दैत्यराज बलि तक ने अपना सब कुछ वचनबद्ध होकर दान कर दिया था।"

हीरोजी हँस पड़े—"हाँ, तो यह गोवर्द्धन शास्त्री कहनेवाले हुए और तुम लोग सुनने वाले, ठीक ही है। लेकिन हमसे सुनो, यह तो कह रहे हैं त्रेता की बात, अरे तब तो अकेले बलि ने ऐसा कर दिया था, लेकिन मैं कहता हूँ कलियुग की बात। कलियुग में तो एक आदमी की कही हुई बात को उसकी सात-आठ पीढ़ी तक निभती गई और यद्यपि वह पीढ़ी स्वयं नष्ट हो गई, लेकिन उसने अपना वचन नहीं तोड़ा।"

हम लोग आश्चर्य में आ गए। हीरोजी की बात समझ में नहीं आई, पूछना पड़ा—"हीरोजी, कलियुग में किसने इस प्रकार अपने वचनों का पालन किया?"

"लौंडे हो न" ! हीरोजी ने मुँह बनाते हुए कहा—"जानते हो मुग़लों की सल्तनत कैसे गई ?"

"हाँ ! अँगरेज़ों ने उनसे छीन ली।"

"तभी तो कहता हूँ कि तुम सब लौंडे हो। स्कूली किताबों को रट-रट कर बन गए पढ़े-लिखे आदमी। अरे मुग़लों ने अपनी सल्तनत अंगरेज़ों को बख़्श दी।"

हीरोजी ने यह कौनसा नया इतिहास बनाया ? आँखें कुछ अधिक खुल गईं। कान खड़े हो गए। मैंने कहा—"सो कैसे ?"

"अच्छा तो फिर सुनो !" हीरोजी ने आरम्भ किया—

"जानते हो, शाहंशाह शाहजहाँ की लड़की शाहज़ादी रौशन-आरा एक दफ़े बीमार पड़ी थी, और उसे अँगरेज़ डाक्टर ने अच्छा किया था। उस डाक्टर को शाहंशाह शाहजहाँ ने हिन्दुस्तान में तिज़ारत करने के लिए कलकत्ते में कोठी बनाने की इजाज़त दे दी थी।"

"हाँ, यह तो हम लोगों ने पढ़ा है।"

"लेकिन असल बात यह है कि शाहज़ादी रौशनआरा एक दफ़े जल गई। अधिक नहीं जली थी। अरे हाथ में थोड़ा सा जल गई थी, लेकिन जल तो गई थी और थी शाहज़ादी। बड़े-बड़े हकीम और वैद्य बुलाए गए। इलाज किया गया। लेकिन शाहज़ादी को कोई अच्छा न कर सका—न कर सका। और शाहज़ादी को भला अच्छा कौन कर सकता था ? वह शाहज़ादी थी न ! सब लोग लगाते थे लेप, और लेप लगाने से होती थी जलन, और तुरंत शाहज़ादी ने धुलवा डाला उस लेप को। भला शाहज़ादी को रोकने वाला कौन था ! अब शाहंशाह सलामत को फ़िक्र हुई। लेकिन शाह-ज़ादी अच्छी हो तो कैसे ? वहाँ तो दवा असर करने ही न पाती थी।

"उन्हीं दिनों एक अँगरेज़ घूमता-घामता दिल्ली आया। दुनिया देखे हुए, घाट-घाट का पानी पिए हुए, पूरा चालाक और मक्कार। उसको शाहज़ादी की बीमारी की ख़बर लग गई। नौकरों को घूस देकर उसने पूरा हाल दरियाफ़्त किया। उसे मालूम हो गया कि शाहज़ादी जलन की वजह से दवा धुलवा डाला करती है। सीधे शाहंशाह सलामत के पास पहुँचा। कहा कि डाक्टर हूँ। शाहज़ादी का इलाज उसने अपने हाथ में ले लिया। उसने शाहज़ादी के हाथ में एक दवा लगाई। उस दवा से जलन होना तो दूर रहा, उलटे जले हुए हाथ में ठंडक पहुँची। अब भला शाहज़ादी उस दवा को क्यों धुलवाती। हाथ अच्छा हो गया। जानते हो वह दवा क्या थी?"—हम लोगों की ओर भेद भरी दृष्टि डालते हुए हीरोजी ने पूछा।

"भाई, हम दवा को क्या जानें?"—कृष्णानन्द ने कहा।

"तभी तो कहते हैं कि इतना पढ़-लिखकर भी तुम्हें तमीज़ न आई। अरे वह दवा थी वेसलीन—वही वेसलीन, जिसका आज घर-घर में प्रचार है।"

"वेसलीन! लेकिन वेसलीन तो दवा नहीं होती।"—मनोहर ने कहा।

"कौन कहता है कि वेसलीन दवा होती है। अरे उसने हाथ में लगा दी वेसलीन और घाव आप-ही-आप अच्छा हो गया। वह अँगरेज़ बन बैठा डाक्टर—और उसका नाम हो गया। शाहंशाह शाहजहाँ बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने उस फ़िरंगी डाक्टर से कहा—'माँगो।' उस फ़िरंगी ने कहा—'हुज़ूर, मैं इस दवा को हिन्दुस्तान में रायज़ करना चाहता हूँ, इसलिए हुज़ूर मुझे हिन्दुस्तान में तिज़ारत करने की इजाज़त दे दें।' बादशाह सलामत ने जब यह सुना कि

डाक्टर हिन्दुस्तान में इस दवा का प्रचार करना चाहता है तो बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—'मंजूर! और कुछ माँगो।' तब उस चालाक डाक्टर ने जानते हो क्या माँगा? उसने कहा—'हुजूर, मैं एक तम्बू तानना चाहता हूँ, जिसके नीचे इस दवा के पीपे इकट्ठे किए जावेंगे। जहाँपनाह यह फ़रमा दें कि उस तम्बू के नीचे जितनी ज़मीन आवेगी, वह जहाँपनाह ने फिरंगियों को बख़्श दी।' शाहंशाह शाहजहाँ थे सीधे-साधे आदमी, उन्होंने सोचा, तम्बू के नीचे भला कितनी जगह आवेगी। उन्होंने कह दिया—"मंजूर।"

"हाँ, तो शाहंशाह शाहजहाँ थे सीधे-सादे आदमी, छल-कपट उन्हें आता न था। और वह अँगरेज़ था दुनिया देखे हुए। सात समुद्र पार करके हिन्दुस्तान आया था न! पहुँचा विलायत, वहाँ उसने बनवाया रबड़ का एक बहुत बड़ा तम्बू और जहाज़ पर तम्बू लदवाकर चल दिया हिन्दुस्तान। कलकत्ते में उसने वह तम्बू लगवा दिया। वह तम्बू कितना ऊँचा था, इसका अंदाज़ आप नहीं लगा सकते। उस तम्बू का रंग नीला था। तो जनाब वह तम्बू लगा कलकत्ते में, और विलायत से पीपे पर पीपे लद-लदकर आने लगे। उन पीपों में वेसलीन की जगह भरा था एक-एक अँगरेज़ जवान, मय बन्दूक और तलवार के। सब पीपे तम्बू के नीचे रखवा दिए गए। जैसे-जैसे पीपे ज़मीन घेरने लगे, वैसे-वैसे तम्बू को बढ़ा-बढ़ा कर ज़मीन घेर दी गई। तम्बू तो रबड़ का था न, जितना बढ़ाया, बढ़ गया। अब जनाब तम्बू पहुँचा पलासी। तुम लोगों ने पढ़ा होगा कि पलासी का युद्ध हुआ था। अरे सब झूठ है! असल में तम्बू बढ़ते-बढ़ते पलासी पहुँचा था, और उस वक्त मुग़ल बादशाह का हरकारा दौड़ा था दिल्ली। बस यह कह दिया गया कि पलासी की लड़ाई हुई। जी हाँ, उस वक्त दिल्ली में शाहंशाह शाहजहाँ की तीसरी या चौथी पीढ़ी सल्तनत कर रही थी। हरकारा जब दिल्ली

पहुँचा, उस वक़्त बादशाह सलामत की सवारी निकल रही थी। हरकारा घबराया हुआ था। वह इन फिरंगियों की चालों से हैरान था। उसने मौका देखा न महल, वहीं सड़क पर खड़े होकर उसने चिल्लाकर कहा—'जहाँपनाह ग़ज़ब हो गया। ये बदतमीज़ फिरंगी अपना तम्बू पलासी तक खींच लाये हैं, और चूँकि कलकत्ते से पलासी तक की ज़मीन तम्बू के नीचे आ गई है, इसलिए इन फिरंगियों ने उस ज़मीन पर क़ब्ज़ा कर लिया है। जो इनको मना किया तो इन बदतमीज़ों ने शाही फ़रमान दिखा दिया।' बादशाह सलामत की सवारी रुक गई थी। उन्हें बुरा लगा। उन्होंने हरकारे से कहा—'म्याँ हरकारे, मैं कर ही क्या सकता हूँ। जहाँ तक फिरंगियों का तम्बू घिर जाय वहाँ तक की जगह उनकी हो गई, हमारे बुज़ुर्ग यह कह गए हैं।' बेचारा हरकारा अपना-सा मुँह लेकर वापस गया।

हरकारा लौटा, और इन फिरंगियों का तम्बू बढ़ा। अभी तक तो आते थे पीपों में आदमी, अब आने लगा तरह-तरह का सामान! हिन्दुस्तान का व्यापार फिरंगियों ने अपने हाथ में ले लिया। तम्बू बढ़ता ही रहा और पहुँच गया बक्सर। इधर तम्बू बढ़ा और उधर लोगों की घबराहट बढ़ी। यह जो किताबों में लिखा है कि बक्सर की लड़ाई हुई, यह ग़लत है। भाई, जब तम्बू बक्सर पहुँचा तो फिर हरकारा दौड़ा।

अब ज़रा बादशाह सलामत की बात सुनिए। वह जनाब दीवान-ख़ास में तशरीफ़ रख रहे थे। उनके सामने सैकड़ों, बल्कि हज़ारों मुसाहब बैठे थे। बादशाह सलामत हुक्का गुड़गुड़ा रहे थे—सामने एक साहब जो शायद शायर थे, कुछ गा-गाकर पढ़ रहे थे और कुछ मुसाहब गला फाड़-फाड़कर 'वाह, वाह' चिल्ला रहे थे। कुछ तीतर और बटेर लड़ा रहे थे। हरकारा जो पहुँचा तो यह सब बंद हो गया। बादशाह सलामत ने पूछा—'म्याँ हरकारे क्या हुआ—

इतने घबराए हुए क्यों हो ?' हाँफते हुए हरकारे ने कहा—'जहाँ-पनाह' इन बदज़ात फिरंगियों ने अंधेर मचा रक्खा है। वह अपना तम्बू बक्सर खींच लाए।' बादशाह सलामत को बड़ा ताज्जुब हुआ। उन्होंने अपने मुसाहबों से पूछा-'मियाँ, यह हरकारा कहता है कि फिरंगी अपना तम्बू कलकत्ते से बक्सर तक खींच लाए। यह कैसे मुमकिन है' ? इस पर एक मुसाहब ने कहा—जहाँपनाह, ये फिरंगी जादू जानते हैं, जादू !' दूसरे ने कहा—'जहाँपनाह, इन फिरंगियों ने जिन्नात पाल रखे हैं—जिन्नात सब कुछ कर सकते हैं।' बादशाह सलामत की समझ में कुछ आया नहीं। उन्होंने हरकारे से कहा—'क्यों हर-कारे, तुम बतलाओ यह तम्बू किस तरह बढ़ आया।' हरकारे ने समझाया कि तम्बू रबड़ का है। इस पर बादशाह सलामत बड़े खुश हुए। उन्होंने कहा—'ये फिरंगी भी बड़े चालाक हैं, पूरे अक़्ल के पुतले हैं।' इस पर सब मुसाहबों ने एक स्वर में कहा—'इसमें क्या शक है, जहाँपनाह बजा फ़रमाते हैं।' बादशाह सलामत मुस-कराए—'अरे भाई किसी चोबदार को भेजो, जो इन फिरंगियों के सरदार को लावे। मैं उसे ख़िलअत दूँगा।' सब मुसाहब चिल्ला उठे—'वल्लाह ! जहाँपनाह एक ही दरियादिल हैं—इस फिरंगी-सरदार को जरूर ख़िलअत देनी चाहिए।' हरकारा घबराया। वह आया था शिकायत करने, वहाँ बादशाह सलामत फिरंगी-सरदार को ख़िलअत देने पर आमादा थे। वह चिल्ला उठा—'जहाँपनाह ! इन फिरंगियों ने जहाँपनाह की सल्तनत का एक बहुत बड़ा हिस्सा अपने तम्बू के नीचे करके उस पर क़ब्ज़ा कर लिया है। जहाँपनाह, ये फिरंगी जहाँपनाह की सल्तनत छीनने पर आमादा दिखाई देते हैं।' मुसाहब चिल्ला उठे—'एँ, ऐसा ग़ज़ब।' बादशाह सलामत की मुसकराहट ग़ायब हो गई। थोड़ी देर तक सोचकर उन्होंने कहा—'मैं क्या कर सकता हूँ ? हमारे बुज़ुर्ग इन फिरंगियों को उतनी जगह दे

गए हैं, जितनी तम्बू के नीचे आ सके। भला मैं उसमें कर ही क्या सकता हूँ। हाँ, फ़िरंगी-सरदार को ख़िलअत न दूँगा'। इतना कह कर बादशाह सलामत फ़िरंगियों की चालाकी अपनी बेगमात से बतलाने के लिए हरम के अन्दर चले गए। हरकारा बेचारा चुप-चाप लौट आया।

"जनाब, उस तम्बू ने बढ़ना जारी रक्खा। एक दिन क्या देखते हैं कि विश्वनाथपुरी काशी के ऊपर वह तम्बू तन गया। अब तो लोगों में भगदड़ मच गई। उन दिनों राजा चेतसिंह बनारस की देख-भाल करते थे। उन्होंने उसी वक्त बादशाह सलामत के पास हरकारा दौड़ाया। वह दीवान-ख़ास में हाज़िर किया गया। हरकारे ने बादशाह सलामत से अर्ज़ की कि वह तम्बू बनारस पहुँच गया है और तेज़ी के साथ दिल्ली की तरफ़ आ रहा है। बादशाह सलामत चौंक उठे। उन्होंने हरकारे से कहा—'तो म्याँ हरकारे, तुम्हीं बतलाओ, क्या किया जाय?' वहाँ बैठे हुए दो-एक उमराओं ने कहा—'जहाँपनाह, एक बहुत बड़ी फ़ौज भेज कर इन फ़िरंगियों का तम्बू छोटा करवा दिया जाय और कलकत्ते भेज दिया जाय। हम लोग जाकर लड़ने को तैयार हैं। जहाँपनाह का हुक्म भर हो जाय। इस तम्बू की क्या हक़ीक़त है, एक मर्तबा आसमान को भी छोटा कर दें।' बादशाह सलामत ने कुछ सोचा, फिर उन्होंने कहा—'क्या बतलाऊँ, हमारे बुजुर्ग बादशाह शाहजहाँ इन फ़िरंगियों को तम्बू के नीचे जितनी जगह आ जाय, वह बख़्श गए हैं। बख्शीशनामा की रू से हम लोग कुछ नहीं कर सकते। आप जानते हैं, हम लोग अमीर तैमूर की औलाद हैं एक दफ़ा जो ज़बान दे दी, वह दे दी। तम्बू का छोटा कराना तो ग़ैरमुमकिन है। हाँ कोई ऐसी हिकमत निकाली जाय, जिससे ये फ़िरंगी अपना तम्बू आगे न बढ़ा सकें। इसके लिए दरबार-आम किया जाय और यह मसला वहाँ पेश हो।'

"इधर दिल्ली में तो यह बातचीत हो रही थी और उधर इन फिरंगियों का तम्बू इलाहबाद, इटावा ढँकता हुआ आगरे पहुँचा। दूसरा हरकारा दौड़ा। उसने कहा—'जहाँपनाह, वह तम्बू आगरे तक बढ़ आया है। अगर अब भी कुछ नहीं किया जाता तो ये फिरंगी दिल्ली पर भी अपना तम्बू तान कर अपना क़ब्जा कर लेंगे।' बादशाह सलामत घबराए—दरबार-आम किया गया। सब अमीर-उमराव इकट्ठा हुए। जब सब लोग इकट्ठा हो गए तो बादशाह सलामत ने कहा—'आज हमारे सामने एक अहम मसला पेश है। आप लोग जानते है कि हमारे बुजुर्ग शाहंशाह शाहजहाँ ने फिरंगियों को इतनी जमीन बख्श दी थी, जितनी उनके तम्बू के नीचे आ सके। इन्होंने अपना तम्बू कलकत्ते में लगवाया था। लेकिन वह तम्बू है रबड़ का, और धीरे-धीरे ये लोग तम्बू आगरे तक खींच लाए। हमारे बुजुर्गों से जब यह कहा गया, तब उन्होंने कुछ करना मुनासिब न समझा, क्योंकि शाहंशाह शाहजहाँ अपना क़ौल हार चुके हैं। हम लोग अमीर तैमूर की औलाद हैं और अपने क़ौल के पक्के हैं। अब आप लोग बतलाइए, क्या किया जाय।' अमीरों और मंसबदारों ने कहा—'हमें इन फिरंगियों से लड़ना चाहिए और इनको सजा देनी चाहिए। इनका तम्बू छोटा करवा कर कलकत्ते भिजवा देना चाहिए।' बादशाह सलामत ने कहा—'लेकिन हम अमीर तैमूर की औलाद हैं। हमारा क़ौल टूटता है।' इसी समय तीसरा हरकारा हाँफता हुआ बिना इत्तला कराए हुए ही दरबार में घुस आया। उसने कहा—'जहाँपनाह' वह तम्बू दिल्ली पहुँच गया। वह देखिए क़िले तक आ पहुँचा।' सब लोगों ने देखा। वास्तव में हजारों गोरे खाकी वर्दी पहने और हथियारों से लैस, बाजा बजाते हुए तम्बू को क़िले की तरफ़ खींचते हुए आ रहे थे। उस वक्त बादशाह सलामत उठ खड़े हुए। उन्होंने कहा—'हमने तै कर

लिया। हम अमीर तैमूर की औलाद हैं। हमारे बुजुर्गों ने जो कुछ कह दिया, वही होगा। उन्होंने तम्बू के नीचे की जगह फ़िरंगियों को बख़्श दी थी। अब अगर दिल्ली भी उस तम्बू के नीचे आ रही है तो आवे। मुग़ल-सल्तनत जाती है तो जाय, लेकिन दुनिया यह देख ले कि अमीर तैमूर की औलाद हमेशा अपने क़ौल की पक्की रही है।' इतना कहकर बादशाह सलामत मय अपने अमीर-उमराओं के दिल्ली के बाहर हो गए और दिल्ली पर अँगरेज़ों का क़ब्ज़ा हो गया। अब आप लोग देख सकते हैं, इस कलियुग में भी मुग़लों ने अपनी सल्तनत बख़्श दी।"

हम सब लोग थोड़ी देर तक चुप रहे। इसके बाद मैंने कहा—"हीरोजी एक प्याला चाय और पियो।"

हीरोजी बोल उठे—"इतनी अच्छी कहानी सुनाने के बाद भी एक प्याला चाय? अरे महुवे के ठर्रे का एक अद्धा तो हो जाता।"

———

पाठ ६

संसार की सबसे बड़ी कहानी

[श्री सुदर्शन]

श्री सुदर्शन (जन्म १८९६ ई०) ने बी० ए० तक शिक्षा प्राप्त की। प्रारम्भ से आपको लिखने में रुचि थी। प्रारम्भ में कुछ दिनों सुदर्शन जी ने उर्दू पत्रों का संपादन किया और उर्दू में ही लिखते भी रहे। बाद को आपने हिन्दी को अपनी अभिव्यक्ति के लिए अपनाया। यों तो सुदर्शन जी की रचनाएँ उपन्यास, कहानी, नाटक, गीत, तथा बाल-साहित्य से सम्बन्ध रखती हैं किन्तु कहानी में आपने विशेष प्रसिद्धि पाई। आपकी कहानियों में जीवन का यथार्थ चित्रण मिलता है। मानव हृदय की प्रवृत्तियों और अन्तर्द्वन्द्वों के चित्रण से सुदर्शन जी ने अपनी कहानियों को सजाया है। आपके विशिष्ट कहानी संग्रह 'तीर्थयात्रा' 'पनघट' 'सुदर्शन-सुधा' तथा 'परिवर्तन' हैं।

इस संकलन में उद्धृत सुदर्शन जी की यह भावात्मक कहानी मानव मात्र के स्वभाव और प्रवृत्तियों को चित्रित करता है और इसी कारण लेखक ने अत्यंत छोटी होते हुए भी इसे संसार की सबसे बड़ी कहानी कहा है। प्रारम्भ में मनुष्य प्रेम ओर एकता से रहता था। तब वह शक्तिशाली था, इसलिये वह बाह्य शक्तियों और अपने स्वभाव से लड़ सकता था। किंतु कुवृत्तियों ने उसे घर दबाया। उसने अपने चारों ओर कष्ट तथा कलह उत्पन्न कर ली और वह उसी के आवर्त में घूमता जा रहा है। तथ्य को समझता तो है किंतु अपने जीवन में प्रेम और पवित्रता को वह अपना नहीं पाता।

अत्यंत संक्षेप में संपूर्ण भावों को रखकर लेखक ने कथा का सौन्दर्य द्विगुणित कर दिया है। रूपक की शैली भावोंको अधिक स्पष्ट करती है, तथा व्यंग हृदय को प्रभावित करता है।

(१)

पृथ्वी के प्रारम्भ में जब परमात्मा ने हमारी नयनाभिराम सृष्टि रची, तो आदमी को चार हाथ, चार पाँव, दो सिर दिये (परन्तु दिल एक ही था।) और कहा "तू कभी दुखी न होगा।"

उस समय आदमी बलवान, सूरमा, शांत, प्रसन्नहृदय और प्रफुल्ल-वदन था। प्रकृति की समझ में न आनेवाली समस्त शक्तियाँ सदा उसके सामने पानी भरती थीं, और दुःख और कलह पर संसार के द्वार बंद थे।

परन्तु शैतान को यह स्वर्गीय दृश्य पसंद न आया।

उसने अपने छल-कपट के विनाशकारी शस्त्र लेकर आदमी पर बार-बार आक्रमण किये, परन्तु चार हाथों वाले, चार पाँव वाले आदमी के सामने उसकी कोई पेश न गई, और सुधा और संगीत का सुन्दर संसार पाप की काली छाया से सुरक्षित रहा।

परमात्मा ने अपने जीव की यह वीरता देखी और प्रसन्न हुआ।

(२)

चिरकाल के पश्चात् शैतान ने दुनिया पर फिर आक्रमण किया। रात का समय था। आदमी शान्ति की निद्रा में स्वर्ग के स्वप्न देख रहा था। शैतान अपने झिल्लीदार पंजों को धीरे-धीरे जमीन पर रखता हुआ आदमी के पास आया और अपनी जादू की तलवार से इसके दो टुकड़े करके भाग गया। परंतु आदमी को अधेरात्रि के इस आसुरी कृत्य का ज्ञान न हुआ।

प्रातःकाल जब संग्राम हुआ, तो दो हाथोंवाले, दो पाँववाले एक सिरवाले, आधे दिलवाले, दोनों आदमियों ने शैतान का देह और आत्मा की संपूर्ण शक्तियां से मुक़ाबिला किया, परन्तु उनमें साहस और उत्साह न था।

शैतान जीत गया।

उसने विजय और आनन्द का क़हक़हा लगाया, और इसके साथ ही शान्त और संतोष-भरे संसार में ईर्ष्या-द्वेष और दुःख-दारिद्र्य की भयानक बीमारियों ने प्रवेश किया।

(३)

अब आदमी वह पहले जैसा सूरमा, सज्जन, सुबुद्धिमान् आदमी न था। उसके अधरों पर मुस्कान के स्थान में ठंडी आहें थीं; और जीवन का प्रकाशमय मार्ग उसकी आँखों से ओझल हो गया था।

और दो हाथोंवाला, दो पाँवोंवाला, एक सिरवाला, आधे दिल-वाला आदमी अपने भगवान् के सामने भूमि पर गिर पड़ा, और अपने बीते हुए सुनहरे समय की वापसी के लिए रो रो कर प्रार्थना करने लगा।

परमात्मा ने अपने उपासक का आर्त्त-नाद सुना, और कहा, उठ! निराशा छोड़। अपने बिछुड़े हुए दोनों भाग मिला, और फिर तुझे कोई भी दुख न दे सकेगा।

प्रेम और पवित्रता की, जीवन और ज्योति की, संगीत और सौन्दर्य की यह अमर वाणी आज भी वायु-मण्डल में उसी तरह गूँज रही है। मगर दुनिया के अजान बेटे उसकी ओर ध्यान नहीं देते।

शैतान यह देखता है, और हँसता है।

———

खंड ३—एकांकी

पाठ २'

प्रतिशोध

(डा० रामकुमार वर्मा)

[डा० रामकुमार वर्मा का जन्म १९०५ ई० में सागर (मध्य प्रदेश) में हुआ था। आप प्रयाग विश्वविद्यालय के एम. ए. तथा नागपुर विश्वविद्यालय के पी एच. डी. हैं और प्रारम्भ से प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में अध्यापक हैं। डा० वर्मा की प्रतिभा बहुमुखी है । प्राय: सफल कवि, नाटककार, आलोचक, अध्यापक तथा वक्ता हैं। काव्यग्रंथ 'चित्ररेखा' पर आपको २०००) का देव पुरस्कार तथा 'चंद्रकिरण' पर ५००) का चक्रधार पुरस्कार मिला था। हिन्दी एकाँकी की धारा को विकसित करने में आपका प्रधान हाथ रहा है। आपके नाटक-संकलनों में 'पृथ्वीराज की आँखें', 'रेशमी टाई' तथा 'शिवाजी' विशेष प्रसिद्ध हैं।

रचना—प्रस्तुत एकाँकी के प्रधान पात्र संस्कृत के प्रख्यात कवि भारवि, उनके पिता महापंडित श्रीधर तथा स्नेहमयी माता सुशीला हैं। चतुर लेखक ने अत्यन्त कुशलता के साथ एक आदर्श पुत्रवत्सल माता-पिता का चित्रण श्रीधर तथा सुशीला के रूप में किया है। मुख्यपात्र भारवि के चरित्र का पतन और उत्थान अत्यन्त मनोवैज्ञानिक ढंग से किया गया है। घटनास्थल प्रसिद्ध धारा नगरी है जो संस्कृत अध्ययन-अध्यापन की प्राचीन समय में बहुत दिनों तक केन्द्र रही है।]

पात्र—

(क) भारवि—संस्कृत के महाकवि

(ख) श्रीधर—संस्कृत के महापण्डित, भारवि के पिता

(ग) सुशीला—भारवि की माता

(घ) भारती—एक विदुषी

(ङ) आभा—सेविका

[श्रीधर ग्रंथ देखते हुए मंत्र पढ़ते हैं:—]

श्रीधर—ॐ ईशावस्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

अर्थात् जगत् में जो कुछ स्थावर और जंगम है, वह सब ईश्वर के द्वारा आच्छादित है—अर्थात् संसार के क्रोड़ में भगवान् की सत्ता ही है। तू नामरूपात्मक बाहरी विकारों के परित्याग से वास्तविक सत्ता जो ईश्वर की है, उसका स्वाद तेन त्यक्तेन भुंजीथा… [सुशीला की ओर] तुम ध्यान से नहीं सुन रही हो!

सुशीला—(ध्यान मग्नता से चौंककर) अँह, सुन तो रही हूँ किन्तु भारवि……

श्रीधर—(बीच ही में) भारवि! फिर भारवि! भारवि के पीछे वेद छोड़ दो, उपनिषद् छोड़ दो, शास्त्र छोड़ दो। भारवि ही संसार में एक पुत्र है और तुम्हीं संसार में एक माता हो।

सुशीला—यह मैं नहीं कहती, किन्तु भारवि अभी तक नहीं आया!……

श्रीधर—नहीं आया, तो आ जाएगा! इस धारा नगरी में उसके आकर्षण के बहुत से केन्द्र हैं कहीं बैठ गया होगा। कोई कविता का भाव खोजने लगा होगा। महाकवि जो बनता है। और तुम उसकी

माता हो। तुम भी कविता का भाव खोजो न। तुम तो अधिक अच्छा भाव खोज सकोगी। अच्छा, देखो! यही भाव देखो, ईशावस्योपनिषद् के पहिले ही मन्त्र में 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा'.........अर्थात् तू नामरूपात्मक बाहरी विकारों के परित्याग से वास्तविक सत्ता जो ईश्वर की है—

सुशीला—ईश्वर की सत्ता तो है किन्तु भारवि नहीं आया?

श्रीधर—नहीं आया तो जायेगा कहाँ!.........शिव शिव। फिर भारवि। क्या कहूँ सुशीला, भारवि तो उपनिषद् से भी बढ़कर हो गया है कि उसके चिंतन में उपनिषद् का भी चिंतन समाप्त हो गया। कोई चिन्ता नहीं, मैं कहता हूँ, भारवि कवि। और कवि समय पर शासन करता है। समय उस पर शासन नहीं करता। दिवस और रात्रि के उज्ज्वल और श्याम रंगवाले समय के जो नेत्र हैं उनमें कवि दृष्टि बनकर विचरण करता है। वह घर और बाहर में क्या अन्तर समझता है? वह समस्त संसार को अपने में देखता है और अपने में समस्त संसार को, कवि संसार में रहकर भी संसार से परे हो जाता है।

सुशीला—तो क्या भारवि कवि बन कर मेरा पुत्र नहीं रहा?

श्रीधर—पुत्र तो है ही किन्तु वह संसार का जनक भी है, जनक। अपनी कल्पना से वह न जाने कितने संसार के समूहों का निर्माण कर सकता है।

सुशीला—तो क्या कल्पना से वह अपनी माता का भी निर्माण कर सकता है? और वह करे भी तो कर ले किन्तु संसार में उसकी एक ही माता रहेगी एक ही जननी रहेगी और वह मैं हूँ, मैं! भारवि की केवल एक माता है, और वह मैं हूँ।

श्रीधर—हाँ, माता तो तुम्हीं हो। किसी दिन शास्त्रार्थ करके देख लेना।

सुशीला—शास्त्रार्थ के नियमों में माता का हृदय नहीं बाँधा जा सकता। शास्त्र में सिद्धान्त हैं, प्रेरणा नहीं है। शास्त्र माता की प्रशस्ति है किन्तु माता के हृदय का स्पन्दन नहीं है। शास्त्र तो तत्व की बात कहता है उसे आँसुओं की तरलता और सुख की विह्वलता का अनुभव नहीं है।

श्रीधर—माँ के आँसुओं की तरलता और सुख की विह्वलता; का अनुभव पुत्र करता है ?

सुशीला—अवश्य करता है। क्रिया की प्रतिक्रिया तो होनी ही है।

श्रीधर—व्याकुल होगा तो देख लूँगा उसकी व्याकुलता। तुम इस व्याकुलता से ऊपर उठो। शास्त्र का चिंतन करो।

सुशीला—आप भारवि के पिता हैं तो शास्त्र का चिंतन कर सकते हैं, मैं कैसे करूँ ? आज दूसरा दिन है और वह नहीं आया। और दिनों तो वह जल्दी आ जाया करता था—आज दूसरी रात्रि का दूसरा प्रहर है और वह अभी तक नहीं आया। न जाने वह कहाँ होगा उसने भोजन भी किया होगा या नहीं ?

श्रीधर—सुशीला, तुम व्यर्थ ही चिन्ता करती हो। भारवि कोई शिशु तो नहीं जिसे भोजन कराने के लिए माता के दुलार की आवश्यकता है। वह किसी गोष्ठी में बैठकर आनन्द ले रहा होगा, यहाँ माता चिन्तित हो रही है !

सुशीला—आप इतने निष्ठुर कैसे हैं ? क्या शास्त्र का चिंतन और पाण्डित्य मनुष्य को निष्ठुर बना देता है ? भूख-प्यास में भी कहीं कवि-गोष्ठी से रुचि हो सकती है ? मेरा भारवि कहीं अन्यत्र भोजन नहीं करता।

श्रीधर—भारवि-भारवि-भारवि ! न तुम शान्त रहोगी, न मुझे शान्त रहने दोगी। भारवि मूर्ख है और तुम........

सुशीला—(बीच ही में) हाँ, मैं भी मूर्ख हूँ। यदि पुत्र के लिये माँ की ममता मूर्खता है सो ऐसी मूर्खता सदैव ही मुझमें बनी रहे। आप पण्डित बनें, शास्त्री हों, विद्या के आचार्य हों। मेरे लाल को मूर्ख समझें और मुझे भी।

श्रीधर—सुशीला, अब तुम्हें मैं कैसे समझाऊँ ?

सुशीला—कहीं आप ही ने तो उसे घर आने से नहीं रोक दिया ?

श्रीधर—मैंने ?

सुशीला—हाँ, आपने !

श्रीधर—मैंने कभी रोका है ? कभी रोक सकता हूँ ?

सुशीला—पिता सब कुछ कर सकता है। वह उसे घर से निर्वासित कर सकता है, जाति से निर्वासित कर सकता है, समाज से निर्वासित कर सकता है।

श्रीधर—किन्तु हृदय से निर्वासित नहीं कर सकता।

सुशीला—हृदय से न सही, घर से तो निर्वासित कर ही सकता है।

श्रीधर—यदि वह अन्याय का आचरण करे, धर्म के प्रतिकूल चले तो यह भी सम्भव है।

सुशीला—तो आपने ही उसे आने से रोक दिया है।

श्रीधर—मैंने रोका तो नहीं किन्तु यदि वह मेरी बात का उल्टा अर्थ लगाये तो मैं क्या करूँ ?

सुशीला—तो आपने ही मेरे लाल से ऐसी बातें की हैं जो उसे कष्टकर हुई।

श्रीधर—यदि कष्टकर हों तो उसकी अपनी धारणा है।

सुशीला—तो आपने उसकी ताड़ना अवश्य की होगी।

श्रीधर—यदि पिता चाहता है कि उसका पुत्र सुमार्ग पर चले तो कभी-कभी ताड़ना अनिवार्य हो जाती है।

सुशीला—तो आपने उसकी ताड़ना की है?

श्रीधर—हाँ, मैंने की है।

सुशीला—इसीलिए वह नहीं आया! क्या मैं कारण जान सकती हूँ?

श्रीधर—अवश्य। इधर मैंने देखा कि वह शास्त्रार्थ में अनेकों पण्डितों को पराजित कर रहा है।

सुशीला—तो यह तो आपकी प्रसन्नता का विषय होना चाहिए।

श्रीधर—होना तो चाहिए किन्तु मैं इधर देखता हूँ कि पण्डितों की हार से उसका अहंकार बढ़ता जा रहा है। उसे अपनी विद्वत्ता का घमंड हो गया है। उसका गर्व सीमा का अतिक्रमण कर रहा है। यह मुझे सहन नहीं हो सकता।

सुशीला—तो क्या आप मेरे लाल से ईर्ष्या करते हैं?

श्रीधर—मूर्ख हो तुम भी। क्या पिता भी पुत्र से कभी ईर्ष्या कर सकता है? क्या बीजांकुर अपने पुष्प से कभी ईर्ष्या करेगा? किन्तु मैं यह सहन नहीं कर सकता कि मेरा पुत्र दंभी हो। मैं दंभी पुत्र का पिता होना अपमान समझता हूँ।

सुशीला—तो आपने उसे ताड़ना दी?

श्रीधर—हाँ, उसे ताड़ना दी। और उग्र रूप से।

सुशीला—क्या कहा आपने?

श्रीधर—मैंने कहा तू महामूर्ख है, दंभी है, अज्ञानी है।

सुशीला—यह आपने भारवि से एकांत में कहा या पण्डितों के सामने ?

श्रीधर—पण्डितों के सामने। मुझे किसका संकोच है ? पण्डितों के सामने ही मैंने अनुशासन किया ।

सुशीला—पंडितों के सामने ही ? पण्डितों ने क्या कहा ?

श्रीधर—कहेंगे क्या ? वे भारवि की ओर देखकर हँसने लगे। भारवि के स्वर में ही बोलकर वे उसका परिहास करने लगे और ताली पीटने लगे।

सुशीला—और बेचारा भारवि ?

श्रीधर—भारवि ने एक बार व्यथित दृष्टि से मेरी ओर देखा। फिर ग्लानि से अपने हाथों से अपना मुख छिपा लिया और तब वह एक ओर चुपचाप चला गया।

सुशीला—आपने रोका नहीं ?

श्रीधर—नहीं,यदि रोकता तो अनुशासन की मर्यादा कैसे रहती ?

सुशीला—मेरे लाल से अधिक प्रिय आपको अपने अनुशासन की मर्यादा थी।

श्रीधर—सुशीला ! मोह में मत बहो। अनुशासन की मर्यादा पर बड़े से बड़े व्यक्ति का बलिदान किया जा सकता है।

सुशीला—ओह, आपके क्रोध को देखते हुए वह अब फिर घर लौटकर नहीं आयेगा। आपने अनुशासन की वेदी पर उसका बलि-दान कर दिया।

श्रीधर—क्यों ? इससे पहले भी मैंने उसकी अनेक बार ताड़ना की है। फिर भी वह घर आया है, इस बार क्यों नहीं आयेगा ?

सुशीला—उसे आना होता तो इस समय तक अवश्य आ जाता। कहीं वह ससुराल तो नहीं चला गया ?

श्रीधर—नहीं, वह मेरी आज्ञा के बिना उस ओर एक पग भी नहीं रख सकता।

सुशीला—तब कहीं उसने आत्महत्या.......

श्रीधर—चुप सुशीला। वह शब्द अपने मुख से न निकालना। श्रीधर पण्डित का पुत्र इतना पतित नहीं हो सकता कि वह ऐसा जघन्य पाप करे ! वह अनियमित कार्यों से मुक्त है।

सुशीला—तब निश्चय ही वह देशान्तर चला गया।

श्रीधर—हाँ, देशान्तर जा सकता है किन्तु जिस श्रद्धा से वह तुम्हें सम्मान देता है उसे देखते हुए वह तुम्हारी आज्ञा के बिना देशान्तर नहीं जा सकता।

[किसी के आने की ध्वनि]

सुशीला—[उल्लास से] वह....आया (पुकार) भारवि-भारवि ....मेरे लाल।

श्रीधर—[पुकार कर] भारवि !

[सेविका का प्रवेश]

सेविका—नहीं, मैं हूँ स्वामी। आभा।

सुशीला—आभा, भारवि नहीं आया।

आभा—अभी तक कवि नहीं आये ? मैं तो समझती थी कि वे इस समय तक आ गये होंगे।

सुशीला—वे अभी तक नहीं आये। तू जा, जल्दी से उन्हें खोज ला। जल्दी जा, मेरी अच्छी आभा !

आभा—मैं अभी जाती हूँ! स्वामिनि! अभी खोज कर लाऊँगी। किन्तु आप भोजन तो कर लें! मैंने पाकशाला में जाकर देखा, आपका भोजन सजा हुआ रक्खा है, आपने उसे छुआ भी नहीं है।

श्रीधर—तुमने भोजन नहीं किया, सुशीला?

सुशीला—अब लाल के साथ ही भोजन करूँगी। न जाने उसने कुछ खाया-पिया है या नहीं। उसे ग्लानि है। ग्लानि में उसने खाया-पिया क्या होगा? आभा, तू जा कवि को अपने साथ ही ले आ!

आभा—मैं अभी जाती हूँ।

सुशीला—तू कहाँ जायगी। जानती है भारवि इस समय कहाँ होगा?

आभा—अतिथि-शाला में होंगे। बाहर से आये हुए पण्डितों से प्रायः शास्त्रार्थ किया करते हैं वहीं होंगे।

सुशीला—अब वे वहाँ न होंगे।.... वहाँ न होंगे।

आभा—तब तो वे मालिनी-तट पर होंगे। वहाँ बैठकर वे अपनी कविताएँ लिखा करते हैं।

सुशीला—रात में? आभा, संभव है मालिनी-तट पर वे कुछ सोच रहे हों। नहीं वहाँ भी वे न होंगे। उनकी लेखनी मौन होगी।

आभा—तब जनपद में जाऊँगी।

श्रीधर—हाँ, अधिक से अधिक वह किसी जनपद में जा सकता है किन्तु तू अभी न जा आभा! रात्रि अधिक हो गई है। मैं कल प्रातःकाल समस्त जनपदों में जाकर उन्हें खोज लाऊँगा।

आभा—स्वामी, आज्ञा दें तो दो-एक जनपदों में अभी चली जाऊँ। स्वामी के प्रताप से मुझे मार्ग में कोई भय नहीं होगा।

श्रीधर—रात्रि में तू उसे खोज न सकेगी, आभा! मैं ही जाऊँगा।

आभा—जा आज्ञा। स्वामिनी भोजन कर लें तो बड़ी कृपा हो।

सुशीला—आभा, तू जा, मैं भोजन न करूँगी। मुझे कष्ट न दे।

आभा—मुझे क्षमा करें। एक निवेदन और है—महाकवि से परिचित एक युवती प्रवेश चाहती है। वह स्वामी के दर्शन की अभिलाषा रखती है।

श्रीधर—मेरे दर्शन की ? मैं इस समय किसी से नहीं मिल सकूँगा।

सुशीला—आने दीजिए। संभव है, कवि से परिचित होने के कारण उससे लाल के सम्बन्ध में कुछ सूचना ही मिल सके। आभा, बुला ले।

श्रीधर—अच्छा, भीतर भेज दे।

आभा—जो आज्ञा।

सुशीला—गई ! आभा कहती है मैं भोजन कर लूँ।

श्रीधर—सुशीला, मैं तुम्हारे हृदय के दुःख को समझता हूँ ! मैं निश्चय ही कल प्रातः काल सभी जनपदों में जाकर भारवि की खोज कर उसे तुम्हारे पास ले आऊँगा।

सुशीला—आपके अनुशासन की मर्यादा तो भंग न होगी !

श्रीधर—अनुशासन के स्थान पर अनुशासन और प्रेम के स्थान पर प्रेम है। प्रेम पर ही अनुशासन निर्धारित है और अनुशासन पर ही प्रेम। यदि प्रेम न हो तो अनुशासन का कोई मूल्य नहीं।

सुशीला—आप को विश्वास है, भारवि किस जनपद में मिल जायगा ?

श्रीधर—मुझे विश्वास है, जब वह अनियमित कार्यों से मुक्त है तो किसी न किसी जनपद में अवश्य मिल जायेगा।

सुशीला—यदि नहीं मिला तो.................

श्रीधर—तो मैं राजकीय सहायता की प्रार्थना करूंगा। राजकीय शक्ति उसे कहीं से भी प्राप्त कर सकती है।

सुशीला—आप मुझ पर महान् उपकार करेंगे।

श्रीधर—मोह के वशीभूत न बनो। तुम पर मेरा उपकार कैसा? तुम शान्ति से शयन करो। मैं कल प्रातःकाल भारवि सहित लौटूँगा।

सुशीला—परसों से गया है मेरा लाल। कौशेय वस्त्र धारण कर पीत रंग का अधोवस्त्र और नील रंग का उत्तरीय। कुंचित केश! मस्तक पर पीत चन्दन की पत्रावलि, मध्य में अरुण-विन्दु। शास्त्रार्थ के लिए जाते समय मैंने अपने हाथों से उसे पुष्पहार पहिनाया था, उसने मुझे प्रणाम किया था—स्नेह गद्‌गद् हो मैंने कहा—विजयी बनो। उसके मुख पर हल्की मुस्कराहट थी। क्या जानती थी कि आज भी उसे पिता की भर्त्सना मिलेगी।

श्रीधर—भावुक मत बनो, सुशीला। विश्राम करो। मैं तुम्हें वचन दे चुका हूँ कि तुम्हारा भारवि कल तुम्हारे पास होगा।

सुशीला—आज ही हो सकता था वह मेरे पास। यदि आप पुत्र-प्रेम से अधिक शास्त्र-चिन्तन को महत्व न देते।

श्रीधर—मैं समझता था कि वह सदा की भाँति अवश्य घर लौट आयेगा। मैंने भी थोड़ी मर्यादा रक्खी। किन्तु उस मर्यादा की सीमा समाप्त हो गई। कल मैं जाऊँगा। हम उसकी पत्नी के प्रति भी तो उत्तरदायी हैं और वह यहाँ नहीं है।

सुशीला—मेरे लिए न सही तो उसकी पत्नी के लिए ही आप कवि को खोज कर लायें।

[भारती का प्रवेश]

भारती—मैं आ सकती हूँ ? प्रणाम करती हूँ, मेरा नाम भारती है।

सुशीला—भारती ? आओ देवी ! तुम कवि भारवि से परिचित हो ?

भारती—वसन्त ऋतु में कोकिल के स्वर से कौन परिचित नहीं ? प्रभात में भैरव राग के स्वर किसे जागरण का सन्देश नहीं देते ? पूर्णिमा के आकाश में अमृत का कलश चंद्रमा अंधकार के हृदय में भी प्रकाश की मंदाकिनी प्रवाहित कर देता है। ऐसे ही हैं महाकवि भारवि। उन्हें कौन नहीं जानता ?

सुशीला—तुम उन्हें कब से जानती हो, देवी ?

भारती—गत पूर्णिमा के पर्व में उन्होंने जो शास्त्रार्थ किया था, उसमें शास्त्र को जैसे जीवन मिल गया। आज तक वेदान्त की मीमांसा इतनी सुन्दर मैंने नहीं सुनी जैसी महाकवि भारवि के मुख से सुनी। जैसे ब्रह्म-ज्ञान सरस्वती की वीणा पर नृत्य कर रहा हो।

सुशीला—धन्य है मेरा कवि !

श्रीधर—इस समय तुम्हारे आने का अभिप्राय क्या है, देवी भारती।

भारती—महाकवि के दर्शन ! उनका सत्संग ही तो ज्ञान का सागर है जिसके तट पर बैठ कर मैं अनुभूति की लहरें गिन सकती हूँ।

श्रीधर—लेकिन भारवि, यहाँ नहीं है।

सुशीला—हाँ, कवि अभी तक नहीं आया।

भारती—मैंने तो उन्हें मालिनी-तट पर देखा था। सोचती थी कि इस समय तक वे यहाँ आ गये होंगे।

सुशीला—कब देखा था? किस समय देखा था देवी?

भारती—आज प्रातःकाल ऊषा वेला में।

सुशीला—तुम उससे मिली थीं?

भारती—नहीं! वे उस समय ध्यान-मग्न थे। ज्ञात होता था जैसे वे भारती की उपासना कर रहे हों।

सुशीला—भारती की?

भारती—[हँसकर] मेरी नहीं। वीणापाणि भारती की, सरस्वती की, मैंने उनका ध्यान भंग नहीं करना चाहा। सोचा, बाद में उनसे वार्तालाप करूँगी।

सुशीला—फिर वार्तालाप किया?

भारती—नहीं, वे उद्विग्नता से उठ कर एक ओर चले गये। मैं उन्हें पा न सकी।

सुशीला—उसके बाद पता पाया कि वे कहाँ गये?

भारती—नहीं, फिर मैं न जान सकी कि वे कहाँ गये।

सुशीला—वे तब से आए भी नहीं। उनके पिता भी तब से उनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

भारती—ये उनके पिता हैं! प्रणाम करती हूँ।

सुशीला—आयुष्मती बनो। देवी भारती! भारवि जैसे ही आयेंगे, तुम्हारे आने की सूचना दे दी जायेगी।

भारती—मैं कृतार्थ हुई। किन्तु आप कष्ट न करें। कल प्रातः काल मैं पुनः सेवा में उपस्थित हो जाऊँगी।

सुशीला—यदि इस बीच तुम्हें उनकी सूचना मिले, देवि, तो मुझे सूचना देना। मैं कृतार्थ होऊँगी।

भारती—अवश्य ! तो मुझे आज्ञा दें। प्रणाम करती हूँ।

सुशीला—आयुष्मती बनो !

(प्रस्थान)

सुशीला—देवी भारती से भी मेरे लाल की कोई सूचना नहीं मिली।

श्रीधर—अच्छा, अब तुम विश्राम करो, शांत मन से, स्थिर चित्त से।

सुशीला—विश्राम ! स्थिर-चित्त ! [व्यंग की दैवी हँसी] माँ के लिए विश्राम और स्थिर-चित्त जब उसका पुत्र उसके पास नहीं है। आप विश्राम करें, शास्त्रचिन्तन समाप्त करें।

श्रीधर—मैं भी उठता हूँ। तुम अपनी शैया पर जाओ; वहुत देर से आसन पर वैठी हो। पैर में शून्यता हो जायेगी। कल जब भारवि आयेगा तो उठ भी न सकोगी।

सुशीला—उठ भी न सकूँगी; आप शयन करें, मैं अपनी शैया पर चली जाऊँगी।

श्रीधर—उठो, मैं सहायता दे दूँ। स्थिर चित्त से शयन करो। उठो मैं वचन देता हूँ कि कल भारवि को अपने साथ ही ले आऊँगा।

सुशीला—आप मेरे जीवन का सबसे बड़ा कार्य करेंगे। चलिये [उठती है। सुशीला उठकर अपनी शैया पर जाती है]

श्रीधर—अब ठीक है। मैं दीपक मन्द कर देता हूँ। यह लो, अब इस शैया पर शयन करो। मैं भी शयन करते हुए सोचूँगा कि सबसे पहले कहाँ जाऊँ !

सुशीला—वह अपनी ग्लानि में कहीं दूर न चला गया होगा।

श्रीधर—चाहे जितनी दूर चला जाय। मैं तो उसे लाऊँगा ही।

सुशीला—लाइए—अवश्य लाइए। उसके बिना मैं जी न सकूँगी। पूर्णिमा के चन्द्र की तरह वह मेरा एक ही लाल है। महाकवि। महापंडित। भारवि !

श्रीधर—[नेत्र बन्द किये चिंतित मुद्रा में]—हूँ ! [कुछ शान्ति] शयन करो।

[कुछ देर तक स्तब्धता]

सुशीला—[कुछ क्षण बाद] मुझे नींद नहीं आ रही है—मन न जाने क्या-क्या सोचता है।

श्रीधर—अपना मन स्थिर करो। [कुछ शान्ति] ऊपर देखो, आकाश में कितने तारे हैं—ये एक दूसरे से कितनी दूर हैं किन्तु इनमें से कोई चिंतित नहीं है। सभी समान रूप से चमक रहे हैं।

सुशीला—इन तारों में कोई माता न होगी।

श्रीधर—अपने मन को कल्पना से मुक्त करो। सुशीला, ईश्वर की शक्ति में विश्वास रक्खो। बीज से फूल कितनी दूर रहता है किन्तु बीज कभी मलीन नहीं होता। वह फूल को प्रफुल्लित रखने के लिए निरन्तर रस भेजा ही करता है। तुम भी मंगल-कामना करो कि जहाँ भी तुम्हारा पुत्र हो सुखी रहे, प्रफुल्लित रहे !

सुशीला—मेरा पुत्र जहाँ भी रहे, सुखी रहे, प्रफुल्लित रहे।

श्रीधर—हाँ, ईश्वर की शक्ति कण-कण में वर्तमान है, वह सबका पोषण करता है, उस पर विश्वास रक्खो।

सुशीला—मैं विश्वास रखती हूँ।

श्रीधर—अब सो जाओ। विश्वात्मा का ध्यान करते हुए। मैं

वही मन्त्र पढ़ता हूँ। मेरे स्वर में अपना स्वर धीरे-धीरे मिलाकर शयन करो.........[श्रीधर धीरे-धीरे मंत्र पढ़ते हैं और सुशीला उनके स्वर में स्वर मिलाती है।]

ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्

तेन त्यक्तेन भुँजीथा.........[कुछ खटका होता है]

सुशीला—[चौंक कर] यह खटका कैसा ! क्या मेरा भारवि आ गया !

श्रीधर—अरे, यह तो हवा का झोंका है जिससे द्वार पर शब्द हुआ है। तुम व्यर्थ ही इतनी व्यग्र हो सुशीला, शान्त रहो।

सुशीला—मैं शान्त हूँ। शब्द से मुझे भ्रम हुआ कि मेरा कवि आ गया वह भी आते समय द्वार पर ऐसा ही शब्द करता था।

श्रीधर—तुम्हारा भारवि कल अवश्य आ जायेगा। तुम शान्त हो। देखो प्रकृति भी शान्त है।

सुशीला—मैं शान्त कैसे रहूँ, चुप अवश्य हो जाऊंगी, किन्तु इस शान्ति में भी जुगनू को देखो जो अपने जीवन का प्रकाश लिए हुए चारों ओर उड़ रहा है—शायद इसका भी लाल कहीं खो गया है। कीट-पतंग तक अपने लाल को खोज सकते हैं, मैं अपने जीवन का प्रकाश लिए शान्त रहूँ, चुप रहूँ। हाय रे मनुष्य ! तू कीट-पतंगों से भी गया बीता है।

श्रीधर—सुशीला, मैं बहुत दुखी हूँ तुम्हें देखकर। यदि तुम इतनी अशान्त हो तो मैं अभी तुम्हारे पुत्र को खोजने के लिए जाता हूँ।

सुशीला—अन्धकार में वह कहाँ मिलेगा ! प्रातः काल जाइए। किन्तु मेरी प्रार्थना है कि अब आप मेरे लाल की निन्दा करना छोड़

दें। आप सबके सामने उसे मूर्ख और विकल-बुद्धि बतलाया करते हैं इससे उसे मर्मान्तक कष्ट होता है। वह पण्डित है, बुद्धिमान है, अब से आप ऐसा न करें।

श्रीधर—सुशीला, मैं आज तुम्हें एक बात बतलाऊँ ?

सुशीला—मेरे लाल के सम्बन्ध में ?

श्रीधर—हाँ, भारवि के सम्बन्ध में। बात यह है कि मेरा लाल आज संसार का एक सर्वश्रेष्ठ महाकवि है। दूर-दूर देशों में उसकी समानता करने का किसी को साहस नहीं है। वह शास्त्रार्थ में बड़े से बड़े पण्डितों को पराजित कर चुका है। उसका पाण्डित्य देखकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता होती है। किन्तु मेरे भारवि के मन में धीरे-धीरे अहंकार स्थान पाता जा रहा है। मैं चाहता हूँ कि भारवि और अधिक पण्डित और महाकवि बने। पर अहंकार उन्नति का बाधक है। मैं उस अहंकार पर अङ्कुश रखना चाहता हूँ। जिसे अपने पाण्डित्य का अभिमान हो जाता है वह अधिक उन्नति नहीं कर सकता।। यही कारण है कि मैं समय समय पर मूर्ख और अज्ञानी कहता हूँ। प्रशंसा तो सभी करते हैं किन्तु अधिकारी से निन्दा भी होनी चाहिये। मैं नहीं चाहता कि अहंकार के कारण मेरे पुत्र की उन्नति रुक जाय।

सुशीला—(विह्वल होकर) क्या कहा आपने ?

श्रीधर—मैं नहीं चाहता कि अहंकार के कारण मेरे पुत्र की उन्नति रुक जाय।

सुशीला—तो जो आप मेरे लाल पर क्रोध प्रकट करते हैं वह सच्चा नहीं है ?

श्रीधर—अणुमात्र भी नहीं। र क्रोध में पुत्र के प्रति मंगल-कामना छिपी है। मेरा पुत्र और भी द्वान् हो, और भी यशस्वी बने

सुशीला—ओह, आप कितने महान् हैं ?

(यकायक दरवाजा खोलने की तीखी आवाज होती है। भारवि हाथ में तलवार लिए लड़खड़ाते हुए आते हैं।)

भारवि—पिता, पिता !

सुशीला और श्रीधर—(सम्मिलित स्वर) भारवि !

भारवि—हाँ, मैं भारवि हूँ।

सुशीला—(विह्वल होकर) बेटा तू कहाँ रहा ! मेरे बेटे, तू इतना निष्ठुर कैसे हो गया ! तू कहाँ था ! तेरी, इतनी....तेरी इतनी ....तू क्यों चला गया था....कहाँ था, मेरे बेटे ! (सिसकने लगती है।)

भारवि—माँ, शान्त रहो। अपने चित्त को स्थिर रक्खो।

सुशीला—तेरे पिता कहते हैं अपने चित्त को स्थिर रक्खो, तू भी यही कहता है। मैं कहाँ ले जाऊँ अपने चित्त को। प्रभु, इस संसार में माँ के चित्त को स्थिर क्यों नहीं बनाया ?

भारवि—माँ, मैं यह कहता हूँ—

सुशीला—बेटा, अब मैं कोई बात नहीं मानूँगी, तू बतला कि तूने अभी तक कुछ खाया या नहीं ? मैं दो दिन से तेरा भोजन लिए बैठी हूँ।

भारवि—मैं इतनी ग्लानि में हूँ माँ, कि सम्भवतः मुझे जीवन-भर भूख न लगे।

सुशीला—तो तूने अभी तक कुछ नहीं खाया ?

भारवि—नहीं माँ।

सुशीला—ओह, मेरा लाल, दो दिन का भूखा है। मैं अभी भोजन लाऊँगी। मैं अभी लाऊँगी (नेपथ्य में पुकारती हुई जाती है)।

'आभा, आभा कवि आ गया, उसने अभी तक भोजन नहीं किया। कहाँ है, कहाँ है उसका भोजन····भोजन········')

भारवि—पिता मैं आपका पुत्र होने योग्य नहीं हूँ। इस तलवार से मेरा मस्तक काट दीजिए।

श्रीधर—वत्स, तुम्हारे मुख में ये शब्द शोभा नहीं देते। अपनी मर्यादा सुरक्षित रक्खो। मैं फिर कहता हूँ तुम मूर्ख हो। विकल-बुद्धि हो।

भारवि—सचमुच ही मैं मूर्ख हूँ। विकल-बुद्धि हूँ। और यह तभी प्रमाणित होगा जब आप मेरा मस्तक तलवार से काट देंगे।

श्रीधर—मेरे वाक्यों का प्रमाण तलवार के प्रमाण की आवश्यकता नहीं रखता। तलवार का प्रमाण निर्बलों का प्रमाण है। निर्भीक वाक्य सबलों का प्रमाण है।

भारवि—किन्तु पिता, यह तलवार मेरा मस्तक नहीं काटेगी, उस ग्लानि को काट देगी जो पिछले दो क्षणों से मेरे जीवन को झंझा की भाँति झकझोर रही है।

श्रीधर—ग्लानि से जीवन उत्पन्न नहीं होता वत्स, जीवन से ग्लानि उत्पन्न होती है। और इस तरह ग्लानि प्रधान नहीं है, जीवन प्रधान है। जब तुम जीवन के अधिकारी हो तो जीवन की शक्ति से ही ग्लानि को दूर करो, तलवार की अपेक्षा क्यों करते हो? और हाँ, तुम तो महाकवि हो! तुम्हारे हाथों में लेखनी चाहिये, तलवार नहीं। यह तलवार कैसी?

भारवि—पिता, मैं महाकवि नहीं हूँ तभी तो हाथ में लेखनी नहीं है, तलवार है। जीवन का स्वामी नहीं हूँ। तभी तो ग्लानि का मुझ पर अधिकार है।

श्रीधर—ग्लानि काला बादल है वत्स, जो जीवन के चन्द्र को मिटा नहीं सकता। कुछ क्षणों के लिए उसके प्रकाश को रोक ही सकता है। उत्साह के प्रवाह से बादल को हटा दो।

भारवि—वह रक्त के प्रवाह से ही हटेगा, पिता, ! और वह रक्त मेरे मस्तक का होगा।

श्रीधर—मस्तक में सहस्रदल है वत्स, जिसमें ब्रह्म का निवास होता है। ग्लानि के पोषण के लिए ब्रह्मद्रव की आवश्यकता नहीं है। किन्तु मैं यह पूछता हूँ कि इस मूर्खता के धूमकेतु की रेखा कितनी लम्बी जायगी ? मैंने तुम्हारे दोष दिखलाए तो उन्हें स्वीकार करना चाहिये था। यह नहीं कि ग्लानि से दो दिन घर आने का नाम भी न लो ! बेचारी माँ को दुखी और चिन्तित रक्खो ! उसने तुम्हारे वियोग में दो दिन भोजन नहीं किया। अब आधी रात में तुम आए हो, तुम्हारे हाथ में यह तलवार है और पिता से तुम अपना ही मस्तक काटने को कहते हो। मूर्ख पुत्र ! मेरे हृदय में पिता की भावना आज तुमसे लांछित हा रही है।

भारवि—पिता, यह सब स्वीकार करता हूँ। आपसे विवाद करना मुझे और भी कष्टप्रद होगा। किन्तु मैं अपनी निर्बलता आपके सामने स्पष्ट करना चाहता हूँ। पिछले दिनों का कार्य प्रतिशोध से परिचालित था।

श्रीधर—प्रतिशोध !

भारवि—हाँ पिता, प्रतिशोध ! आपने मुझे सदैव लांछित किया। जब मैं शास्त्रार्थ में विजयी हुआ आपने मुझे सार्वजनिक रूप से लांछित किया। जिन पण्डितों को मैं पराजित करता था, वे ही आपके वाक्यों को लेकर मेरा परिहास करते थे—सभाओं में लांछित करते थे। दो बार जब आपने सब पण्डितों के सामने निन्दा की तो

म क्रोध और ग्लानि में भर गया। मैं घर नहीं लौट सका। मेरी विजय की उमङ्ग रसातल में चली गई। मैंने समझ लिया कि जब तक मेरे पिता वर्तमान हैं तब तक मैं इसी प्रकार लांछित होता रहूँ

श्रीधर—यह सत्य है।

भारवि—मैं आत्म-हत्या नहीं कर सकता था क्योंकि वह एक जघन्य पाप है। मैंने अनेक बार सोचा। पिता को तो पुत्र की उन्नति से सुख होना चाहिए। उसके शरीर में हर्ष से रोमांच हो आना चाहिए, किन्तु पिता को मेरी उन्नति से अप्रसन्नता होती है; पिता को मेरे दोष ही दोष दीख पड़ते हैं। वे मुझे लांछित करते हैं। एकांत में लांछित करते तो कोई हानि न होती किन्तु विद्वन्मंडली में वे मेरा अपमान करते हैं।

श्रीधर—मेरा अभिप्राय विद्वन्मंडली में ही तुम्हारे दोष दिखलाने का रहा है।

भारवि—जिन पण्डितों ने मेरे ज्ञान को अपने सिर पर पुष्प-माला की भाँति धारण किया, उन्हीं पण्डितों के समक्ष मेरा अपमान मुझे शूल की भाँति खटक गया और आपके प्रति मेरा क्रोध अन्तिम सीमा तक पहुँच गया।

श्रीधर—[मुस्कराकर] अन्तिम सीमा तक फिर तुमने क्या किया ?

भारवि—मैं पूरे आठ प्रहर तक मन ही मन जलता रहा। फिर मैंने यही ठीक समझा कि मैं पिता के जीवन को समाप्त कर दूँ।

श्रीधर—हाँ,....पिता के ?....कितना अच्छा होता मुझे अपनी मृत्यु पुत्र के हाथों मिलती !

भारवि—मैंने अपने मित्र विजय घोष के शस्त्रागार से यह पैनी

तलवार चुनी जिसकी तीखी धार के स्पर्श मात्र से जीवन का सूक्ष्म तंतु बिना किसी शब्द के क्षण मात्र में कट जाता। मैं सन्ध्या से ही इस घर के कोने में छिपा हुआ था। जब आधी रात में माता जी और आप निद्रा में लीन रहते तो मैं दबे पाँव आकर आप की ग्रीवा पर तलवार रख देता। माता जी को भी ज्ञात न होता कि वे जीवन की किस दिशा में चली गई हैं। प्रातः काल जब उन्हें ज्ञात होता और नगर में यह बात फैलती तो मैं भी आता। मेरा प्रायश्चित यह होता कि जीवन भर माता की कठिन सेवा कर उन्हें वैधव्य के कष्ट का अनुभव न होने देता।

श्रीधर—फिर तुमने क्यों नहीं किया? यह कार्य तो तुम अब भी कर सकते हो!

भारवि—पिता! मुझे और लांछित न कीजिए। मेरी ग्लानि को अधिक न बढ़ाइए। हाय रे, माता का हृदय, वे क्षणमात्र भी न सो सकीं.........। आपको छेड़ती रहीं। उन्होंने आपको सोने न दिया और जब बातों ही बातों में मुझे यह ज्ञात हुआ कि आपकी—आपकी यह पुत्र-वत्सलता ही है कि आप पंडितों के बीच मेरी निन्दा कर मेरे गर्वांकुर को नष्ट करते हैं; मेरे अहंकार को दूर कर मेरी अधिकाधिक उन्नति चाहते हैं तो मुझ पर वज्रपात हुआ। मेरा सारा क्रोध पानी बन कर मेरी आँखों से अश्रु-धारा के रूप में निकल पड़ा। ओह पिता, आप कितने महान् हैं! प्रतिदिन मेरी उन्नति के अभिलाषी! मेरे अहंकार को दूर कर मुझे साधना के पथ पर बढ़ाने वाले पिता! मैं पापी हूँ। पितृ-हत्या से प्रतिशोध लेनेवाला यह नारकीय पुत्र आज प्रायश्चित रूप में अपना मस्तक कटवाने की भिक्षा मांगता है।

[एक सिसकी]

श्रीधर—शान्त, शान्त! किन्तु न तो मैं प्रतिशोध लेता हूँ और भिक्षा देता हूँ।

भारवि—फिर भी मैं दण्ड चाहता हूँ।

श्रीधर—किन्तु मूर्ख, पितृ-हत्या का दण्ड पुत्र-हत्या नहीं है।

भारवि—फिर भी शास्त्र की आज्ञानुसार जो दण्ड हो, वही दीजिए।

श्रीधर—किन्तु मैंने तुम्हें क्षमा किया वत्स! दण्ड की व्यवस्था पाप के स्थिर रहने में है। जब यह पाप स्थिर नहीं रह सका तब दण्ड को आगे बढ़ने की आवश्यकता नहीं है।

भारवि—आप से शास्त्रार्थ करना मेरी अल्पज्ञता है पिता, पाप के लिए न सही मेरे प्रायश्चित के लिये भी तो कुछ व्यवस्था होनी चाहिए!

श्रीधर—तेरे लिये पश्चात्ताप ही प्रायश्चित है।

भारवि—आप महान् हैं, पिता। किन्तु जब तक आप प्रायश्चित की व्यवस्था मेरे लिये न करेंगे तब तक मेरे जीवन में एक ऐसी आग लगी रहेगी जिसका बुझाना मेरे लिये असंभव होगा। पिता अपनी पुत्रवत्सलता में अडिग रहे और पुत्र पितृ-हत्या का निश्चय कर भी अदण्डित रहे? मेरे लिये यह क्षमा असह्य होगी।

श्रीधर—माता की सेवा कर असह्य को सह्य बनाओ।

भारवि—पिता, माता की सेवा तो मेरे जीवन की चरम साधना है ही, किन्तु यदि आप चाहते हैं कि आप का भारवि जीवित रहे तो उसे दण्ड दीजिए।

श्रीधर—पुत्र यदि जीवन को ही दण्ड समझले तो क्या हानि है?

भारवि—पिता, मैं जीवन को दण्ड नहीं समझना चाहता। यह ब्रह्म की विभूति है। इसे चिन्ता में घुलाना पाप में लपेटना, दुःख में बिलखाना सबसे बड़ा अपराध है। इससे तो अच्छा है कि मैं आपकी अनुमति से दण्ड-स्वरूप आत्महत्या जैसे जघन्य पाप....

श्रीधर—[बीच ही में] भारवि !

भारवि—पिता ! मेरे मन की शांति के लिए आप शास्त्रानुसार दण्ड की व्यवस्था दें।

श्रीधर—छः मास तक श्वसुरालय में जाकर सेवा करना और जूठे भोजन पर अपना पोषण करना।

भारवि—छः मास तक श्वसुरालय में जाकर सेवा करना और जूठे भोजन पर अपना पोषण करना। बस ठीक, आज से यह मेरा प्रायश्चित प्रारम्भ हुआ। यह लीजिए तलवार (फेंक देता है।) इसे आप मेरे मित्र विजय घोष के पास पहुँचा दीजिए और मुझे इस प्रायश्चित की पूर्ति की आज्ञा दीजिए।

श्रीधर—किन्तु यह प्रायश्चित इसी क्षण से क्यों प्रारम्भ हो ?

(नेपथ्य में 'बेटा, यह गरम गरम भोजन जल्दी से कर ले' आवाज़ धीरे-धीरे पास आती हुई) तू बहुत भूखा होगा। जल्दी से भोजन कर ले।

सुशीला—(पास आकर) ला, तुझे मैं अपने हाथों से खिलाऊँ।

भारवि—नहीं, मां ! मुझे जूठा भोजन चाहिए।

सुशीला—[आश्चर्य से]—जूठा भोजन !

भारवि—हाँ माँ, आज से छः मास तक जूठा भोजन ही मेरा खाना है।

सुशीला—(आश्चर्य से)—छः महीने ?

भारवि—तूने भी तो भोजन नहीं किया है।

सुशीला—बेटा, तू खा ले ! मेरी आत्मा की तृप्ति हो जाएगी। मैं जी जाऊँगी।

भारवि—नहीं, पहले मैं अपने हाथों से तुझे एक ग्रास भोजन खिला दू।

सुशीला—पहले तू खा ले।

भारवि—नहीं मां, मेरी प्रार्थना मान ले। मैं पहले तुझे खिला दूं।

सुशीला—(ग्रास लेकर) धन्य मेरे लाल, अब ले तू खाले।

भारवि—नहीं माँ, मुझे क्षमा कर। छः महीने बाद तुम्हारे इन हाथों से भोजन करूँगा।

सुशीला—छः महीने बाद ! यह बात क्या है ? देखिए (श्रीधर की ओर) यह छः महीने की बात कैसी !

श्रीधर—(गम्भीर स्वर में)—यह उसका प्रायश्चित।

सुशीला—प्रायश्चित ! कैसा प्रायश्चित ?

भारवि—यह पिताजी स्पष्ट करेंगे। अब मुझे देर हो रही है। पिताजी, आज्ञा दें। माता आज्ञा दीजिए—आप दोनों के चरणों की धूल अपने सिर पर रख लूँ। अब मैं अपने आप से प्रतिशोध लूँगा। माता, प्रणाम। पिता, प्रणाम !

सुशीला—भारवि, मेरे लाल !

श्रीधर—गया भारवि।

सुशीला—मेरे लाल, लौट आओ !....

(नेपथ्य में भारवि का स्वर—प्रतिशोध ! प्रतिशोध !)

—

पाठ २

लक्ष्मी का स्वागत

लेखक—उपेन्द्र नाथ अश्क

[लेखक—श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का जन्म १९१० ई० में जालंधर में हुआ था और शिक्षा लाहौर में हुई थी। आप पंजाब यूनीवर्सिटी के ग्रेजुएट तथा एल एल० बी० हैं। पंजाबी होने के नाते आपने प्रारम्भ में उर्दू को साहित्यिक भाषा के रूप में अपनाया किन्तु १९३५ से आप हिन्दी में लिखने लगे और शीघ्र ही आप हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ लेखक माने जाने लगे। हिन्दी में आपने नाटकों के अतिरिक्त कहानियां, उपन्यास तथा उर्दू साहित्य सम्बन्धी रचनायें लिखी हैं। पंजाब के विभाजन के बाद आप प्रयाग में रहने लगे हैं। यद्यपि अश्क जी स्थायी रूप से अस्वस्थ रहते हैं किन्तु तो भी आप अपनी लेखनी के द्वारा हिन्दी की निरन्तर सेवा कर रहे हैं। आर्थिक कठिनाइयों के कारण इधर आपको हिन्दी प्रकाशन कार्य भी हाथ में लेना पड़ा है। आपके प्रसिद्ध नाटक-संकलन निम्नलिखित हैं:—जय-पराजय, स्वर्ग की झलक, देवताओं की छाया में, छै बेटे।

रचना—हिन्दी के एकांकी-नाटकों के लेखकों में 'अश्कजी' का स्थान बहुत ऊँचा माना जाता है। प्रस्तुत रचना 'देवताओं की छाया' शीर्षक सात सामाजिक एकांकी नाटकों के संकलन से ली गई है। इस में सुयोग्य नाटककार ने मध्ययुगीन हृदयहीन रूढ़ियों का एक उदाहरण अत्यन्त करुणात्मक रूप में चित्रित किया है। अपने देश के मध्ययुग के प्रतीक एक पंजाबी माता-पिता अपने विधुर पुत्र रौशनलाल का दूसरा

विवाह एक बड़े घर में ठीक करने के लिए उत्सुक हैं जब कि रौशनलाल का एकमात्र मातृहीन पुत्र मृत्यु-शैया पर आखिरी सांसें ले रहा है और रौशनलाल उसकी शुश्रूषा तथा प्राणरक्षा में अत्यंत व्यग्र और चिन्तित है।

बीमार बच्चे के कमरे के बाहर ही रुक कर कलावित् नाटककार ने बालक की घातक बीमारी और अन्तिम घड़ियों का जीता जागता चित्र पाठकों के सामने लाकर उपस्थित कर दिया है। प्रकृति के रौद्ररूप के द्वारा लेखक ने इस दुखान्त घटना के लिए उचित पृष्ठभूमि तैयार की है। एकांकी की कला की दृष्टि से अश्कजी की यह कृति अत्यंत उत्कृष्ट मानी जाती है।]

स्थान—

ज़िला जालन्धर के इलाक़े में मध्यम श्रेणी के एक मकान का दालान।

समय—

नौ दस बजे सुबह।

[दालान में सामने की दीवार से मेज़ लगी है, जिसके इस ओर एक पुरानी कुर्सी पड़ी है; मेज़ पर बच्चों की किताबें बिखरी पड़ी हैं।

दीवार के दायें कोने में एक खिड़की है, जिस पर मामूली छींट का पर्दा लगा है; बायें कोने में एक दरवाज़ा है, जो सीढ़ियों में खुलता है।

दायीं दीवार में एक दरवाज़ा है जो उस कमरे में खुलता है, जहाँ इस समय रौशन का बच्चा अरुण बीमार पड़ा है।

दीवारों पर बिना फ्रेम के सस्ती तस्वीरें मेखों से जड़ी हुई हैं। छत पर काग़ज़ का एक पुराना फ़ानूस लटक रहा है।

पर्दा उठने पर सुरेन्द्र खिड़की से बाहर की ओर देख रहा है। बाहर मूसलाधार वर्षा हो रही है। हवा की साँय-साँय और वर्षा के थपेड़े सुनाई देते हैं।

कुछ क्षण बाद खिड़की का पर्दा छोड़कर कमरे में घूमता है। फिर जाकर खिड़की के पास खड़ा हो जाता है और पर्दा हटाकर बाहर देखता है।

बीमार के कमरे से रौशनलाल प्रवेश करता है।

रौशन : (दरवाजे को धीरे से बन्द करके) डाक्टर अभी नहीं आया ?

सुरेन्द्र : नहीं।

रौशन : वर्षा हो रही है ?

सुरेन्द्र : मूसलाधार ! जल थल एक हो रहे हैं।

रौशन : शायद ओले पड़ रहे हैं।

सुरेन्द्र : हाँ, ओले भी पड़ रहे हैं।

रौशन : भाषी पहुँच गया होगा ?

सुरेन्द्र : हाँ, पहुँच गया होगा। यह वर्षा और ओले ! नदियाँ बह रही होंगी बाज़ारों में !

रौशन : पर अब तक आ जाना चाहिए था उन्हें। (स्वयं बढ़कर खिड़की के पर्दे को हटाकर देखता है, फिर पर्दा छोड़ कर वापस आ जाता है—टूटे टूटे स्वर में) अरुण की तबियत गिर रही है।

सुरेन्द्र : (चुप)

रौशन : (उसी आवाज में) उसकी साँस जैसे हर घड़ी रुकती जा रही है; उसका गला जैसे बन्द होता जा रहा है; उसकी आँखें खुली हैं, पर वह कुछ कह नहीं सकता, बेहोश-सा, असहाय-सा, चुपचाप बिटर-बिटर तक रहा है। आँखें लाल और शरीर गर्म।

सुरेन्द्र, जब वह साँस लेता है तो उसे बड़ा ही कष्ट होता है। (दीर्घ निश्वास छोड़ता है।) क्या होने को है सुरेन्द्र ?

सुरेन्द्र : हौसला करो ! अभी डाक्टर आ जायगा। देखो, दरवाज़े पर किसी ने दस्तक दी है।

(दोनों कुछ क्षण तक सुनते हैं। हवा की साँय-साँय।)

रौशन : नहीं, कोई नहीं, हवा है।

सुरेन्द्र : (सुनकर) यह देखो, फिर किसी ने दस्तक दी।

[रौशन बढ़कर खिड़की में देखता है, फिर वापस आ जाता है।]

रौशन : सामने के मकान का दरवाजा खटखटाया जा रहा है।

[बेचैनी से कमरे में घूमता है। सुरेन्द्र कुर्सी से पीठ लगाये छत में हिलते हुए फ़ानूस को देख रहा है।]

रौशन : (घूमते हुए जैसे अपने आप) यह मामूली ज्वर नहीं, गले का यह कष्ट साधारण नहीं, (सहसा सुरेन्द्र के पास रुक कर) मेरा तो दिल डर रहा है, कहीं अपनी माँ की भाँति अरुण भी तो मुझे धोखा न दे जायेगा ? (गला भर आता है) तुमने उसे नहीं देखा, साँस लेने में उसे कितना कष्ट हो रहा है ?

(हवा की साँय-साँय और वर्षा के थपेड़े।)

यह वर्षा, यह आँधी, यह मेरे मन में हौल पैदा कर रहे हैं। कुछ अनिष्ट होने को है। प्रकृति का यह भयानक खेल, मौत की ये आवाज़ें..........

[बिजली जोर से कड़क उठती है। बादल गरजते हैं और मकानों के किवाड़ खड़खड़ा उठते हैं।]

रसोई-घर से माँ की आवाज : रौशी दरवाजा खोल आओ। देखो शायद डाक्टर आया है।

(रौशन सुरेन्द्र की ओर देखता है ।)

सुरेन्द्र : मैं जाता हूँ अभी ।

[तेज़ी से जाता है । रौशन बेचैनी से कमरे में घूमता है । सुरेन्द्र के साथ डाक्टर और भाषी प्रवेश करते हैं । भाषी के हाथ में इंजेक्शन का सामान है ।]

डाक्टर : क्या हाल है बच्चे का ?

[बरसाती उतारकर खूँटी पर टाँगता है और रूमाल से मुँह पोंछता है ।]

रौशन : आपको भाषी ने बतलाया होगा डाक्टर साहब ! मेरा तो जैसे हौसला टूट रहा है । कल सुबह उसे कुछ ज्वर हुआ । साँस कुछ कष्ट से आने लगा, किन्तु आज तो वह अचेत-सा पड़ा, जैसे अन्तिम सांसों को जाने से रोक रखने की प्रबल कोशिश कर रहा है ।

डाक्टर : चलो, देखता हूँ ।

[सब बीमार के कमरे में चले जाते हैं । बाहर दरवाजे के खटखटाने की आवाज आती है । मा तेजी से प्रवेश करती है ।]

मा : भाषी ! भाषी !

(बीमार के कमरे से भाषी आता है ।)

देखो भाषी बाहर कौन दरवाज़ा खटखटा रहा है (आँख में चमक आ जाती है) मेरा तो ख्याल है, वही लोग आये हैं । मैंने रसोई-घर की खिड़की से देखा है । टपकते हुए छाते लिए और बरसातियाँ पहने.........

भाषी : वह कौन ?

मा : वही जो सरला के मरने पर अपनी लड़की के लिए कह रहे थे । बड़े भले आदमी हैं । सुनती हूँ, सियालकोट में उनका बड़ा काम है । इतनी वर्षा में भी........

[ज़ोर-ज़ोर से कुंडी खटखटाने की आवाज़ ! भाषी भागकर जाता है, माँ खिड़की में जा खड़ी होती है । बीमार के कमरे का दरवाज़ा खुलता है, सुरेन्द्र तेजी से प्रवेश करता है ।]

सुरेन्द्र : भाषी कहाँ है ?

मा : वाहर कोई आया है, कुंडी खोलने गया है ।

[फिर तेजी से वापस चला जाता है । मा एक बार पर्दा उठाकर खिड़की से झाँकती है, फिर खुशी-खुशी कमरे में टहलती है । भाषी प्रवेश करता है ।]

मा : कौन हैं ?

भाषी : शायद वही हैं । नीचे वैठा आया हूँ, पिता जी के पास तुम चलो ।

मा : क्यों ?

भाषी : उनके साथ एक स्त्री भी है ।

[मा जल्दी-जल्दी चली जाती है । सुरेन्द्र कमरे का दरवाजा जरा-सा खोल कर देखता है और आवाज देता है—]

सुरेन्द्र : भाषी !

भाषी : हाँ !

सुरेन्द्र : इधर आओ ।

[भाषी कमरे में चला जाता है । कुछ क्षण के लिए मौन छा जाता है । केवल वाहर मेह बरसने और हवा के थपेड़ों से किवाड़ों के खड़खड़ाने का शोर कमरे में आता है । हवा से फानूस सरसराता है । कुछ क्षण बाद डाक्टर, सुरेन्द्र, रौशन और भाषी बाहर आते हैं ।]

रौशन : अब बताइये डाक्टर साहब !

डाक्टर : (अत्यधिक गम्भीरता से) बच्चे की हालत नाज़ुक है।

रौशन : बहुत नाज़ुक है ?

डाक्टर : हाँ !

रौशन : कुछ नहीं हो सकता ?

डाक्टर : भगवान के घर कुछ कमी नहीं, पर आपने बहुत देर कर दी डिपथीरिया † में तत्काल डाक्टर को बुलाना चाहिये।

रौशन : हमें मालूम नहीं हुआ डाक्टर साहब, कल साँझ को इसे ज्वर हो आया, गले में भी इसे बहुत कष्ट लगा। मैं डाक्टर जीवाराम के पास ले गया—वही जो हमारे बाजार में हैं—उन्होंने गले में आयोडीन-ग्लिसरीन पेंट कर दी और फीवर-मिक्स्चर बना दिया, दो खुराकें दीं, इसकी हालत तो पहले से भी खराब होगई। शाम को यह कुछ अचेत-सा हो गया। मैं भागा-भागा आपके पास गया, पर आप मिले नहीं, तब रात को भाषी को भेजा, फिर भी आप न मिले। और फिर यह झड़ी लग गई—ओले, आँधी और झक्कड़ ! जैसे प्रलय के बन्धन ढीले हो गये हों।

[बाहर हवा की साँय-साँय सुनाई देती है। डाक्टर सिर नीचा किए खड़ा है, रौशन उत्सुक दृष्टि से उसकी ओर तक रहा है; सुरेन्द्र मेज के एक कोने पर बैठा छत की ओर ज़ोर-ज़ोर से हिलते फानूस को देख रहा है।]

डाक्टर : (सिर उठाता है) मैंने इंजेक्शन दे दिया है। भाषी ने जो लक्षण बताये थे उन्हें सुनकर मैं बचाव के तौर पर इंजेक्शन का सामान ले आया था और मेरा ख्याल ठीक निकला। भाषी को मेरे साथ भेज दो, मैं इसे नुस्खा लिख देता हूँ, यहीं बाजार से दवाई

---

† डिपथीरिया—गले का संक्रामक रोग जिसमें साँस बन्द हो जाने से मृत्यु हो जाती है। माँससंतानिका !

बनवा लेना, मेरी जगह तो दूर है पन्द्रह-पन्द्रह मिनट के बाद कंठ में दवाई की दो-चार बूँदें, और एक घंटे में मुझे सूचित करना। यदि एक घंटे तक यह ठीक रहा तो मैं एक इंजेक्शन और कर जाऊँगा। कोई दूसरा इलाज भी तो नहीं !

रौशन : डाक्टर साहब, (आवाज भर आती है।)

डाक्टर : घबराने से काम न चलेगा, सावधानी से उसकी शुश्रूषा करो, शायद............

रौशन : मैं अपनी ओर से कोई कसर न उठा रखूँगा डाक्टर साहब। सुरेन्द्र, देखो तुम मेरे पास रहना, जाना नहीं, यह घर इस बच्चे के लिए वीराना है। ये लोग इसका जीवन नहीं चाहते, बड़ा रिश्ता पाने के मार्ग में इसे रोड़ा समझते हैं। इसकी मृत्यु चाहते हैं............

सुरेन्द्र : क्या कहते हो रौशन............

डाक्टर : रौशनलाल............

रौशन : आप नहीं जानते डाक्टर साहब ! ये सब लोग हृदय-हीन हैं, आपको मालूम नहीं। इधर मैं अपनी पत्नी का दाहकर्म करके आया था, उधर ये दूसरी जगह शादी के लिए शगुन लेने की सोच रहे थे !

सुरेन्द्र : यह तो दुनिया का व्यवहार है भाई !

रौशन : दुनिया का व्यवहार—इतना निठुर, इतना निर्मम, इतना क्रूर ! नहीं जानता कि जो मर जाती है, वह भी किसी की लड़की होती है, किसी के लाड़ प्यार में पली होती है, फिर........ (डाक्टर जाते देखकर) आप जा रहे हैं डाक्टर साहब (भाषी से) देखो भाषी जल्दी आना, बस, जैसे यहीं खड़े हो।

(डाक्टर और भाषी चले जाते हैं)

रौशन : सुरेन्द्र, क्या होने को है ? क्या अरुण भी मुझे सरला की भाँति छोड़कर चला जायगा ! मैं तो उसे देखकर सरला का दुख भूल चुका था, लेकिन अब....अब....

(हाथों से चेहरा छिपा लेता है ।)

सुरेन्द्र : (उसे धकेल कर कमरे की ओर ले जाता हुआ) पागल न बनो, चलो, उसके घर में क्या कमी है ? वह चाहे तो मुर्दों में जान आ जाय, मरणासन्न उठ कर खड़े हो जायँ ।

रौशन : (भर्राये गले से) मुझे उसपर कोई विश्वास नहीं रहा । उसका कोई भरोसा नहीं—निर्मम और क्रूर ! उसका काम सताये हुओं को और सताना है, जले हुओं को और जलाना है ।

सुरेन्द्र : दीवाने न बनो, चलो, उसके सिरहाने चलकर बैठो ! मैं देखता हूँ, भाषी अभी क्यों नहीं आया ?

[उसे दरवाजे के अन्दर धकेल कर मुड़ता है । दायीं ओर के दरवाजे से मा प्रवेश करती है ।]

मा : किधर चले ?

सुरेन्द्र : जरा भाषी को देखने जा रहा था ।

मा : क्या हाल है अरुण का ?

सुरेन्द्र : उसकी हालत खराब हो रही है ।

मा : हमने तो बाबा बोलना ही छोड़ दिया है । ये डाक्टर जो न करें थोड़ा है । बहू के मामले में भी तो यही बात हुई थी । अच्छी भली हकीम की दवा हो रही थी । आराम हो रहा था । जिगर का बुखार ही तो था, दो-दो वर्ष भी रहता है पर यह डाक्टरों को लाये बिना न माना । और उन्होंने दे दिया दिक का फ़तवा, हमने तो

भाई इसीलिए कुछ कहना सुनना ही छोड़ दिया है। आखिर मैंने भी तो पाँच-पाँच बच्चे पाले हैं। बीमारियाँ हुईं, कष्ट हुए, कभी डाक्टरों के पीछे भागी-भागी नहीं फिरी। क्या बताया डाक्टर ने?

सुरेन्द्र : डिपथीरिया!

मा : क्या!............

सुरेन्द्र : बड़ी भयानक बीमारी है मा जी! अच्छा-भला आदमी चन्द घंटों के अन्दर समाप्त हो जाता है।

मा : राम राम! तुम लोगों ने क्या कुछ-का-कुछ बना डाला। उसे जरा ज्वर हो गया है, छाती जम गयी होगी, बस मैं घुट्टी दे देती तो ठीक हो जाता, पर मुझे कोई हाथ लगाने दे तब न! हमें तो वह कहता है, बच्चे से प्यार ही नहीं।

सुरेन्द्र : नहीं नहीं, यह कैसे हो सकता है आप से अधिक वह किसे प्रिय होगा!

(चलने को उद्यत होता है।)

मा : सुनो!

(सुरेन्द्र रुक जाता है।)

मा : मैं तुमसे एक बात करने आयी थी, तुम उसके मित्र हो उसे समझा सकते हो।

सुरेन्द्र : कहिये?

मा : आज वे फिर आये हैं।

सुरेन्द्र : वे कौन?

मा : सियालकोट के एक व्यापारी हैं। जब सरला का चौथा हुआ था तो उस दिन रौशी के लिए अपनी लड़की का शगुन लेकर आये थे। पर उसे न जाने क्या हो गया है, किसी की सुनता ही

नहीं, सामने ही न आया। हारकर बेचारे चले गये। रौशी के पिता ने उन्हें एक महीने बाद आने को कहा था, सो पूरे एक महीने बाद वे आये हैं।

सुरेन्द्र : मा जी........

मा : तुम जानते हो बच्चा, दुनिया जहान का यह नियम है। गिरे हुए मकान की नींव पर ही दूसरा मकान खड़ा होता है। रामप्रताप ही को देख लो, अभी दाह-कर्म-संस्कार के बाद नहा कर साफा भी न निचोड़ा था कि नकोदरवालों ने शगुन दे दिया, एक महीने के बाद व्याह भी हो गया और अब तो सुनते हैं, बच्चा भी होने वाला है।

सुरेन्द्र : मा जी, रामप्रताप और रौशन में कुछ अन्तर है।

मा : यही न, कि वह माता-पिता का आज्ञाकारी है, और यह पढ़-लिख कर अवज्ञा करना सीख गया है। बेटा, अभी तो चार नाते आते हैं, फिर देर हो गयी तो इधर कोई मुँह भी न करेगा। लोग सौ सौ बातें बनायेंगे, सौ-सौ लाँछन लगायेंगे और फिर कौन ऐसा काँरा है........

सुरेन्द्र : मा जी, तुम्हारा रौशन बिन-व्याहा न रहेगा, इसका मैं विश्वास दिलाता हूँ।

मा : यह ठीक है बेटा, पर अब ये भले आदमी मिलते हैं। घर अच्छा है, लड़की अच्छी है, सुशील है, सुन्दर है, सुशिक्षित है। और सब से बढ़कर यह है कि ये लोग बड़े अच्छे हैं। लड़की की बड़ी बहन से अभी मैंने बातें की हैं। ऐसी सलीक़े वाली है कि क्या कहूँ। बोलती है तो फूल तोलती है। जिस की बड़ी बहन ऐसी है वह स्वयं कैसे न अच्छी होगी?

सुरेन्द्र : मा जी, अरुण की दशा शोचनीय है। जाकर देखो तो मालूम हो।

मा: बेटा, अब ये भी तो इतनी दूर से आये हैं—इस आँधी और तूफान में ! कैसे इन्हें निराश लौटा दें ?

सुरेन्द्र : तो आखिर आप मुझसे क्या चाहती हैं ?

मा : तुम्हारा वह मित्र है, उससे जाकर कहो कि ज़रा दो-चार मिनट जाकर उनसे बात कर ले। जो कुछ वे पूछते हों, उन्हें बता दे, इतने में मैं लड़के के पास बैठती हूँ।

सुरेन्द्र : मुझसे यह नहीं हो सकता मा जी ! बच्चे की दशा ठीक नहीं बल्कि चिन्ताजनक है। आप नहीं जानतीं, वह उसे कितना प्यार करता है। भाभी के बाद उसका सब ध्यान उसी में केन्द्रित हो गया है। और इस समय जब बच्चे की दशा ठीक नहीं, मैं उससे यह सब कैसे कहूँ ?

[बीमार के कमरे का दरवाजा खुलता है। रौशन प्रवेश करता है—बाल बिखरे हुए, चेहरा उतरा हुआ, आखें फटी फटी सी !]

रौशन : सुरेन्द्र, तुम अभी यहीं खड़े हो ? भगवान के लिए जाओ, जल्दी जाओ ! मेरी बरसाती ले जाओ, नीचे से छतरी ले जाओ, देखो भाषी अभी आया क्यों नहीं ? अरुण तो·······

सीढ़ियों से : मैं आ गया भाई साहब !

[भाषी दवाई की शीशी लिए आता है। सुरेन्द्र और भाषी बीमार के कमरे में जाते हैं। मा रौशन के समीप आती है।]

मा : क्या बात है, घबराये हुए क्यों हो ?

रौशन : मा उसे डिपथीरिया हो गया है।

मा : मुझे सुरेन्द्र ने बताया। (असन्तोष से सिर हिलाकर) तुम लोगों ने मिल-मिलाकर........

रौशन : क्या कह रही हो ? तुम्हें स्वयं अगर किसी बात का पता नहीं तो दूसरों को तो कुछ कहने दो।

मा : चलो, मैं चलकर देखती हूँ।

(बढ़ती है।)

रौशन : (रास्ता रोकता है) नहीं, तुम मत जाओ। उसे बेहद कष्ट है; साँस उसे मुश्किल से आती है; उसका दम उखड़ रहा है; तुम कोई घुट्टी-वुट्टी की बात करोगी।

(जाना चाहता है।)

मा : सुनो !

रौशन मुड़ता है। मा असमंजस में है।)

रौशन : कहो !

मा : चुप।

रौशन : जल्दी कहो मुझे जाना है।

मा : वे फिर आये हैं।

रौशन : वे कौन ?

मा : वही सियालकोट वाले !

रौशन : (क्रोध से) उनसे कहो, जहाँ से आये हैं वहीं चले जायँ।

(जाना चाहता है)

मा : रौशी !

रशन : मैं नहीं जानता, मैं पागल हूँ या आप ! क्या आप मेरी

सूरत नहीं देखते क्या आपको इस पर कुछ लिखा दिखाई नहीं देता? शादी, शादी, शादी ! क्या शादी ही दुनिया में सब कुछ है ! घर में बच्चा मर रहा है और तुम्हें शादी की सूझ रही है। आखिर आप लोगों को हो क्या गया है? क्या वह मेरी पत्नी न थी क्या वह ·······

मा : शोर मत मचाओ ! हम तुम्हारे ही लाभ की बात कर रहे हैं, रामप्रताप·······

रौशन : (चीखकर) तुम रामप्रताप को मुझसे मिलाती हो ! अपढ़, अशिक्षित, गँवार ! उसके दिल कहाँ है ? महसूस करने का माद्दा कहाँ है ? वह जानवर है।

मा : तुम्हारे पिता ने भी तो पहली पत्नी की मृत्यु के दूसरे महीने ही विवाह कर लिया था·······

रौशन : वे·······मा जाओ, मैं क्या कहने लगा था।

(तेजी से मुड़कर कमरे में चला जाता है दरवाजा खट से बन्द कर लेता है। हाथ में हुक्का लिये हुए खँखारते खँखारते रौशन के पिता प्रवेश करते हैं।)

पिता : क्या कहता है रौशन ?

मा : वह तो बात भी नहीं सुनता, जाने बच्चे की तबीयत बहुत खराब है।

पिता : (खंखार कर) एक दिन में ही इतनी क्या ख़राब हो गयी ? मैं जानता हूँ, यह सब बहानेबाजी है।

(जोर से आवाज देता है) —रौशी,

(खिड़कियों पर वायु के थपेड़ों की आवाज !)

(फिर आवाज़ देता है)—रौशी,

[रौशन दरवाजा खोलकर झांकता है। चेहरा पहले से भी उतरा हुआ है, आंखें रुँआसी और निगाहों में करुणा।]

रौशन : (अत्यन्त थके स्वर से) धीरे बोलें आप, क्या शोर मचा रहे हैं !

पिता : इधर आओ !

रौशन : मेरे पास समय नहीं !

पिता : (चीख़कर) समय नहीं ?

रौशन : धीरे बोलें आप !

पिता : मैं कहता हूँ, इतनी दूर से आये हैं, तुम्हें देखना चाहते हैं, तुम जाकर उनसे ज़रा एक-दो मिनट बात कर लो।

रौशन : मैं नहीं जा सकता !

पिता : नहीं जा सकता ?

रौशन : नहीं जा सकता !

पिता : तो मैं शगुन ले रहा हूँ ! इस वर्षा, आँधी और तूफ़ान में उन्हें अपने घर से निराश नहीं लौटा सकता। घर आयी लक्ष्मी का निरादर नहीं कर सकता।

(रोने की तरह रौशन हंसता है।)

रौशन : हाँ, आप लक्ष्मी का स्वागत कीजिए।

(खट से दरवाजा बन्द कर लेता है।)

पिता : (रौशन की मा से) इस एक महीने में हमने कितनों को इनकार नहीं किया, किन्तु इनको कैसे न कर दें ? सियालकोट में इनकी बड़ी भारी फ़र्म है। मैंने महीने भर में अच्छी तरह पता लगा लिया है। हज़ारों का तो इनके यहाँ लेन-देन है।

मा : बहू की बीमारी का पूछते होंगे ?

पिता : उन्हें सन्देह था, पर मैंने कह दिया, जिगर का ताप था। बिगड़ गया।

मा : बच्चे का पूछते होंगे !

पिता : हाँ पूछते थे। मैंने कह दिया कि बच्चा है, पर मां की मृत्यु के बाद उसकी हालत ठीक नहीं रहती, परमात्मा ही मालिक है।

मा : तो आप हाँ कर दें।

पिता : हाँ मैं तो शगुन ले लूँगा।

[चले जाते हैं। हुक्के की आवाज दूर होते-होते गुम हो जाती है मां खुशी-खुशी कमरे में घूमती है, भापी आता है और तेजी से निकल जाता है।]

मा : भाषी !

भाषी : मैं डाक्टर के यहाँ जा रहा हूँ।

[तेज़ी से चला जाता है बीमार के कमरे से सुरेन्द्र निकलता है।]

सुरेन्द्र : (भरी हुई आवाज़ में) मा जी........

मा : (घबराये स्वर में) क्या बात है ? क्या बात है ?

सुरेन्द्र : दाने लाओ और दिये का प्रबन्ध करो !

मा : क्या ?

[आँखें फाड़े उसकी ओर देखती रह जाती है—हवा की साँय-साँय]।

सुरेन्द्र : अरुण इस संसार से जा रहा है !

[फ़ानस टूट कर धरती पर गिर पड़ता है। मा भागकर दरवाजे पर जाती है।]

मा : रौशी, रौशी ! ......

(दरवाजा अन्दर से बन्द है।)

मा : रौशी, रौशी !

रौशन : (कमरे के अन्दर से भर्राये हुए स्वर में) क्या बात है ?

मा : दरवाज़ा खोलो ?

रौशन : तुम लक्ष्मी का स्वागत कर आओ !

मा : रौशी—

रौशन : (चुप !)

मा : रौशी !

[सीढ़ियों से रौशन के पिता के हुक्का पीने और खँखारने की आवाज़ आती है।]

पिता : (सीढ़ियों से ही) रौशन की मा, बधाई हो !

(पिता का प्रवेश। मा उनकी ओर मुड़ती है।)

पिता : बधाई हो, मैंने शगुन ले लिया।

[कमरे का दरवाजा खुलता है, मृत बालक का शव लिये रौशन आता है।] ....

रौशन : हाँ, नाचो, गाओ, खुशियाँ मनाओ !

पिता : हैं ? मर गया !

[हाथ से हुक्का गिर पड़ता है और मुंह खुला रह जाता है।]

मां : मेरा लाल !

(चीख़ मार कर सिर थामे धम से बैठ जाती है।)

सुरेन्द्र : मा जी, दाने लाओ और दिये का प्रबन्ध करो !

पर्दा

पाठ ३

मानव-मन

सेठ गोविन्ददास

सेठ गोविन्ददास का जन्म १८९७ ई० में जबलपुर (मध्यप्रदेश) के प्रसिद्ध सेठ परिवार में हुआ। आपकी शिक्षा घर पर ही हुई। साहित्यानुराग आपको बचपन से रहा है जिसको घर का वैभवपूर्ण वातावरण तथा राजनीतिक जीवन के संघर्ष भी दबा न सके। मध्यप्रदेश के आप प्रमुख काँग्रेस नेता रहे हैं। नाटक रचना की ओर आपकी विशेष अभिरुचि रही है। आपके कुछ प्रसिद्ध नाटक निम्नलिखित हैं:—हर्ष, कर्तव्य, प्रकाश, स्पर्धा, सप्तरश्मि और शशिगुप्त।

रचना—प्रस्तुत एकांकी में सुयोग्य लेखक ने मनुष्य के विचित्र मन की एक झाँकी उपस्थित की है। परंपरागत सामाजिक आदर्शों के रहते हुए भी मानव मन मनुष्य को असाधारण व्यवहारों की ओर अनजाने अग्रसर कर सकता है। उसके प्रधान पात्र दो स्त्रियां—पद्मा तथा भारती हैं। एकमात्र प्रधान पुरुष पात्र पद्मा के पति कृष्णवल्लभ हैं।]

पात्र

पद्मा ····२१, २२ वर्ष की एक पतिपरायणा युवती
भारती ····पद्मा की पड़ोसिन, एक विधवा स्त्री
कृष्णवल्लभ ····पद्मा के पति
मुनीम, ····समाधानी

उपक्रम

स्थान—कृष्णवल्लभ के मकान का बरामदा

समय—प्रातःकाल

[बरामदा आधुनिक ढंग का है और उसी तरह सजा भी है। पीछे की दीवाल दिखती है और दो तरफ खंभों पर डाटें। दीवाल गुलाबी रंग से रँगी है उस पर भी श्रीनाथ जी, यमुना जी और श्रीकृष्ण की अनेक लीलाओं के चित्र टँगे हैं। डाटों में से बग़ीचे का कुछ हिस्सा दिखाई देता है जो उगते हुए सूर्य के प्रकाश से रँग रहा है। बरामदे के सीलिंग से बिजली की बत्तियाँ झूल रही हैं और जमीन पर, जो संगमरमर से पटी है, अनेक सोफे, कुर्सियाँ और टेबिलें सजी हैं। एक कुर्सी पर पद्मा बैठी हुई है और अपने सामने की टेबिल पर रखी हुई एक खुली चिट्ठी ध्यान से पढ़ रही है। पद्मा करीब २१, २२ साल की साधारण कद और सुडौल शरीर की सुन्दर स्त्री है। रंग गोरा है। रेशमी साड़ी, ब्लाउस और रत्नजटित आभूषण पहने है। मस्तक पर लाल टिकली है। और उसी के नीचे दोनों भवों के बीच में श्रीनाथ जी का पीला चरणामृत लगा है। भारती का प्रवेश। उसकी अवस्था करीब ४० वर्ष की है। वह लंबे कद की दुबली पतली साधारण तथा सुन्दर स्त्री है। रंग गेहुँआँ है। सूती साड़ी और सलूका पहने है वेषभूषा से विधवा जान पड़ती है।]

भारती—(पद्मा के निकट आते हुए) बड़े ध्यान से पढ़ रही हो, बहन ?

पद्मा—(चौंक कर) ओ भारती बहन, (खड़े होकर) आओ बैठो बहन ?

[भारती और पद्मा दोनों कुर्सियों पर बैठ जाती हैं)

भारती—क्या पढ़ रही थीं ?

पद्मा—उनकी चिट्ठी आई है।

भारती—तभी इतनी ध्यानावस्थित थीं कि मेरी बोली सुनकर भी चौंक पड़ीं।

पद्मा—उनका पत्र मुझे ध्यानावस्थित करने को काफ़ी है, यह मैं मानती हूँ, पर ध्यान-मग्न होने का एक और भी सबब था।

भारती—क्या ?

पद्मा—उस पत्र के समाचार।

भारती—क्यों, उनके मित्र की तबियत कैसी है ?

पद्मा—वैसी ही है, क्षय ऐसी बीमारी नहीं, जो जल्दी अच्छी हो जाय, या बिगड़ जाय।

भारती—फिर वहाँ से और क्या समाचार आ सकते हैं ?

पद्मा—सुन लो, पत्र ही सुना देती हूँ। (पत्र उठाकर पढ़ते हुए) "तुम्हें यहाँ का हाल पढ़ कर आश्चर्य हो सकता है, पर इस ज़माने में इस तरह की चीज़ें कोई ताज्जुब की बात नहीं हैं........

भारती—किस तरह की चीज़ें ?

पद्मा—वही तो पढ़ती हूँ, सुनो। (पत्र पढ़ते हुए) "इस दफ़ा भाभी जी का विचित्र किस्सा है। बृजमोहन की तबियत वैसी ही होते हुए भी, उनके पलङ्ग पर पड़े रहने पर भी, इधर उधर हिलने डुलने की ताक़त न होने पर भी, भाभी जी का पुराना प्रोग्राम फिर लौट आया है। नित्य प्रातःकाल एक घंटा टब और शावर बाथ में लगता है। फिर बाल सँवारने, पाउडर लगाने, लिपस्टिक और नेल पेण्ट को काम में लाने में काफ़ी वक्त लग जाता है। रोज़ नई साड़ी और ब्लाउज़ पहना जाता है। हर दिन शाम का समय क्लब में जाता है

और अगर किसी दिन गार्डेन पार्टी या डिनर या डान्स का न्योता आ गया तो रात को भी लौटने का कोई निश्चित वक्त नहीं रहता। वृजमोहन को सम्हालते हैं डाक्टर और जहाँ तक भाभी का सम्बन्ध है वहाँ तक एक दफ़ा वृजमोहन की तबीयत पूछ लेने से उनके कर्त्तव्य की समाप्ति हो जाती है।" (पत्र टेबिल पर रखकर भारती की तरफ देखते हुए) कहो, बहन, पत्र के समाचार ध्यानावस्थित कर देने के लायक हैं या नहीं ?

भारती—(गम्भीरता से) तुम्हें इन समाचारों से अचंभा हुआ है ?

पद्मा—अचंभा ! बड़े से बड़ा अचंभा जो दुनिया में हो सकता है।

भारती—वृजमोहन जी कितने दिन से बीमार हैं ?

पद्मा – कोई दो साल हो गये होंगे।

भारती—और उनकी पत्नी का और उनका बीमारी के पहले कैसा सम्बन्ध था ?

पद्मा—अच्छे से अच्छा। दोनों कालेज के प्रेमी थे और शादी प्रेम के परिणाम-स्वरूप हुई थी। तभी तो भाभी जी का यह व्यवहार और भी आश्चर्य पैदा करता है।

[भारती चुपचाप कुछ सोचने लगती है। पद्मा उसकी ओर देखती है। कुछ देर निस्तब्धता रहती है।]

भारती—कृष्णावल्लभजी पहले पहल वृजमोहन जी को देखने गये हैं ?

पद्मा—नहीं, एक दफ़ा उनकी बीमारी के शुरू में गये थे।

भारती—उस समय भाभी जी का क्या हाल था ?

पद्मा—इसके ठीक विपरीत। उक्त समय वृजमोहन जी की बीमारी उनके दिवस की चिन्ता और रात्रि का स्वप्न थी। उनकी

दिनचर्या वृजमोहन जी के नजदीक बैठे-बैठे चौबीस घंटे गुजारना था। डाक्टरों और नर्सों के रहते हुए वे ही उन्हें दवा देती थीं वे ही उनका टॆम्प्रेचर लेती थीं। वे ही अपने हाथों उनका सारा काम करती थीं। तभी""तभी तो अब भाभी जी के व्यवहार से ताज्जुब होता है। (कुछ ठहर कर) तुम्हें इससे अचम्भा नहीं होता, बहन?

भारती—(गम्भीरता से) नहीं।

पद्मा—नहीं?

भारती—नहीं, बहन, बरदाश्त करने की भी हद होती है।

पद्मा—बरदाश्त की हद होती है?

भारती—जरूर। सहन-शक्ति सीमा-रहित नहीं है।

पद्मा—ऐसे मामलों में भी?

भारती—हरेक मामले में।

पद्मा—क्या कहती हो, बहन, क्या कहती हो? पति बीमार हो, खाट पर पड़ा हो, उठने बैठने, हिलने डुलने की ताक़त न हो और पत्नी इस तरह वेश-भूषा करे, इस तरह गुलछर्रे उड़ाये! कहाँ गया भाभी जी का उनके प्रति प्रेम? कहाँ गई भाभी जी की उनकी वह सेवा जो बीमारी के शुरू में थी?

भारती—तुम्हारी भाभी जी दो वर्षों तक उस तरह अपनी जिन्दगी नहीं बिता सकती थीं जिस तरह उन्होंने वृजमोहन जी की बीमारी के शुरू में बिताना आरम्भ किया था।

पद्मा—तब तो शायद वे यह चाहती होंगी कि वृजमोहन जी का""वृजमोहन जी का जीवन""""जीवन ही समाप्त हो जाय?

भारती—संभव है।

पद्मा—(उत्तेजना से) वह स्त्री नहीं, सुना बहन, सच्ची स्त्री नहीं। पति की बीमारी में, बीमार पति की सेवा में, दो वर्ष नहीं अगर सारा जीवन भी बीत जाय तो स्त्री को रो-धोकर नहीं पर शान्ति से उसे बिता देना चाहिये।

भारती—यह कहना जितना सरल है, करना उतना ही कठिन है।

पद्मा—नई रोशनी की औरतों के लिए होगा जिन्हें न धर्म पर विश्वास है और न भगवान पर भरोसा, जिनके लिए विवाह धार्मिक संस्कार नहीं पर एक इक़रारनामा है, जिनके एक जीवन में ही एक नहीं अनेक शादियाँ हो सकती हैं, एक नहीं अनेक पति मिल सकते हैं।

भारती—मैं समझती हूँ सभी के लिए।

पद्मा—(ताने से) क्या अपने अनुभव से कहती हो !

भारती—(गम्भीरता से) सोच सकती हो। (कुछ ठहर कर) बहन, मैं नई रोशनी की नहीं हूँ। विवाह को इकरारनामा न मानकर सच्चा धार्मिक संस्कार मानती हूँ। पति को अपना सर्वस्व मानती थी। जब उन्हें लकवा हुआ तब मैं भी खाना, पीना, नींद, आराम सब कुछ छोड़कर उनकी सेवा में दत्तचित्त हुई। उनकी बीमारी ही मेरी दिवस की चिन्ता और रात्रि का स्वप्न हो गई। वह मानसिक दशा बहुत दिन तक रही भी। वे तीन वर्ष तक बीमार रहे, पर आखिर, आखिर में मैं भी ऊब उठी थी।

पद्मा—और तुम आखिर में, आखिर में यह भी चाहने लगी थीं कि उनका जीवन.......उनका जीवन समाप्त हो जाय ?

भारती—(कुछ सोचते हुए) कह नहीं सकती, जब उनकी तकलीफ़ बहुत बढ़ी तब कई बार यह बात मन में उठती थी कि उन्हें इतनी तकलीफ़ न सहनी पड़े तो अच्छा है, सम्भव है यह बात

यथार्थ में उनके लिए न उठकर अपने छुटकारे के लिए उठती हो। बहन, तुम्हारी भाभी जी भी वृजमोहन जी की वीमारी के शुरू में यह कभी न चाहती होंगी कि उनका जीवन समाप्त हो जाय, उन्होंने उनके अच्छे करने में कोई वात उठा न रखी होगी, परन्तु जब उन्हें यह दीख पड़ने लगा होगा कि उनका अच्छा होना अव असम्भव है तव ····तव ·······

पद्मा—(क्रोध से) वहन, वह कुलटा होगी, वह व्यभिचारिणी होगी। किसी भी हालत में, किसी भी परिस्थिति में, कोई हिन्दू स्त्री कोई सच्ची हिन्दू पत्नी, अपने पति, अपने आराध्यदेव के सम्बन्ध में ऐसी वात जाग्रत अवस्था में तो क्या स्वप्न में भी नहीं सोच सकती, चाहे उसका सारा जीवन नष्ट हो जाय, सारी ज़िन्दगी ववाद होजाय।

भारती—बहन, तुम जो कहती हो वह आदर्श है। अपने सारे सुखों को तिलांजली देकर कोई स्त्री अगर अपने पति में इस प्रकार विलीन कर सके, कोई प्रेम यदि अपने निजत्व को अपने प्रेमी को इस प्रकार समर्पण में दे सके तो वह मानवी नहीं देवी है। वह मनुष्य नहीं देवता है; लेकिन, वहन 'यह मानव-मन·······मानव-मन········ मानव-मन···· ··· ।

[दोनों गम्भीरता से एक दूसरी की तरफ देखती हैं।]

यवनिका-पतन

मुख्य दृश्य

स्थान—कृष्णावल्लभ के मकान में उसके सोने का कमरा

समय—दोपहर

[कमरे के तीनों तरफ़ की दीवालें दीखती हैं जो आसमानी रंग से रगी हुई हैं। पीछे की दीवाल में कई दरवाजे और खिड़कियाँ हैं, जिन में

उसके बाहर की बालकनी का कुछ भाग बग़ीचे के दरख़्तों का ऊपरी हिस्सा तथा आकाश दिखाई देता है, जिससे जान पड़ता है कि कमरा दुमंजिले पर है। दाहिनी तरफ़ की दीवाल में दो दरवाजे और एक खिड़की है। इनमें से एक दरवाजा खुला हुआ है। इससे स्नानघर का कुछ हिस्सा दिखाई देता है। बाँई ओर की दीवाल में भी दो दरवाजे और एक खिड़की है। इनमें से भी एक ही दरवाजा खुला है, जिससे नीचे के जाने का कुछ भाग दिखता है। दीवाल पर श्रीनाथ जी, यमुना जी और श्रीकृष्ण की लीलाओं के कई चित्र लगे हैं। कमरे की छत से बिजली की बत्तियाँ और एक सीलिंग फैन झूल रहे हैं। जमीन पर क़ालीन बिछा है, जिसके बीचों बीच चाँदी के पायों का एक पलंग बिछा है। पलंग के पास ही एक टेबिल रखी है जिस पर दवा की शीशियाँ, थरमामीटर, एक टाइमपीस घड़ी, और नोट बुक इत्यादि रखी हैं। पलंग पर कृष्णवल्लभ रुग्ण अवस्था में लेटा है। उसकी उम्र क़रीब ३० वर्ष की है। वह साधारण ऊँचाई और गोरे रङ्ग का व्यक्ति है, पर बीमारी के कारण कृश हो गया है। मुख पर पीलापन और आँखों में चारों तरफ़ कालिमा आ गई है। सिर के बाल अंग्रेज़ी ढंग से कटे हैं और दाढ़ी मूँछे मुँडी हुई हैं। वह गले तक एक ऊनी शाल ओढ़े हुए है। उसी के नजदीक की एक कुर्सी पर पद्मा बैठी हुई है। पद्मा की वेष-भूषा एकदम सादी हो गई है। मस्तक की टिकली और उसके नीचे का चरणामृत उसी तरह लगा है जैसा उपक्रम में था। उसके मुख पर शोक और चिन्ता का साम्राज्य छाया हुआ है।]

कृष्णवल्लभ—(खाँसकर) दो वर्ष हो गये न, प्रिये ? दो वर्ष पहले की इसी महीने की इसी तारीख़ को पहले पहल बुख़ार आया था।

पद्मा—हाँ, प्राणनाथ, दो वर्ष हो गये।

कृष्णवल्लभ—वृजमोहन दो वर्ष से ज्यादा तो बीमार रहा ?

पद्मा—आप न जाने क्या क्या सोचा करते हैं !

कृष्णावल्लभ—(फिर खाँसते हुए) क्यों प्यारी, यह, कैसे न सोचूँ जो क्षय उसे था वही मुझे है, और वहाँ लौटने के थोड़े दिन बाद ही हो भी गया।

पद्मा—इससे क्या होता है, क्या इस बीमारी के अच्छे नहीं होते ?

कृष्णावल्लभ—बृजमोहन तो नहीं हुआ और मैं भी नहीं हो रहा हूँ।

पद्मा—आप हो जायँगे।

कृष्णावल्लभ—अभी भी तुम्हें आशा है ? प्रिये, आशा की जगह न होते हुए भी कई दफ़ा मनुष्य आशा को मन में ठूँसने का बलात्कार करता है। इस तरह की आशा अपने आपको धोखा देने की कोशिश करना है। यह झूठी आशा है, अस्वाभाविक आशा है।

पद्मा—(जोर से) क्या कहते हैं, नाथ, क्या कहते हैं, मुझे आशा नहीं विश्वास, पक्का विश्वास है कि आप अच्छे हो जायँगे।

कृष्णावल्लभ—(पद्मा की तरफ़ करवट लेकर खाँसते हुए) और तो अच्छे होने के कोई आसार नहीं हैं, हाँ तुम्हारी तपस्या मुझे अच्छा कर दे तो दूसरी बात है !

[पद्मा कोई उत्तर नहीं देती। उसकी आँखों में आँसू भर आते हैं।]

कृष्णावल्लभ—प्यारी, तुम मानवी नहीं देवी हो। इन दो सालों में तुमने मेरे लिए क्या नहीं किया, न पेट भर खाया, न नींद भर सोई, पूजा, पाठ, जप, दर्शन तक छोड़ दिये। चौबीसों घंटे मेरे पलंग के पास। कहाँ कहाँ ले जाकर मेरी आब-हवा बदलाई। दो वर्ष के इस जीवन में किसी प्रकार का भी, कोई भी, सुख किसे कहते हैं, वह तुम नहीं जानतीं।

पद्मा—(आँखों में आँसू भर कर) आपके अच्छे होते ही मेरे सारे सुख दूने होकर लौट आयँगे।

कृष्णवल्लभ—(इकटक पद्मा की ओर देखते हुए) और प्रिये, अगर मैं अच्छा न हुआ तो ?

पद्मा—यह कल्पना करने की भी बात नहीं है।

[कृष्णवल्लभ और पद्मा कुछ देर चुप रहते हैं। निस्तब्धता रहती है।]

कृष्णवल्लभ—(अपने दुबले हाथ ऊनी चादर से बाहर निकाल कर पद्मा का हाथ अपने हाथ में लेते हुए) प्राण-प्यारी, यह जानते हुए भी कि दुनियाँ में सबसे निश्चित बात मरना है, कोई मरना नहीं चाहता ! मैं भी मृत्यु का आह्वान नहीं कर रहा हूँ। मैं जीना चाहता हूँ। तुम्हारे साथ वे सब सुख भोगने का इच्छुक हूँ जो दो वर्ष पहले प्राप्त थे (खाँसने के कारण चुप हो जाता है। कुछ ठहर कर) सावन की उमड़ती हुई घटाएँ और उनमें चमकती हुई बिजली, उन घटाओं का गर्जन और मंद मंद बरसती हुई फुहार, उसमें पपीहे की पीहू और मोर का केका तथा उस वायुमंडल में तुम्हारे साथ झूमते हुए झूले की मुझे अब जितनी याद आती है उतनी स्वस्थ दशा में कभी नहीं आती थी। (खाँसी के कारण चुप हो जाता है। कुछ ठहर कर) बसन्त में खिले हुए फूलों की रंग बिरंगी क्यारियाँ उनके दर्शन, उनकी सुगन्ध, मंथर गति से चलती हुई मलयानिल और कोकिल की कुहू और उस वातावरण में हम दोनों की अठखेलियाँ, तथा गुलाल और अबीर की उड़ान का अब जितना स्मरण आता है उतना जब मैं अच्छा था तब मुझे न आता था (खाँसते खाँसते फिर रुक जाता है। कुछ ठहर कर) प्राणेश्वरी, मैं वे सारे सुख, सारे आनन्द फिर भोगना चाहता हूँ, लेकिन·······लेकिन प्रिये·········· (चुप हो जाता है)।

पद्मा—(आँखें पोंछते हुए) लेकिन कुछ नहीं, हृदयेश्वर, आप के अच्छे होते ही हम वे सुख फिर भोगेंगे।

[कृष्णवल्लभ कोई उत्तर नहीं देता। थकावट के कारण पद्मा का हाथ छोड़कर आँखें बन्द कर लेता है।]

पद्मा—(खड़े होकर) क्यों; थकावट मालूम होती है ?

कृष्णवल्लभ—यों ही थोड़ी सी।

पद्मा—मैंने कई दफ़ा कहा आप ज्यादा न बोला करें।

कृष्णवल्लभ—तुमसे बोलकर, पुराने सुखों की याद कर जो थोड़ा सा आनन्द मिल जाता है, उसे भी खो दूँ ?

[पद्मा कोई जवाब नहीं देती। कृष्णवल्लभ भी कुछ नहीं बोलता। कुछ देर निस्तब्धता रहती है।]

कृष्णवल्लभ—प्रिये एक बात जानती हो ?

पद्मा—क्या, नाथ ?

कृष्णवल्लभ—मेरे मन में जब जब यह उठता है कि मैं अच्छा न होऊँगा तब तब मेरे सामने एक चित्र खिंच जाता है।

पद्मा—आपके मन में ऐसी बात ही नहीं उठनी चाहिये।

कृष्णवल्लभ—उसे मैं न रोक सकता हूँ और न तुम। (खाँसता है। (कुछ रुक कर) मैं तुम से एक प्रार्थना करता हूँ।

पद्मा—प्राणेश्वर, आप हमेशा आज्ञा दे सकते हैं।

कृष्णवल्लभ—पर तुम मानती कहाँ हो ?

पद्मा—मैं आपकी आज्ञा नहीं मानती ?

कृष्णवल्लभ—और सब बातों को मानती हो, पर एक मामले में नहीं।

पद्मा—किस में ?

कृष्णवल्लभ—मेरे हृदय में जो कुछ उठता है उसे नहीं सुनतीं। हमेशा मेरी बात पूरी होने के पहले मुझे रोक देती हो। नतीजा यह निकलता है कि कह सुन कर मन की निकाल लेने से जो शान्ति मिलती है उससे भी मैं वंचित रह जाता हूँ।

पद्मा—तो आपकी वाहियात बातें सुना करूँ, उन बातों के बीच में भी आपको न रोकूँ ?

कृष्णवल्लभ—प्रिये, तुम अनुमान नहीं करतीं, बीमार की कल्पनाओं का, तुम अनुभव नहीं कर सकतीं उस शान्ति का जो उन कल्पनाओं को अपने सबसे बड़े प्रेमी, अपने सर्वस्व के सामने व्यक्त करने में मिलती है।

पद्मा—(लम्बी साँस लेकर) अच्छी बात है हृदय पर पत्थर रख कर जो कुछ आप कहेंगे अब सब कुछ सुन लिया करूँगी।

कृष्णवल्लभ—(कुछ ठहर कर) मैं तुम से कह रहा था कि जब जब मेरे मन में यह उठता है कि मैं अच्छा न होऊँगा तब तब मेरे सामने एक चित्र खिंच जाता है। जानती हो किसका ?

पद्मा—बृजमोहन जी का होगा।

कृष्णवल्लभ—नहीं।

पद्मा—तब।

कृष्णवल्लभ—भाभी का।

पद्मा—(उत्तेजित होकर) उस कुलटा का, उस पापिनी का जिसने उनकी बीमारी में भी अपने गुलछर्रे नहीं छोड़े, जिसने उनके मरते ही दूसरी शादी करने में देर न की !

कृष्णवल्लभ—प्रिये, भाभी न कुलटा थी और न पापिनी।

पद्मा—उससे बड़ी कुलटा और उससे बड़ी पापिनी न मैंने देखी और न सुनी है।

कृष्णवल्लभ—पहले मैं भी ऐसी समझता था पर अब नहीं समझता।

प०—तो अब आप उसे बड़ी साध्वी, बड़ी धर्मात्मा समझते हैं ?

कृष्णवल्लभ—कुलटा और पापिनी तो नहीं समझता (खाँसता है। कुछ रुककर) एक बात और कहूँ ?

प०—सब कुछ सुनने का तो मैंने वचन दे ही दिया है ?

कृष्णवल्लभ—अगर तुम वैसी होतीं तो मुझे आज अपनी बीमारी का इतना दुख न होता।

प०—(आँखों में आँसू भर कर) नाथ, आप यह क्या कह रहे हैं ? क्या कह रहे हैं ?

[कृष्णवल्लभ कोई उत्तर न देकर खाँसने लगता है।
कुछ देर निस्तब्धता रहती है]

कृ०—प्रिये, कभी कभी मुझे अपने से ज्यादा तुम्हारी चिन्ता हो जाती है। जब मेरे मन में उठता है कि मैं अच्छा न होऊँगा, तब तब मेरे जीने की इच्छा तो और प्रबल हो जाती है, तुम्हारे साथ भोगे हुए सुख भी याद आने लगते हैं, और उन्हें फिर से भोगने के लिए भी मैं अधीर हो उठता हूँ तुम्हें छोड़कर जाना पड़ेगा शायद इसीलिए जाने का मुझे इतना दुःख होता है, पर इन सब बातों के सिवा जिस चीज से मैं सबसे ज्यादा तलमला उठता हूँ, वह है तुम्हारी इस वक्त की अवस्था, मेरे बाद तुम्हारा क्या होगा, इसकी कल्पना। काश तुम भी भाभी के समान हो जातीं तो मैं इस फ़िक्र से तो..........।

[कृष्णवल्लभ को खाँसी का जोर से एटैक होता है। खाँसते खाँसते वह बैठ जाता है। पद्मा घबड़ाकर उसकी पीठ सुहलाती है। कुछ देर में उसकी खाँसी रुकती है और वह एकदम थककर लेट जाता है तथा आँखें बन्द कर लेता है। जीने से चढ़कर स्वच्छ वस्त्रों में एक मुनीम का प्रवेश]

मुनीम—श्रीनाथद्वारे के समाधानी वहाँ के छप्पन भोग का निमंत्रण और श्री नाथजी का बीड़ा लेकर पधारे हैं। यहीं सेवा में आना चाहते हैं।

कृष्णवल्लभ—(धीरे धीरे) मेरे बड़े भाग्य ! ऐसे वक्त श्रीनाथजी का बीड़ा ! उन्हें फौरन ले आइये, मुनीम जी।

मुनीम—जैसी आज्ञा। (प्रस्थान)

कृ०—(धीरे धीरे) श्रीनाथद्वारे में छप्पन भोग हैं और मेरी वदक़िस्मती तो देखो, मुझे ही दर्शन न होंगे इतना ही नहीं, तुम भी न जा सकोगी।

[मुनीम के साथ समाधानी का प्रवेश। समाधानी करीब ५० वर्ष का ठिगना और मोटा आदमी है। शरीर पर लम्बी बगलबन्डी पहने है। सिर पर उदयपुरी पाग बाँधे है और गले में दुपट्टा डाले है। उसके हाथों में एक लिफ़ाफा और वल्लभकुली बीड़ा है। कृष्णवल्लभ उठने का प्रयत्न करता है। पद्मा उसे सहारा देकर उठाती और पीछे तकिया लगाकर बैठाती है। वह समाधानी के हाथ जोड़ता है और खड़े होकर पद्मा भी।

समाधानी—(नज़दीक आते हुए) आयुष्मान, श्रीमान् ! सौभाग्य अचल होय, श्रीमती।

[नजदीक पहुँचकर समाधानी अपने हाथ का लिफ़ाफा और बीड़ा कृष्णवल्लभ के हाथों में देता है। कृष्णवल्लभ उन्हें सिर व आँखों से लगाकर हृदय से लगता है और फिर टेबिल पर रख देता है। सब लोग कुर्सियों पर बैठते हैं।]

समाधानी—श्रीमान की अवस्था के समाचार सूँ महाराज श्री कू अत्यन्त खेद भयो। सो कूँ या हेतु पठायो है कि श्रीमान कूँ आशीर्वाद सहित छप्पन भोग को निमन्त्रण देऊँ और निवेदन करूँ कि श्रीमानजी आगे सुधि करत हैं।

कृ०—महाराज श्री के अनुग्रह के लिये कृतज्ञता के मेरे पास शब्द नहीं हैं, समाधानी जी। मुझ से तो उस घर के अनगिनती वैष्णव हैं और इतने पर भी महाराज श्री की मेरे पर यह कृपा! (खाँसता है। कुछ रुककर) समाधानी जी, महाराज श्री की इस अनुकम्पा से मुझे रोमांच हो रहा है! ...

समाधानी—आपके से अगणित वैष्णव! क्या कहें हैं, श्रीमान? आपसे तो आप ही हैं!

कृ०—(आँखों में आँसू भरकर) कैसी मेरी बदक़िस्मती कि जिस छप्पन भोग के दर्शन की अभिलाषा वर्षों से थी उसके मौक़े पर मेरा यह हाल है।

समाधानी—श्रीनाथ जी आपको शीघ्र स्वस्थ करि हैं। श्रीमान न पधार सकें तो श्रीमती जी।

कृ०—(पद्मा की तरफ देखकर) ये..........हाँ ये ज़रूर जा सकती हैं। और अगर ये जायँ तो मुझे तो उससे जितनी खुशी होगी उतनी किसी दूसरी चीज़ से हो नहीं सकती (कुछ खाँसकर) छप्पन भोग का क्या कार्यक्रम है, समाधानी जी?

समाधानी—पहले वर्ष भर के उत्सव के मनोरथ होयँगे और अन्त में प्रभु छप्पन भोग आरोगेंगे (पद्मा से) श्रीमती जी, आप अवश्य पधारें। महाराज श्री ने आज्ञा करी है कि श्रीमान न पधार सकें तो आपके पधरावे सूँ महाराज श्री कूँ परम हर्ष होयगो आप

पधारकर श्रीमान के स्वस्थ होयबे प्रभु सन्निधान में प्रार्थना करें। श्रीनाथ जी श्रीमान कूँ शीघ्र ही स्वास्थ्य प्रदान करहिंगे।

[पद्मा कोई जवाब नहीं देती। कृष्णवल्लभ पद्मा की ओर देखता है। कुछ देर निस्तब्धता रहती है।]

कृ०—(मुनीम से) मुनीम जी, समाधानी जी थके मादे आये हैं। आपको अतिथि-आलय में अच्छी तरह ठहराइए। महाराज की आज्ञा पर हम लोग विचार करेंगे। (खाँसता है)

मुनीम—जैसी आज्ञा !

[मुनीम और समाधानी उठते हैं]

कृ०—आज शाम को फिर दर्शन देने की कृपा कीजियेगा।

समाधानी—जैसे आज्ञा, श्रीमान।

[कृष्णवल्लभ और पद्मा हाथ जोड़ते हैं। समाधानी हाथ उठाकर आशीर्वाद देता है। मुनीम और समाधानी का प्रस्थान। कृष्णवल्लभ खाँसता है और लेटने लगता है। पद्मा उठाकर टिकने के तकिये हटा उसे सहारा देकर लेटाती और फिर कुर्सी पर बैठती है। कुछ देर निस्तब्धता रहती है।]

कृ०—प्रिये !

प०—प्राणनाथ !

कृ०—तुम्हारी जाने की इच्छा है ?

प०—आपको इस हालत में छोड़कर ?

कृ०—बहुत दिन का काम तो है ही नहीं।

प०—लेकिन मैं तो एक मिनट के लिए भी आप को नहीं छोड़ सकती।

कृ०—प्राणप्यारी, अर्धकुम्भ पर जब हम हरिद्वार न जा सके थे तब हमने कुम्भ पर जाने का निश्चय किया था। कुम्भ के मौके पर ही मैं बीमार पड़ा। (खाँसता है। कुछ ठहर कर) तुम्हें वहुत समझाया तुम नहीं गईं। अब श्रीनाथ जी के छप्पन भोग का उत्सव है। हर दफ़ा ऐसे मौके नहीं आते।

प०—लेकिन, प्राणनाथ, मैं आपको कैसे छोड़ सकती हूँ?

कृ०—डाक्टर दोनों वक्त आते हैं, तुम्हारी गैरहाजिरी में नर्स का इन्तजाम हो जायगा। श्रीनाथ जी का छप्पन भोग है, प्राणप्यारी, महाराज श्री ने कृपा कर समाधानी के हाथ निमन्त्रण भेजा है, श्रीनाथ जी ने सुधि ली है; महाराज श्री ने आज्ञा दी है।

[पद्मा कोई उत्तर नहीं देती। कृष्णवल्लभ खाँसता है। कुछ देर निस्तब्धता रहती है।]

कृ०—पंद्रह बीस दिन से ज्यादा नहीं लगेंगे, प्रिये!

[पद्मा फिर भी कोई उत्तर नहीं देती। कृष्णवल्लभ पद्मा की तरफ़ देखता है। कुछ देर फिर निस्तब्धता रहती है।]

कृष्णवल्लभ—प्रिये, मेरी एक प्रार्थना मानोगी?

प०—फिर वही बात, नाथ! प्रार्थना? आप आज्ञा दें।

कृ०—(खाँस कर) तो मैं आज्ञा देता हूँ, प्राणप्यारी, तुम जाओ; श्रीनाथ द्वारे जरूर जाओ; जरूर।

[पद्मा कोई जवाब नहीं देती उसकी आँखों में आँसू भर आते हैं।]

कृ०—प्रिये, श्रीनाथ जी के सन्निधान में मेरे स्वस्थ होने के लिये, अपने सौभाग्य के लिए, प्रार्थना.......प्रार्थना करना, प्राणप्यारी। (आँसू भर आते हैं।)

[पद्मा रो पड़ती है। कृष्णवल्लभ को फिर जोर से खाँसी का दौरा होता है।]

यवनिका-पतन

उपसंहार

स्थान—कृष्णवल्लभ के मकान का बरामदा

समय—सन्ध्या

[दृश्य वैसा ही है जैसा उपक्रम में था। उदय होते हुए सूर्य के स्थान पर डूबते हुए सूर्य की किरण बाहर के उद्यान को रंग रही हैं। एक तरफ पद्मा के दो सूट केस, होल्ड ऑल, टिफिन कैरिअर, सुराही इत्यादि सामान बँधा हुआ रखा है। पद्मा अपने सामान को देख रही है। उसने फिर से रेशमी साड़ी, ब्लाउज़ रत्न-जटित आभूषण धारण कर लिये हैं। उसका मुख प्रसन्न तो नहीं कहा जा सकता लेकिन उस पर उस तरह का शोक और चिन्ता का साम्राज्य नहीं है, जैसा मुख्य दृश्य में था। भविष्य के सुख की एक प्रकार की उत्कण्ठा उसके मुख पर दीख रही है। भारती का प्रवेश। वह वैसी ही दिखाती है जैसे उपक्रम में थी।]

प०—(भारती के आने की आहट पाकर उस तरफ देख तथा भारती को आते हुए देख कर उसी तरफ बढ़ते हुए) ओ, भारती बहन, आओ बैठो, बहन ?

[भारती और पद्मा दोनों कुर्सियों पर बैठ जाती हैं]

भारती—श्रीनाथ द्वारे जा रही हो, बहन ?

प०—(दाहिनी तरफ से बगीचे की ओर देखते हुए) हाँ, वहाँ छप्पन भोग का उत्सव है, वे मुझे भेज रहे हैं।

भारती—वे तुम्हें भेज कर बिल्कुल ठीक काम कर रहे हैं और तुम जाकर भी सर्वथा उचित बात कर रही हो ?

प०—(भारती की तरफ देख कर) ऐसा ?

भारती—बिल्कुल। छप्पन भोग के अवसर पर तो वल्लभकुल सम्प्रदाय में वर्ष भर के सभी उत्सवों के मनोरथ होते हैं न ?

प०—हाँ !

भारती—तुम्हें और कृष्णवल्लभ जी को वर्षा और वसंत बहुत प्रिय थे। श्रीनाथ द्वारे में सावन का हिण्डोलोत्सव, वसंत का फूल-डोल और भी अनेक उत्सवों के दर्शन, नित्यप्रति होने वाले रास और गायन आदि से दृश्येन्द्रिय और श्रवणेन्द्रिय को तृप्ति मिलेगी। महाप्रसाद से जिह्वा को शांति प्राप्त होगी। अधिकाँश इन्द्रियाँ संतुष्ट हो जायँगी। हर तरह से मन बहलेगा। इहलोक और परलोक दोनों सुधरेंगे।

प०—(भर्राये हुए स्वर में) बहन····बहन········

भारती—बहन, बरदाश्त करने की भी हद होती है। सहन-शक्ति सीमा रहित नहीं है। बीमार के साथ बिना किसी बीमारी के कोई बहुत दिन तक बीमार से भी बदतर हालत में नहीं रह सकता। मृत के साथ जीवित अपने को मृत नहीं समझ सकता। आदर्श की बात दूसरी है। बहन, मानव मानव-मन····यह मानव मन·······।

यवनिका-पतन

———

पाठ ४

दस हज़ार

[श्री उदयशंकर भट्ट]

[लेखक—श्री उदयशंकर भट्ट का जन्म १८९७ ई० में इटावा (उत्तर प्रदेश) में हुआ था। यों आप जिला बुलन्दशहर के रहने वाले हैं। भट्टजी को संस्कृत की काव्यतीर्थ तथा शास्त्री उपाधियाँ प्राप्त हैं। २५-३० वर्ष आप लाहौर में अध्यापक कार्य के सिलसिले में रहे। भारत विभाजन के बाद आप को पंजाब छोड़ना पड़ा। इस समय आप दिल्ली में ऑल इंडिया रेडियो में नाटक विभाग में कार्य करते हैं।

भट्ट जी के अनेक एकांकी नाटक तथा कविता संग्रह प्रकाशित हुए हैं। नाटकों में विक्रमादित्य, दाहर, अंबा, सगर विजय, अभिनव एकांकी मत्स्यगंधा तथा विश्वामित्र विशेष प्रसिद्ध हैं। हिन्दी के आप सफल एकांकी लेखकों में से एक है।

रचना—केवल मात्र धनोपार्जन जीवन का ध्येय बन जाने से मनुष्य की मनोवृत्ति कैसी कुत्सित हो जाती है, "दस हज़ार" शीर्षक एकांकी में इसी का चित्रण सफल नाटककार ने किया है। अंग्रेज़ी साम्राज्य काल में भारत के सीमाप्रांत में लखपती सेठ विसाखाराम के पुत्र सुन्दरलाल को सरहद्दी पठान पकड़ ले जाते हैं और छोड़ने के लिए दस हज़ार रुपयों की माँग पेश करते हैं एकलौते पुत्र की रक्षा के निमित्त भी दसहज़ार देने में लखपती सेठ विसाखाराम को आनाकानी है। ऐसे संकटकाल में भी उनका मन पुत्र की रक्षा के स्थान पर धनार्जन में ही लगा है।

सेठजी की पत्नी तथा शुभचिन्तक मुनीम भी दृढ़ता से ही अभागे सुन्दर-लाल के जीवन की रक्षा हो पाती है।]

पात्र

बिसाखाराम	: सीमा-प्रांत का एक सेठ
सुन्दरलाल	: बिसाखाराम का लड़का
राजो	: बिसाखाराम की लड़की
राजो की माँ	: सेठ की पत्नी
मुनीम	: बिसाखाराम का मुनीम

समयः—शाम के पाँच बजे।

(सीमा-प्रान्त के एक नगर में एक मकान। मकान में एक बड़ा सा कमरा, जिसमें दो दरवाज़े हैं। एक सीढ़ी के पास और दूसरे मकान के भीतरी भाग में जाता है। गली की तरफ़ दो खिड़कियाँ हैं। भीतर कमरे में एक बड़ी खाट है। जिस पर मैला सा बिस्तर बिछा है। पूर्व की तरफ कोने में एक चौकी है, उसके सामने आले में ठाकुर जी का एक सिंहासन है। उसमें कुछ पीतल की मूर्त्तियाँ हैं उन पर गेंदे के फूल की माला चढ़ी है। आले की कील में एक रुद्राक्ष की माला है। हाथ की लिखी हुई छोटी-छोटी दो किताबें हैं। कमरे में कुछ तसवीरें हैं—एक रामचन्द्र, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न की जिसमें राम के राज्याभिषेक का दृश्य है, हनुमान माला तोड़ रहे हैं। दूसरी तसवीर काली की है। कमरे में एक मोढ़ा रखा है और एक टूटी हुई कुर्सी, जिसका बेंत टूटा हुआ है। एक छोटी सी मेज़ एक कोने में रखी है। उस पर एक लोटा और उस के ऊपर एक गिलास रखा है। दो खूँटियाँ गड़ी हुई हैं, उनमें एक पर एक पगड़ी और दूसरी पर एक दुपट्टा और एक मैला-सा कोट है। खाट पर लाला बिसाखाराम बेचैनी से लेटा हुआ है। उसकी आँखों में बेचैनी है। चेहरा पिचका हुआ, रंग गोरा, बाल बिखरे हुए। मालूम

होता है बड़ी चिन्ता में है। हाथ में चिट्ठी है, जो बार-बार उठाकर पढ़ता है और फिर सिरहाने रख देता है। फिर उठा लेता है, पढ़ता है और फिर रख देता है। उठकर बैठ जाता है और छत की कड़ियों की ओर ताकता है और धम्म से फिर खाट पर लेट जाता है।)

बिसाखाराम—हाय, क्या जाना था, यह दिन भी देखना पड़ेगा! हे राम जी! उबारो महाराज! बड़ी बिथा आ पड़ी है। कोई-कोई उपाय शूझै नहीं है। (आँख मींचकर ठाकुर जी को हाथ जोड़ने लगता है, फिर आँखें खोललर पत्र हाथ में लेकर पढ़ने लगता है) क्या करूँ? राजो, राजोरी!

(भीतर के दरवाज़े से चौदह साल की एक लड़की दौड़ती हुई आती है।)

राजो—हाँ चाचाजी! क्या कहा हो?

बिसाखाराम—अरी, क्या अभी मुनीमजी नहीं आये? मरा जाऊँ हूँ। बड़ी मुसीबत है।

राजो—भाई कब आवेंगे भला? (एक दम पास आकर) बुला लो न भाई को। कुछ रुपयों की ही तो बात है। हाय, (आँखों में आँसू भरकर) हे भगवान्, बड़े नामुराद हैं ये लोग! चाचाजी भेज दो रुपया, क्या देखो हो?

बिसाखाराम—(बैठकर) क्या देखू हूँ बेटा! अपनी क़िस्मत को रोऊँ हूँ। रुपया भी कहाँ धरा है? अभी अनाज भी तो ख़रीदना है। कल मुहम्मद बक्स आने रुपए का सूद देकर दो हजार माँगने आया था, उसको भी तो देना है। दस हजार के सरकारी बौंड ख़रीदने हैं, ऐसा मौका कब मिलेगा? इतना सूद क्या छोड़ा जा सके है बेटी? ओः! दस हजार देने पड़ेंगे!

(एक दम खाट पर धड़ाम से लेट जाता है।)

राजो—(दौड़कर) चाचाजी, क्या हुआ तुम्हें ? भाभी, ओ भाभी ! देख तो चाच्चा को क्या हुआ है ?

(राजो की माँ 'अरी आई' कहती हुई आती है)

राजो की माँ—कह तो दिया, परेसान होने की क्या जरूरत है ? दे दो दस हज़ार । रुपए तो फिर भी मिलते रहेंगे । लड़का तो फिर ....हा भगवान्, क्या कह रही हूँ ! हे रामजी ! (हाथ जोड़ कर आले में रखे हुए सिंहासन की तरफ देखने लगती है) यों ही करें हैं ! दया करो भगवान् !

बिसाखाराम—मुनीमजी नहीं आये ? (आँख बन्द कर लेता है)

राजो—आते ही होंगे । तुम्हारा कैसा जी है चाच्चा ?

राजो की माँ—कहूँ तो हूँ, फिकर क्यों करो हो ? हे ईश्वर, मेरे लड़के को लौटा दो । मेरा सब कुछ ले लो मेरे प्यारे बच्चे को मुझे दे दो भगवान् ! (रोने लगती है ।)

राजो—(माँ के गले से लिपटकर) रोवे क्यों है भाभी ? चाचा से कह के भाई को बुला ले न !

राजो की माँ—(आँसू पोंछती हुई) कैसे बुलाऊँ बेटी, तेरे चाचा को तो रुपए की पड़ी है । ईश्वर ने एक ही लड़का दिया... हा भगवान् ।

बिसाखाराम—(आँखें खोलकर) राजो, मुनीमजी नहीं आये बेटी ?

राजो—अभी तो नहीं आये ।

बिसाखाराम—न मालूम मुनीम ने खाँड का सौदा किया या नहीं ? इस वखत तो खाँड खरीदनी जरूरी है । फिर मँहगी हो जायगी । कैसी मुसीबत है । न जाने इबराहीम से रुपये का तकाज़ा

किया या नहीं ? आज चार साल होने आये, अभी तक सूद भी नहीं दिया मुकदमा लड़ना पड़ेगा। तब कहीं जाकर वह बेईमान रुपया देगा। (पत्र हाथ में लेकर) पर इसको क्या करूँ ?

(राजो, राजो' नाम लेकर मुनीम आवाज़ लगाता हुआ एक ओर से आता है)

बिसाखाराम—लो मुनीमजी आ गये। (एक दम उठकर बैठ जाता है) आओ मुनीमजी, आज बड़ी देर लगाई।

(राजो और उसकी माँ दूसरे दरवाजे से घर में चली जाती हैं)

मुनीम—जै रामजी की सेठ जी ! देर हो गई, दिन-भर का हिसाब-किताब करना था। तेरह आने के हिसाब से खाँड के सौ बोरे खरीद लिये हैं। मुहम्मद बक्स का आदमी आया था। मैंने कह दिया, सेठजी के आने पर फैसला होगा। सुना है, इबराहीम फ़रार हो गया है। रोकड़ मिलाते इतनी देर हो गई है। हाँ, पठानों की कोई चिट्ठी आई क्या ?

बिसाखाराम—खाँड तो बारह आने चार पाई थी न, फिर तेरह आने क्यों खरीदी ? इब्राहीम भाग गया क्या ? यह तो बड़ी बुरी खबर है। मुनीमजी, चार हजार नकद है। कैसे छोड़े जा सके हैं ? चौधरी से नहीं कहलवाया ? वह तो जामिन है न ? सरकारी बौंड की कोई चिट्ठी आई ? रुपये तैयार रखना। बौंड तो खरीदने ही होंगे !

मुनीम—पठानों की तरफ से कोई चिट्ठी आई सेठजी ?

बिसाखाराम—रोकड़ में कितना बाकी है। चौधरी के पास अभी आदमी भेजो और तकाजा करो। (खाट पर लेटकर) सब तरफ मुसीबत है। रुपया लेकर देने का कोई नाम नहीं लेता। (आँखें बन्द करके लेट जाता है) हा भगवान् ! हे रामजी ! कैसा

बुरा समै है ! (उठकर) मैं जाऊँ; अब तबीअत देखूँ या रुपया ? (बैठ जाता है)

मुनीम—नहीं सेठजी ! बीमार हो जाना ठीक नहीं है। पठानों ने कुछ नहीं लिखा सेठजी ? सुंदरलाल का खयाल करना ही चाहिए। न मालूम बिचारे को कैसी तकलीफ दे रहे होंगे। (सेठ की ओर देखता है)

बिसाखाराम—लो यह पढ़ो कैसा दुष्ट है लड़का ! जरा भी लड़ाई नहीं करी। डोली में नई बहू की तरह उनके साथ चला गया मेरी छाती पै मूँग दलने ! कहाँ से लाऊँ दस हजार ? दस हजार ! (चिट्ठी मुनीम के हाथ में देकर) लो पढ़ो, सब बरबाद कर दिया। भला बाहर गया ही क्यों ? (लेट जाता है)

मुनीम—सेठजी, सुन्दरलाल का कोई अपराध नहीं है। उगराही को उसे आपने ही तो भेजा था। (पत्र हाथ में लेकर पढ़ता है।)

बिसाखाराम—(लेटकर) बरबाद हो गया मैं तो मुनीमजी हाँ, जरा जोर से पढ़ो।

मुनीम—(चौंककर) हैं ! यह तो सुन्दरलाल की ही लिखावट है ! लिखता है—'पिताजी, अगर मेरी जिन्दगी चाहते हो तो किसी आदमी के हाथ काबुली फाटक के बाहर आज ठीक शाम के आठ बजे दस हजार रुपया पहुँचा दो। पुलिस को या और कोई सहायक लेकर आये तो खान कहता है, 'लड़के को मरा ही समझो।' इन लोगों ने मुझे बड़ी तकलीफ दी है। शायद नरक की कोई यातना इससे अधिक नहीं हो सकती। मुझे विश्वास है, आप मेरी रक्षा करेंगे।

आपका पुत्र,

'सुन्दरलाल।'

नीचे ख़ान ने ख़ुद पश्तो में लिखा है—

'अम तुमको इत्तला देता है, तुम आज बधुवार शाम के आठ बजे दस हज़ार रुपया काबुली फाटक के बाहर पहुँचा दे, नहीं तो तुम्हारा लड़का को मार डालेगा।

अमीरअली खाँ।'

(मुनीम पत्र रखकर बिसाखाराम की ओर देखने लगता है)

मुनीम—सेठजी, दस हज़ार की क्या बात है। आज ही तो बुधवार है। अगर कहें तो मुहम्मद बक्स को न देकर दस हज़ार का इन्तजाम कर लूँ। रुपया तो है ही।

बिसाखाराम—(उठकर) आने रुपये का सूद है मुनीमजी ! (डपटकर) अपने घर से निकालो तो मालूम हो। गाढ़े पसीने की कमाई है। दस हज़ार यों ही नहीं आ जायँ हैं ! हे भगवान् ! कंगाल कर दिया !

(राजो और उसकी माँ एक दम कमरे में आ जाती हैं)

राजो की माँ—यों ही जायँगे; सुना तुमने मुनीमजी ? इनकी अकल पर तो पत्थर पड़ गये हैं। कुछ नहीं सोचते। बस रुपया, रुपया, मेरा लड़का ला दो मुनीमजी ! हाय मेरा सुन्दर ! हाय मेरा बच्चा रे !

(घूँघट किये ज़मीन पर बैठ जाती है। राजो दौड़कर पिता से लिपट जाती है और निहोरे ढङ्ग से उसे देखने लगती है।)

बिसाखाराम—भला मुनीमजी ! मैं क्या कहूँ हूँ कि सुन्दर न आवे ? मैं तो तो खुद चाहूँ कि लड़का किसी तरह आ जावे। मैं क्या सुन्दर का बाप नहीं हूँ ? तुम्हीं बताओ। लड़के के बिना तो घर सूना-सूना-सा लगे है। पर, दस हज़ार !

मुनीम—(सिर हिलाकर) हाँ, सो तो है ही। यह तो करना ही पड़ेगा।

राजो की माँ—आज चार दिन से मैं इनका रूप देख रही हूँ। कहूँ हूँ रुपए के पीछे लड़के को हाथ से न खोओ, रुपया तो हाथ का मैल है। दस हज़ार क्या बड़ी बात है। पर इन्हें तो न जाने क्या हो गया है। खाँड और सूद से इनका विचार छूटे तब न ! मुनीम जी, मैं तुम्हारे पैर पड़ूँ हूँ मेरे सुन्दर को ला दो।

मुनीम—माता जी, घबराओ मत। सुन्दर को घर पर ही समझो।

राजो की माँ—घर पर कैसे समझूँ मुनीमजी, घबराऊँ क्यों नहीं ? इनकी (पति की ओर इशारा करके) हालत देखकर तो मेरे जी में ऐसा हो रहा है कि मैं लड़का खो बैठूँगी। कहते हैं, जो होना था, सो हो गया। और लड़का....हाय न मालूम इनसे यह कैसे कहा गया ! हे भगवान् !

राजो—मुनीम जी, मेरे भाई को जल्दी बुला दो। देखो, कई रातों से माँ सोई नहीं हैं। सारी-सारी रात रोती रही हैं। आँखें सूज गई हैं। मेरे भाई को जल्दी ले आओ, मुनीमजी !

(रोने लगती है)

राजो की माँ—मैं कहूँ हूँ, मेरा गहना लेकर बेच दो और मेरे लड़के को बचा लो।

मुनीम—घबराने की क्या बात है माताजी, सेठजी को भी तो आपसे कम फिकर नहीं है।

बिसाखाराम—हाँ सो तो है ही मैं भी कब सोया हूँ रात में दिन-रात चिन्ता लगी रहती है। सुन्दर मेरी आँखों के सामने झूमता

रहे है। उसके बचपन की बातें याद आया करे हैं। इधर इब्राहीम रुपया देने में ही नहीं आवे। क्या तुमने उसके सूद का हिसाब लगाया मुनीमजी, कितना बने है उसके ऊपर? खाँड कहाँ रखवाई है, गोदाम में न? देखो तालियाँ अपने पास ही रखना। न हो तो मुझे दे जाओ।

मुनीम—सेठजी, सुन्दरलाल के लिए क्या हुक्म है? रुपए का इतज़ाम करूँ? बहुत थोड़ा वक्त है। (सेठ की ओर देखता है) पन्द्रह हज़ार तिजोरी में अभी रखकर आया हूँ।

विसाखाराम—दस हज़ार! न कम न थोड़ा। अरे और कोई इन्तज़ाम नहीं हो सके है मुनीमजी! पुलिस को खबर क्यों न कर दो।

मुनीम—पुलिस भी क्या कर लेगी सेठजी, पुलिस भी तो डरे है। और उसे क्या मालूम नहीं है, पर वह करे तब तो! सेठजी मैं तो आपको सलाह न दूँगा कि आप और इन्तज़ाम करें। नहीं तो आप लड़के से हाथ धो बैठेंगे। न करे ईश्वर!

राजो की माँ—तुम किस संसै में पड़े हो मुनीम जी? मेरा गहना ले जाओ। (उतारकर सामने रख देती है) लो, मेरे लड़के को ला दो। चलो, मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगी।

विसाखाराम—क्यों सब मेरे प्रान खाये जाओ हो? गहना भी कौन घर का नहीं है?

मुनीम—सेठजी! देर हो रही है हुक्म दो।

राजो की माँ—कह तो रही हूँ, यह ले जाओ। पठानों को दे देना।

विसाखाराम—क्या करूँ मैं फिर? मुनीमजी! अलीबकस अपने गहने छुड़ा ले गया क्या?

मुनीम—देर हो रही है सेठजी ! काबुली फाटक तक पहुँचना है, क्या हुक्म है ?

विसाखाराम—(दस हज़ार का ख्याल आते ही फिर वेसुध-सा होकर लेट जाता है)

मुनीम—क्या आज्ञा है सेठजी ? इसलिए जल्दी कर रहा हूँ कि दुकान से कुछ आदमी साथ ले लूँगा ।

राजो की माँ—अरे बोल तो दो ! न बोलो ! मुनीम जी, (अकड़कर) ले जाओ रुपया । मैं क्या घर की दुकान की, कोई भी नहीं हूँ ? जाओ देर न करो । हे भगवान् !

मुनीम—जो हुक्म (चला जाता है)

राजो—(माँ से) अब भाई आ जायगा माँ ?

माँ—हाँ वेटी, लेने गये हैं मुनीम जी । भगवान् का नाम ले, सुन्दर राजी-खुशी घर लौटे ।

विसाखाराम—(एकदम चेतन सा होकर) मुनीम जी गये ?

राजो—हाँ गये, चाचा जी !

विसाखाराम—घर वरबाद कर डाला । क्या से क्या हो गया ! लड़का कपूत निकला । हाय; कैसे मैंने पैसा कमाया । दस हज़ार ! हाय राम रे ! (फिर लेट जाता है) अरी राजो की माँ, मैं मरा !

राजो की माँ—कहूँ कौन वड़ी रक़म है । घर बच्चा आ जाय तो और हो जायँगे रुपए । परमात्मा ने सब कुछ तो····हे भगवान् दया करो । तुम इतनी चिंता क्यों करो हो ?

विसाखाराम—चिन्ता न करूँ ? (बैठकर) खून की कमाई है, खून की ! आज चालीस साल से लगातार दिन-रात एक कर के रुपया कमाया है । (लेट जाता है)

राजो की माँ—कमाया है तो फ़ायदा। न तीरथ, न जप-तप, न बर्त। कभी हरिद्वार भी न लेगये। मैं तो तुम्हारा पैसा जानती ही नहीं। चार कोठियाँ हैं और हम इसी गली में पड़े सड़ रहे हैं। आज तीन-चार लाख रुपये के मालिक हो। एक पैसा भी कभी दान नहीं किया। ऐसा रुपया किस काम का?

बिसाखाराम—(उठ कर) आग लगा दे घर में! मुनीम ने आज की बिक्री का कोई हिसाब ही नहीं दिया। बेईमान हो गया है। हे रामजी, (लेट जाता है) दस हज़ार रुपया इस नालायक के··· मुनीम कहाँ गया है राजो?

राजो की माँ—और रुपया होता ही किस लिए है? इसमें सुन्दर का क्या अपराध है भला?

बिसाखाराम—मुनीम कहाँ गया? शायद उगराही करने गया होगा। हे रामजी, दया करो! (लेट जाता है)

[सुन्दरलाल और मुनीम का प्रवेश। राजो की माँ सुन्दरलाल को देखकर फूट फूटकर रोने लगती है। राजो भाई से लिपट जाती है। लड़का दौड़कर पहले बिसाखाराम, फिर अपनी माँ के पैर छूता है]

बिसाखाराम—(पुत्र को देख कर) आ गया रे! बड़ी खुशी हुई।

राजो की माँ—आज बेटे को देखकर छाती ठंडी हुई। (उससे लिपट जाती है) मेरी आँखों के तारे!

राजो—मेरा भैया! (उसके गले से लिपट जाती है)

राजो की माँ—कैसा दुबला हो गया इतने ही दिन में।

सुन्दरलाल—हाँ माँ! भगवान् इन राक्षसों के पंजे में न डाले।

देख, मार मार कर देह सुजा दी है। (देख दिखाकर) हड्डी-हड्डी दुख रही है।

विसाखाराम—बड़ा अच्छा हुआ बेटा ! कैसे आये ? क्या वैसे ही उन्होंने छोड़ दिया ? मुनीमजी ! आज उगराही में क्या मिला ?

सुन्दरलाल—(मुनीमजी की ओर देखकर) दस हज़ार रुपये दिये थे न ?

मुनीम—(घबरा कर) हाँ सेठानी जी ने हुक्म दिया था।

बिसाखाराम—क्या पूरे दस हज़ार !

(एकदम धड़ाम से तकिये पर गिर पड़ता है। सुन्दरलाल, मुनीम, राजो विसाखाराम की ओर देखते हैं।)

राजो की माँ—(सुन्दरलाल को थपथपाती हुई) इन्हें नींद आ गई है बेटा, आओ चलें।

(पर्दा गिरता है)

—

पाठ ५

भोर का तारा

(श्री जगदीशचन्द्र माथुर)

लेखक—श्री जगदीशचन्द्र माथुर का जन्म १९१६ ई० में शाहजहांपुर (उत्तरप्रदेश) में हुआ था। आप ने उच्च शिक्षा प्रयाग विश्वविद्यालय में प्राप्त की और १९४१ में इण्डियन सिविल सर्विस की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। इस समय आप बिहार प्रदेश में शिक्षा सचिव हैं। श्री माथुर का झुकाव प्रारम्भ से ही साहित्य रचना की ओर था किन्तु शासन विभाग में फँस जाने के कारण आपकी असाधारण साहित्यिक प्रतिभा का समुचित विकास नहीं हो पा रहा है। आप ने कम लिखा है किन्तु जो लिखा है वह उच्च स्तर का है।

रचना—'भोर का तारा' एक ऐतिहासिक एकांकी है। घटना का संबंध गुप्तसम्राट् स्कंदगुप्त के राजकाल से है और घटनास्थल गुप्त साम्राज्य की तृतीय राजनगरी उज्जयिनी है। इस प्रसिद्ध नगरी का उदीयमान नवयुवक शेखर सम्राट् के मंत्री आर्य देवदत्त की बहिन छाया से विवाह करना चाहता है और अन्त में सफल होता है।

इसी समय आर्य वीरभद्र को, विद्रोही क्षत्रिय वीरभद्र को दबाने के लिए तक्षशिला जाना पड़ता है और वहां हूण सरदार तोरमण के भारत आक्रमण को रोकने में उन्हें प्राण देने पड़ते हैं। शेखर का मित्र माधव, जो आर्य वीरभद्र के साथ तक्षशिला गया था, लौटकर हूण आक्रमण का समाचार उज्जयिनी में लाता है और अपने मित्र कविवर शेखर को स्वदेश प्रेम की नई स्फूर्ति प्रदान करता है।

समय—सन् ४५५ ई० के आस-पास।

स्थान—गुप्त-साम्राज्य की राजधानी उज्जयिनी में एक साधारण कवि का गृह।

पात्र

शेखर—उज्जयिनी का कवि।

माधव—गुप्त-साम्राज्य में एक राज्य कर्मचारी (शेखर का मित्र)।

छाया—शेखर की प्रेयसी, बाद में पत्नी।

(१)

(कवि शेखर का गृह। सब वस्तुएँ अस्त-व्यस्त। बाईं ओर एक तख्त पर मैली फटी हुई चद्दर बिछी है। उस पर एक चौकी भी रक्खी है और लेखनी इत्यादि भी। इधर-उधर भोजपत्र (या काग़ज़) बिखरे हुए पड़े हैं। एक तिपाई भी है, जिस पर कुछ पात्र रक्खे हुए हैं। पीछे की ओर खिड़की है। बायाँ दरवाज़ा अन्दर जाने के लिए है, और दायाँ बाहर आने के लिए। दीवारों में कई आले या ताख़ हैं, जिनमें दीपदान या कुछ और वस्तुएँ रक्खी हैं। शेखर कुछ गुनगुनाते हुए टहलता है, या कभी कभी तख्त पर बैठ जाता है। जान पड़ता है, वह संलग्न है। तल्लीन मुद्रा। जो कुछ वह कहता है, उसे लिखता भी जाता है)

"अँगुलियाँ आतुर तुरत पसार"

खींचते नीले पट का छोर····(दुबारा कहता है, फिर लिखता है)

टँगा जिसमें जाने किस ओर····

स्वर्ण-कण········स्वर्ण कण········(पूरा करने के प्रयास करने में तल्लीन है। इतने में बाहर से माधव का प्रवेश। सांसारिक अनुभव और जानकारी उसके चेहरे से प्रकट हैं। द्वार के पास खड़ा होकर वह थोड़ी देर तक कवि की लीला देखता रहता है। उसके बाद—)

माधव—शेखर !

शेखर—(अभी सुना ही नहीं । एक पंक्ति लिख कर) स्वर्ण-कण प्रिय को रहा निहार ।

मा०—शेखर !

शे०—(चौंककर) कौन ? ओह ! माधव ! (उठ कर माधव की ओर बढ़ता है)

मा०—क्या कर रहे हो शेखर ?

शे०—यहाँ आओ माधव, यहाँ । (उसके कंधों को पकड़कर तख्त पर बिठाता हुआ) यहाँ बैठो । (स्वयं खड़ा है) माधव, तुमने भोर का तारा देखा है कभी ?

मा०—(मुस्कराते हुए) हाँ ! क्यों ?

शे०—(बड़ी गम्भीरतापूर्वक) कैसा अकेला-सा, एकटक देखता रहता है ? जानते हो ?""नहीं जानते ! (तख्त के दूसरे भाग पर बैठता हुआ) बात यह है कि एक बार रजनी बाला अपने प्रियतम प्रभात से मिलने चली, गहरे नीले कपड़े पहनकर जिसमें सोने के तारे टँके थे । ज्यों ही निकट पहुँची, त्यों ही लाज की आँधी आई और बेचारी रजनी को उड़ा ले चली । (रुककर) फिर क्या हुआ ?

मा०—(कुछ उद्योग के बाद) प्रभात अकेला रह गया ?

शे० - नहीं, उसने अपनी अँगुलियाँ पसार कर उसके नीले पट का छोर खींच लिया । जानते हो यह भोर का तारा है न ? उसी छोर में टँका हुआ सोने का कण है, एकटक प्रियतम प्रभात को निहार रहा है ।""""""""क्यों ?

मा०—बहुत ऊँची कल्पना है । लिख चुके क्या ?

शे०—अभी तो और लिखूँगा। बैठा ही था कि इतने में तुम आ गये—

मा०—(हँसते हुए) और तब तुम्हें ध्यान हुआ कि तुम धरती पर ही बैठे थे, आकाश में नहीं। (रुककर) मुझे कोस तो नहीं रहे हो शेखर ?

शे०—(भोलेपन से) क्यों ?

मा०—तुम्हारी परियों और तारों की दुनियाँ में मैं मनुष्यों की दुनियाँ लेकर आ गया।

शे०—(सच्चेपन से) कभी कभी तो मुझे तुममें भी कविता दीख पड़ती है।

मा०—मुझमें ?……(जोर से हँसकर) तुम अठखेलियाँ करना भी जानते हो ?……(गम्भीर होते हुए) शेखर, कविता तो कोमल हृदयों की चीज़ है। मुझ-जैसे काम-काजी राजनीतिज्ञों और सैनिकों के तो छूने भर से मुरझा जाएगी। हम लोगों के लिए तो दुनियाँ की और ही उलझनें बहुत हैं।

शे०—माधव, तुमने कभी यह भी सोचा है कि इन उलझनों से बाहर निकलने का मार्ग भी हो सकता है ?

मा०—और हम लोग करते ही क्या हैं ? रात-दिन मनुष्यों की उलझनें सुलझाने का ही तो उद्योग करते रहते हैं।

शे०—यही तो नहीं करते। तुम राजनीतिज्ञ और मन्त्री लोग बड़ी सन्जीदगी के साथ अमीरी, गरीबी, युद्ध और सन्धि की समस्याओं को हल करने का अभिनय करते हो, परन्तु मनुष्य को इन उलझनों के बाहर कभी नहीं लाते। कवि इसका प्रयत्न करते हैं, पर तुम उन्हें पागल……।

मा०—कवि ?....(अवहेलना पूर्वक) तुम उलझनों से बाहर निकलने का प्रयास नहीं करते, तुम उन्हें भूलने का प्रयास करते हो ? तुम सपना देखते हो कि जीवन सौन्दर्य है, हम जानते रहते हैं और देखते हैं कि जीवन कर्तव्य है।

शे०—(भावुकता से) मुझे तो सौंदर्य ही कर्तव्य जान पड़ता है। मुझे तो जहाँ सौंदर्य दीख पड़ता है, वहाँ कविता दीख पड़ती है, वहीं जीवन दीख पड़ता है। (स्वर बदलकर) माधव ! तुमने सम्राट् के भवन के पास राजपथ के किनारे उस अन्धी भीखमंगी को कभी देखा है ?

मा०—(मुस्कराहट रोकते हुए) हाँ।

शे०—मैं उसे सदा भीख देता हूँ। जानते हो क्यों ?

मा०—क्यों ! (कुछ सोचने के बाद) दया सज्जन का भूषण है।

शे०—दया ? हुँ ! (ठहरकर) मैं तो उसे इसलिए भीख देता हूँ क्योंकि मुझे उसमें एक कविता, एक लय, एक कला झलक पड़ती है। उसका गहरा झुर्रियांदार चेहरा, उसके काँपते हुए हाथ, उसकी आँखों के बेबस गड्ढे (एक तरफ़ एकटक देखते हुए, मानो इस मानसिक चित्र में खो गया हो) उसकी झुकी हुई कमर—माधव, मुझे तो ऐसा जान पड़ता है मानो किसी शिल्पी ने उसे इस ढाँचे में ढाला हो।

मा०—(इस भाषण से उसका अच्छा खासा मनोरंजन हो गया जान पड़ता है। खड़े होकर शेखर पर शरारत भरी आँखें गड़ाते हुए) शेखर, टाट में रेशम का पैवन्द क्यों लगाते हो ? ऐसी कविता तो तुम्हें किसी देवी की प्रशंसा में करनी चाहिए थी।

शे०—(सरल भाव से) किस देवी की ?

मा०—(अर्थपूर्ण स्वर में) यह तो उसके पुजारी से पूछो ।

शे०—मैं तो नहीं जानता किसी पुजारी को ।

मा०—अपने को आज तक किसी ने जाना है, शेखर ? (हँस पड़ता है । शेखर कुछ समझकर झेंपता-सा है)....पागल !....(गम्भीर होकर बैठते हुए) शेखर, सच बताओ, तुम छाया को प्यार करते हो ?

शे०—कितनी बार पूछोगे ?—(मन्द गहरे स्वर में)........

मा०—बहुत प्यार करते हो ?

शे०—माधव जीवन में मेरी दो ही तो साधनाएँ हैं (तख्त से उठकर खिड़की की ओर बढ़ता हुआ)—छाया का प्यार और कविता। (खिड़की के सहारे दर्शकों की ओर मुँह करके खड़ा हो जाता है)

मा०—और छाया ?

शे०—हम दोनों नदी के दो किनारे हैं, जो एक दूसरे की ओर मुड़ते हैं पर मिल नहीं पाते ।

मा०—(उठकर शेखर के कन्धे पर हाथ रखते हुए) सुनो शेखर, नदी सूख भी तो सकती है ।

शे०—नहीं माधव, उसके भाई देवदत्त से किसी तरह की आशा करना व्यर्थ है । मेरे लिए तो उनका हृदय सूखा हुआ है ।

मा०—क्यों ?

शे०—तुम पूछते हो क्यों ? तुम भी तो सम्राट् स्कन्दगुप्त के दरबारी हो । देवदत्त एक मन्त्री हैं । भला, एक मन्त्री की बहन का एक मामूली कवि से क्या सम्बन्ध ?

मा०—मामूली कवि ! शेखर तुम अपने को मामूली कवि समझते हो ?

शे०—और क्या समझूँ ? राजकवि ?

मा०—सुनो शेखर, तुम्हें एक ख़बर सुनाता हूँ।

शे०—ख़बर ?

मा०—हाँ, मैं कल रात को राजभवन गया था।

शे०—इसमें तो कोई नई बात नहीं। तुम्हारा तो काम ही यह है।

मा०—नहीं, कल एक उत्सव था। स्वयं सम्राट् ने कुछ लोगों को बुलाया था। गाने हुए, नाच हुए दावत हुई। एक युवती ने बहुत सुन्दर गीत सुनाया। सम्राट् तो उस गीत पर रीझ गये।

शे०—(उकताकर) आख़िर तुम यह सब मुझे क्यों सुना रहे हो, माधव ?

मा०—इसलिए कि सम्राट् ने उस गीत बनाने वाले का नाम पूछा। पता चला कि उसका नाम था शेखर !

शे०—(चौंककर) क्या ?

मा०—अभी सुनो तो सुनो। उस युवती ने सम्राट् से कहा कि अगर आपको यह गाना पसन्द है, तो इसके लिखने वाले कवि को अपने दरबार में बुलाइए। अब कल से वह कवि महाराजाधिराज सम्राट् स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के दरबार में जाएगा।

शे०—मैं ?

मा०—(अभिनय-सा करते हुए झुककर) श्रीमान्, क्या आप ही का नाम शेखर है ?

शे०—मैं जाऊँगा सम्राट् के दरबार में ? माधव, सपना तो नहीं देख रहे हो ?

मा०—सपने तो तुम देखा करते हो। लेकिन अभी मेरा समाचार पूरा कहाँ हुआ है ?

शे०—हाँ, वह युवती कौन है ?

मा०—अब यह भी बताना होगा ? तुम भी बुद्धू हो। क्या इसी बूते पर प्रेम करने चले थे ?

शे०—ओह ! छाया !.........(माधव का हाथ पकड़ते हुए)···· तुम कितने अच्छे हो !

मा०—और सुनो।····सम्राट् ने देवदत्त को आज्ञा दी है कि वह तक्षशिला जाकर वहाँ के क्षत्रप वीरभद्र को दबाएँ। आर्य देवदत्त के साथ में भी जाऊँगा, उनका मन्त्री बनकर। समझे ?

शे०—(स्वप्न-से में) तो क्या सच ही छाया ने कहा ? सच ही ?

मा०—शेखर, आठ दिन बाद आर्य देवदत्त और मैं तक्षशिला चल देंगे।····उसके बाद—उसके बाद छाया कहाँ रहेगी ? भला, बताओ तो ?

शे०—माधव !.........(माधव हंस पड़ता है) इतना भाग्य ? इतना··· विश्वास नहीं होता।

मा०—न करो विश्वास····! लेकिन भले मानस, छाया क्या इस कूड़े में रहेगी ? ये बिखरे हुए कागज़, टूटी चटाई, फटे हुए वस्त्र। शेखर, लापरवाही की भी सीमा होती है।

शे०—मैं कोई इन बातों की परवाह करता हूँ।

मा०—और फिर ?

शे०—मैं परवाह करता हूँ फूल की पंखुड़ियों पर जगमगाती हुई ओस की, (भावोद्रेक से) संध्या में सूर्य की किरणों को अपनी गोद

में सिमेटने वाले बादल के टुकड़ों की, सुबह को आकाश के कोने में टिमटिमाने वाले तारे की।

मा०—एक चीज़ रह गई।

शे०—क्या ?

मा०—जिसे तुम वृक्षों के नीचे दिन में फैली देखते हो। (उठ कर दूर खड़ा हो जाता है)।

शे०—वृक्षों के नीचे ?

मा०—जिसे तुम दर्पण में झलकती देखते हो।

शे०—दर्पण में ?

मा०—जिसे तुम अपने हृदय में हमेशा देखते हो। (निकट आ गया है।)

शे०—(समझकर, बच्चों की तरह) छाया !

मा०—(मुसकराते हुए) छाया !

(पर्दा गिरता है)

(२)

(उज्जयिनी में आर्य देवदत्त का भवन जिसमें अब शेखर और छाया रहते हैं। कमरा सजा हुआ और साफ़ है। दीवारों पर कुछ चित्र खिंचे हुए हैं। कोने में धूपदान भी हैं। सामने तख्त पर चटाई और लिखने-पढ़ने का सामान है। बराबर में एक छोटी चौकी पर कुछ ग्रन्थ रक्खे हुए हैं। दूसरी ओर एक पीढ़ा है, जिसके निकट मिट्टी की, किन्तु कला-पूर्ण, एक अंगठी रक्खी हुई है। दीवार के एक भाग पर एक अलँगनी है, जिस पर कुछ धोतियाँ टंगी हैं।

छाया, सौंदर्य की प्रतिमा, चांचल्य, उन्माद और गाम्भीर्य का जिसमें स्त्री-सुलभ सम्मिश्रण है, गृहस्वामिनी होने के नाते कमरे की सब वस्तुएँ ठीक ठीक स्थान पर सम्हाल कर रख रही है। साथ ही कुछ गुन-गुनाती भी जाती है। जाड़ा होने के कारण तापने के लिए उसने अँगीठी में अग्नि प्रज्वलित कर दी है। कुछ देर बाद पीढ़े पर बैठकर वह अँगीठी को ठीक करती है। उसकी पीठ द्वार की ओर है। अपने कार्य और गान में इतनी संलग्न है कि उसे बाहर की आवाज़ सुनाई नहीं देती।

गीत

प्यार की है क्या यह पहचान ?

चाँदनी का पाकर नव स्पर्श, चमक उठते पत्ते नादान;
पवन को परस सलिल की लहर, नृत्य में हो जाती लयमान;
सूर्य का सुन कोमल पदचाप, फूट उठता चिड़ियों का गान;
तुम्हारी तो प्रिय केवल याद, जगाती मेरे सोये प्राण।
प्यार की है क्या यह पहचान ?

(धीरे से शेखर का प्रवेश। कन्धे और कमर पर ऊनी दुशाला है, बगल में ग्रन्थ। गले में फूलों की माला है। द्वार पर चुपचाप खड़ा होकर मुस्कराते हुए छाया का गीत सुनता है।)

शे०—(थोड़ी देर बाद, धीरे से) छाया ! (छाया नहीं सुन पाती है। गाना जारी है। फिर कुछ समय बाद) छाया !!

छा०—(चौंककर खड़ी हो जाती है। मुख फेर कर) ओह !

शे०—(तख्त की ओर बढ़ता हुआ) छाया, तुम्हें एक कहानी मालूम है ?

छा०—(उत्सुकतापूर्वक) कौन सी ?

शे०—(छोटी चौकी पर पहले तो अपनी बगल का ग्रंथ रखता है, और फिर दुशाला रखते हुए) एक बहुत सुन्दर-सी।

छा०—सुनें, कैसी कहानी है ?

शे०—(बैठकर) एक राजा के यहाँ एक कवि रहता था, युवक और भावुक। राजभवन में सब लोग उसे प्यार करते थे। राजा तो उस पर निछावर था। रोज़ सुबह राजा उसके मुँह से नई कविता सुनता था, नई और सुन्दर कविता।

छा०—हूँ ? (पीढ़े पर बैठ जाती है, चिबुक को हथेली पर टेकती है)

शे०—परन्तु उसमें एक बुराई थी।

छा०—क्या ?

शे०—वह अपनी कविता केवल सुबह के समय सुनाता था। यदि राजा उससे पूछता कि तुम दोपहर या संध्या को अपनी कविता क्यों नहीं सुनाते, तो वह उत्तर देता—'मैं केवल रात के तीसरे पहर में कविता लिख सकता हूँ'।

छा०—राजा उससे रुष्ट नहीं हुआ ?

शे०—नहीं। उसने सोचा कि कवि के घर चलकर देखा जाय कि इसमें रहस्य क्या है ? रात का तीसरा पहर होते ही राजा वेश बदलकर कवि के घर के पास खिड़की के नीचे बैठ गया।

छा०—उसके बाद ?

शे०—उसके बाद राजा ने देखा कि कवि लेखनी लेकर तैयार बैठ गया। थोड़ी देर में कहीं से बहुत मधुर, बहुत सुरीला स्वर राजा के कान में पड़ा। राजा झूमने लगा और कवि की लेखनी आपसे आप चलने लगी है।

छा०—फिर

शे०—फिर क्या ? राजा महल को लौट आया और उसके बाद उसने कवि से कभी यह प्रश्न नहीं पूछा कि वह सुबह ही क्यों कविता सुनाता था। भला, बताओ तो क्यों नहीं पूछा ?

छा०—बताऊँ ?

शे०—हाँ !

छा०—राजा को यह मालूम हो गया कि उस गायिका के स्वर में ही कवि की कविता थी। और बताऊँ ? (खड़ी हो जाती है)

शे०—(मुस्कराते हुए) छाया, तुम—

छा०—(टोककर, शीघ्रता और चंचलता के साथ) वह गायिका और कोई नहीं, उस कवि की पत्नी थी। और बताऊँ ? उस कवि को कहानी सुनाने का बहुत शौक़ था, झूठी कहानी। और बताऊँ ? उस कवि के बाल लम्बे थे, कपड़े ढीले-ढाले, गले में उसके फूलों की माला थी, माथे पर—(इस बीच में शेखर की मुस्कराहट हलकी हँसी में परिणत हो गई है, यहाँ तक कि इन शब्दों तक पहुँचते पहुँचते दोनों ज़ोर से हँस पड़ते हैं।)

शे०—(थोड़ी देर बाद गम्भीर होते हुए) लेकिन छाया, तुम्हीं बताओ—तुम्हारे गान, तुम्हारी प्रेरणा, तुम्हारे प्रेम के बिना मेरी कविता क्या होती ? तुम तो मेरी कविता हो।

छा०—(बड़े गम्भीर, उलहना भरे स्वर में) प्रत्येक पुरुष के लिए स्त्री एक कविता है।

शे०—क्या मतलब तुम्हारा ?

छा०—कविता तुम्हारे सूने दिलों में संगीत भरती है। स्त्री भी तुम्हारे ऊबे हुए मन को बहलाती है। पुरुष जब जीवन की सूखी चट्टानों पर चढ़ता-चढ़ता थक जाता है, तब सोचता है—'चलो,

थोड़ा मन बहलाव ही कर लें।' स्त्री पर अपना सारा प्यार, अपने सारे अरमान निछावर कर देता है, मानों दुनियाँ में और कुछ हो ही न। और उसके बाद जब चाँदनी बीत जाती है, जब कविता नीरव हो जाती है, तब पुरुष को चट्टानें फिर बुलाती हैं, और वह ऐसे भागता है मानो पिंजरे से छूटा हुआ पंछी। और स्त्री ? स्त्री के लिए वही अँधेरा, फिर वही सूनापन।

शे०—(मन्द स्वर में) छाया, तुम मेरे साथ अन्याय कर रही हो।

छा०—क्या एक दिन तुम मुझे भी ऐसे छोड़कर न चले जाओगे ?

शे०—लेकिन छाया, मैं तुम्हें छोड़कर कहाँ जा सकता हूँ ?

छा०— उँहूँ। मैं नहीं मान सकती।

शे०—सुनो तो; मेरे लिए तो जीवन में ऐसी सूखी चट्टानें थोड़े ही हैं। मेरी कविता ही मेरी हरी-भरी वाटिका है। मैं उसे प्यार करता हूँ क्योंकि मुझे उसमें सौंदर्य दीखता है। मैं तुम्हें प्यार करता हूँ क्योंकि मुझे तुम्हारे हृदय में सौंदर्य दीखता है। जिस दिन मैं तुमसे दूर हो जाऊँगा, उस दिन मैं सौंदर्य से दूर हो जाऊँगा; अपनी कविता से दूर हो जाऊँगा। (कुछ रुककर) मेरी कविता मर जाएगी।

छा०—नहीं शेखर, मैं मर जाऊँगी किन्तु तुम्हारी कविता रहेगी; बहुत दिन रहेगी।

शे०—मेरी कविता ! (कुछ देर बाद)....छाया, आज मैं तुम्हें एक बड़ी विशेष बात बताने वाला हूँ, एक ऐसा भेद जो अब तक मैंने तुमसे भी छिपा रक्खा था !

छा०—रहने दो, तुम ऐसे भेद और ऐसी कहानियाँ सुनाया ही करते हो।

शे०—नहीं।......अच्छा, तनिक उस दुशाले को उठाओ। (छाया उठती है) उसके नीचे कुछ है। (छाया उस ग्रन्थ को हाथ में लेती है) उसे खोलो।......क्या है?

छा०—(आश्चर्यान्वित होकर) ओह! (ज्यों ज्यों छाया उसके पन्ने उलटती जाती है, शेखर की प्रसन्नता बढ़ती जाती है) 'भोर का तारा' उफ़्फोह! यह तुमने कब लिखा? मुझसे छिपकर?

शे०—(हँसते हुए। विजय का सा भाव) छाया, तुम्हें याद है उस दिन की, जब माधव के साथ तुम्हारे भाई देवदत्त से मिलने इसी भवन में आया था?

छा०—(शेखर की ओर थोड़ी देर देखकर) उस दिन को कैसे भूल सकती हूँ, शेखर? उस दिन तो भैया को तक्षशिला जाने की आज्ञा मिली थी, उस दिन तो हम और तुम....(रुक जाती है)

शे०—हाँ छाया, उसी दिन मैंने इस महाकाव्य को लिखना आरम्भ किया था। (गहरे स्वर में) आज वह समाप्त हो गया।

छा०—शेखर, यह हमारे प्रेम की अमर स्मृति है।

शे०—उसे यहाँ लाओ। (हाथ में लेकर, चाव से खोलता हुआ) 'भोर का तारा'। छाया यह काव्य बड़ी लगन का फल है। कल मैं इसे सम्राट् की सेवा में ले जाऊँगा। और फिर जब मैं उस सभा में इसे सुनाना आरम्भ करूँगा। उस समय सम्राट् गद्गद् हो जाएँगे, और मैं कवियों का सिरमौर हो जाऊँगा। छाया, बरसों बाद दुनियाँ पढ़ेगी, कविकुलशिरोमणि शेखर कृत 'भोर का तारा'—हा हा हा! (विभोर)

(छाया उसकी ओर एकटक देख रही है। सहसा उसके चेहरे पर चिन्ता की रेखा खिंच जाती है। शेखर हँस रहा है)

छा०—शेखर! (वह हँसे जा रहा है) शेखर! (हँसे जा रहा है) शेखर! (शेखर की दृष्टि उस पर पड़ती है)

शे०—(सहसा चुप होकर) क्यों छाया, क्या हुआ तुमको?

छा०—(चिन्तित स्वर में) शेखर! (चुप हो जाती है।)

शे०—कहो।

छा०—शेखर! तुम इसे सम्हाल कर रक्खोगे न?

शे०—बस, इतनी ही सी बात?

छा०—शेखर, मुझे डर लगता है कि····कि····कहीं यह नष्ट न हो जाय, कोई उसे चुरा न ले जाय, और फिर तुम—

शे०—हा हा हा! पगली, ऐसा क्यों होने लगा? सोचने से ही डर गईं! छाया, छाया, तुम्हारे लिए तो आज प्रसन्न होने का दिन है, बहुत प्रसन्न!····इधर देखो छाया, हम लोग कितने सुखी हैं? और तुम? जानती हो तुम कौन हो? तुम हो तक्षशिला के क्षत्रप देवदत्त की बहन और उज्जयिनी के सबसे बड़े कवि शेखर की पत्नी।····तक्षशिला का क्षत्रप और उज्जयिनी का कवि। हँ हँ हँ!···· क्यों छाया?

छा०—(मन्द स्वर में) तुम सच कहते हो, शेखर। हम लोग बहुत सुखी हैं।

शे०—(मग्नावस्था में) बहुत सुखी!

(सहसा बहार कोलाहल। घोड़े की टापों की आवाज़। शेखर और छाया छिटककर चैतन्य खड़े हो जाते हैं। शेखर द्वार की ओर बढ़ता है)

शे०—कौन है?

(सहसा माधव का प्रवेश। थकित और श्रमित, शस्त्रों से सुसज्जित। पसीने से नहा रहा है। चहरे पर भय और चिन्ता के चिह्न हैं।)

शेखर और छाया—माधव !

शे०—माधव, तुम यहाँ कहाँ ?

मा०—(दोनों पर दृष्टि फेंकता हुआ) शेखर, छाया, (फिर उस कमरे पर डरती-सी आँखें डालता है, मानो उस सुरम्य घोंसले को नष्ट करने से भय खाता हो। कुछ देर बाद बड़े प्रयत्न और कष्ट के साथ बोलता है) मैं तुम दोनों से भीख माँगने आया हूँ।

(छाया और शेखर के आश्चर्य का ठिकाना नहीं है)

छा०—भीख माँगने ?—तक्षशिला से ?

शे०—तक्षशिला से ? माधव, क्या बात है ?

मा०—(धीरे-धीरे मजबूती के साथ बोलना आरम्भ करता है, परन्तु ज्यों ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों त्यों स्वर में भावुकता आती जाती है) हाँ, मैं तक्षशिला से ही आ रहा हूँ। यहाँ तक कैसे आ पाया, यह मैं नहीं जानता। यात्रा के ये दिन कैसे बीते, यह भी नहीं जानता। हाँ यह जानता हूँ कि आज गुप्त-साम्राज्य संकट में है और हमें घर-घर भीख माँगनी पड़ेगी !

शे०—गुप्त-साम्राज्य संकट में है। क्या कह रहे हो माधव ?

मा०—(संजीदगी के साथ) शेखर पश्चिमोत्तर सीमा पर आग लग चुकी है। हूणों का सारदार तोरमाण भारतवर्ष पर चढ़ आया है।

छा०—(भयाक्रान्त होकर) तोरमाण ?

मा०—उसने सिन्धुनद को पार कर लिया है, उसने अम्भी राज्य को नष्ट कर दिया है; उसकी सेना तक्षशिला को पैरों तले रौंद रही है।

छा०—(सहसा माधव के निकट जाकर, भय से कातर हो भुजा पकड़ती हुई) तक्षशिला ?

मा०—(उसी स्वर में) सारा पंचनद आज उसके भय से रहा है। एक के बाद एक गाँव जल रहे हैं। हत्याएँ हो रह अत्याचार हो रहा है। शीघ्र ही सारा आर्यावर्त पीड़ितों के हा से गूँजने लगेगा। शेखर, छाया, मैं तुमसे माँगता हूँ, नई माँगता हूँ—सम्राट् स्कन्दगुप्त की, साम्राज्य की, देश की, इस में मदद करो। (बाहर भारी कोलाहल। शेखर और छाया जड़वत् खड़े हैं।) देखो बाहर जनता उमड़ रही है। शेखर, तुम्हारी वाणी में ओज है, तुम्हारे स्वर में प्रभाव। तुम अपने शब्दों के बल पर सोई हुई आत्माओं को जगा सकते हो, युवकों में जान फूँक सकते हो। (शेखर सुने जा रहा है। चेहरे पर भावों का आवेग। मस्तक पर हाथ रखता है।) आज साम्राज्य को सैनिकों की आवश्यकता है शेखर, अपनी ओजमय कविता के द्वारा तुम गाँव गाँव में जाकर वह आग फैला दो; जिससे हजारों और लाखों भुजाएँ अपने सम्राट् और अपने देश की रक्षा के लिए शस्त्र हाथ में ले लें। (कुछ रुक-कर शेखर के चेहरे की ओर देखता है। उसकी मुद्रा बदल रही है—जैसे कोई भीषण उद्योग कर रहा हो) कवि, देश तुमसे यह बलिदान माँगता है।

छा०—(अत्यन्त दर्द-भरे करुण स्वर में) माधव ! माधव !

मा०—(मुड़कर छाया की ओर कुछ देर देखता है। फिर थोड़ी देर बाद) छाया, उन्होंने कहा था—'मेरे प्राण क्या चीज हैं, इसमें तो सहस्रों मिट गये और सहस्रों को मिटना है।'

शे०—(मानों नींद से जगा हो) किसने ?

मा०—आर्य देवदत्त ने, अन्तिम समय !